अतः साक्षात्स्वयंज्योतिःस्वभावः परमेश्वरः ।
एक एव द्विजा नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ८२ ॥

अनात्मभूतं सकलं जडात्मकं मृषेति पश्यञ्श्रुतितश्च युक्तितः ।
क्रमेण शंभुं सततोदितं प्रभुं प्रयाति सत्यं परिभाषितं मया ॥ ८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽनित्यवस्तुविचारो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि नित्यं वस्तु समासतः ।
यज्ज्ञानेन शिवज्ञानं जायते सुदृढं द्विजाः ॥ १ ॥

ब्रह्मान्ता इति । स्तम्बप्रभृतिचतुर्मुखान्ता ये जीवास्तेऽपि भूतकार्यस्वस्वोपाधिविलयेन लीयन्त इति नाऽऽत्यन्तिको विलयस्तथा सत्यागामिनि कल्पे पुनरन्येषामुत्पत्तौ कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । अतो वासनाशेष[1] एव जीवोपाधिप्रलय इत्यभिप्रायः । **एक एवेति** । निरुपाधिकः परशिव एक एव परमार्थः । ब्रह्मविष्ण्वादिकः सर्वोऽपि सोपाधिकत्वान्मृषैवेत्यर्थः ॥ ८०–८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽनित्यवस्तुविचारो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

आत्मव्यतिरिक्तस्य भोक्तृभोग्यात्मकप्रपञ्चस्यानित्यत्वं प्रतिपाद्य संभवच्छङ्कानिरासेन नित्यत्वमात्मनः प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते—**अथात** इति । **यज्ज्ञानेनेति** । यस्य नित्यवस्तुनो ज्ञानाच्छिवज्ञानं जायते तदनन्यत्वाद्[2] इत्यर्थः ॥ १ ॥

अतः अपरोक्ष, विषय न हो सकने वाले ज्ञानस्वरूप, समस्त के अधिष्ठान परशिव ही एकमात्र नित्य हैं, उनसे अन्य सभी कुछ मिथ्या (अतः अनित्य) है । (यहाँ पंचमुखादि रूपविशिष्ट न समझ लिया जाये अतः सब विशेषण हैं ।) ॥ ८२ ॥

जो साधक श्रुति व युक्ति के आधार पर अनात्मरूप सारे जड-चेतन जगत् को मिथ्या समझ लेता है वह सनातन ज्ञानरूप शंभु को क्रमशः प्राप्त हो जाता है, यह निश्चित सत्य मैंने आप लोगों को बताया है ॥ ८३ ॥

नित्यवस्तु का विचार नामक उन्नीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले—अब मैं संक्षेप में नित्यवस्तु के विषय में बताता हूँ, जिसके ज्ञान से सुदृढ शिवज्ञान उत्पन्न होता है (वह आत्मतत्त्व ही एकमात्र नित्यवस्तु है । क्योंकि अन्य के ज्ञान से अन्य का ज्ञान असंभव है, इसलिये आत्मज्ञान से शिवज्ञान कहकर आत्मा और शिव का अत्यन्त अभेद कह दिया है ।

---

१ ज. "षजी" । २ शिवस्येति शेषः ।

य आत्मा केवलः शुद्धो निर्विकारो निरञ्जनः ।
स एव नित्यश्चिन्मात्रः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥ २ ॥
अनित्यता जडस्यैव न चिद्रूपस्य वस्तुनः ।
अनित्यता चितः कैश्चिन्न दृष्टा खलु सुव्रताः ॥ ३ ॥

किं तन्नित्यवस्तु ? तदाह– **य आत्मेति** । **निरञ्जनः** । अञ्जनं मायातत्कार्यजातम् । यतस्तद्रहितोऽतो **निर्विकारः** सर्वविक्रियारहितः । अत एव **शुद्धो** निर्मलः । **आत्मा** सर्वप्रत्यग्भूतः[1] । य एवंलक्षणः **स एव नित्यः** । एवंभूतस्य तस्य पारोक्ष्यं व्यावर्तयति–**साक्षीति** । यतः स आत्मा चिन्मात्रस्वरूपोऽतः सर्वदाऽतीतानागतादिसर्वेष्वपि कालेषु सर्वस्यापि साक्ष्यजातस्य साक्षी साक्षाद् द्रष्टा । उक्तरीत्याऽनित्यत्वं जडप्रपञ्चस्यैव न तु तत्साक्षिचैतन्यस्येत्यर्थः । ॥ २ ॥ कुत इत्यत आह– **अनित्यतेति** । **कैश्चिदपि** साक्षिचैतन्यस्यानित्यत्वं च न दृष्टं, तद्दर्शनसमयेऽपि तद्द्रष्टृत्वेन साक्षिणः सद्भावावश्यंभावादित्यर्थः । एतत्स्वयमेवाग्रे प्रतिपादयिष्यति ॥ ३ ॥

नित्यानित्यवस्तुविवेक में नित्यवस्तु एक आत्मा ही है बाकी सब अनित्य वस्तु हैं यही निश्चय विवक्षित है । पूर्वाध्याय से यह भ्रम हो सकता था कि जैसे अनात्मा अनित्य है वैसे है आत्मा भी अनित्य होगा । अनुभव भी होता है 'जन्म से पूर्व मैं नहीं था, मृत्यु के अनन्तर मैं नहीं रहूँगा' । एवं च विवेक असंभव है । कुछ नित्य हो तब उससे पृथक् कर अनित्य को जानना विवेक है । जब सभी अनित्य है तब विवेक किससे किसका ? और वैराग्यादि घोर आयास भी व्यर्थ है क्योंकि आत्मा भी अनित्य होने से खुद-ब-खुद नष्ट हो ही जायेगा तो मोक्ष के लिये कोशिश क्या करनी ? एवमादि शंकाओं के निवारणार्थ अनित्य अनात्मवस्तु का विस्तृत वर्णन कर अब नित्य आत्मवस्तु का वर्णन करते हैं ।) ॥ १ ॥

जो माया और उसके कार्य से अलिप्त, अपरिवर्तनीय, निर्मल, अद्वय प्रत्यक्तत्त्व है वह चेतन ही सदा सबका साक्षी है, वही नित्य है ॥ २ ॥ जड की ही अनित्यता है, चेतन रूप वस्तु की नहीं । किसी ने भी चेतन की अनित्यता का अनुभव नहीं किया है । ('मैं नहीं था, नहीं रहूँगा' इत्यादि ज्ञानों के सम्यक्त्व का विचार करें तो पता चलता है कि वे केवल स्थूल शरीर को मैं मानकर प्रवृत्त हुए हैं । मैं नहीं था यह स्मृति तो आत्मा के अभाव में असंभव है । सब स्मृतियाँ अनुभूत विषय की होती हैं । आत्मा था ही नहीं तो अनुभव किसे होता ? और अनुभव नहीं हुआ तो स्मृति कैसे होगी ? अतः यह स्मृति नहीं । पूर्वकाल अभी न होने से अपना तात्कालिक अभाव प्रत्यक्ष या अनुपलब्धिगम्य भी नहीं हो सकता क्योंकि विद्यमान का ही प्रत्यक्ष होता है । अनुमान के लिये आत्माभाव का सामानाधिकरण्य किसी लिंग के साथ ज्ञात होना पड़ेगा । यह ऐसा ही मिलेगा – जहाँ मैं नहीं होता वहाँ की वस्तुएँ मुझे ज्ञात नहीं होती, अतः तत्रत्य विषयों के ज्ञान के अभाव से आत्मा का अभाव समझ सकते हैं । यहाँ स्पष्ट ही 'मैं' शब्द कार्यकरणसंघात को कह रहा है । जहाँ मैं अर्थात् मेरा देहादि नहीं होता वहीं की बात है । देहादि तो अनित्य है ही । किं च ज्ञान के अभाव में भी विकल्प होता है–क्या ज्ञानसामान्य का अभाव

---

[1] ग. र्वप्राग्भू° ।

घटादिप्रत्ययस्यापि नानित्यत्वं विचारतः । चित्तवृत्तिनिमित्ता हि प्रतीतिः प्रत्ययस्य तु ॥ ४ ॥

प्रत्यये तु चिदाकारो वृत्त्याकारश्च सुव्रताः । विद्यते मोहमाहात्म्यादेकाकारावभासनम् ॥ ५ ॥

ननु मा भूत्साक्षिचैतन्यस्यानित्यत्वं, [1]तज्जातीयस्यायं घट इत्यादिविषयगोचरज्ञानस्यानित्यत्वं दृश्यत इत्याशङ्क्याऽऽह– **घटादीति** । **विचारतः** [2]परमार्थतो निरूपणे घटादिगोचरस्य विज्ञानस्यानित्यत्वं नास्त्येवेत्यर्थः । नन्वयं घट इत्यादिज्ञानोदयसमये तत्पूर्वभावि घटगोचरं ज्ञानं नानुवर्तते, कथं तस्य नित्यत्वमित्यत आह– **चित्तवृत्तीति** । चित्तं सत्त्वपरिणामरूपम्[3] अन्तःकरणं तस्यार्थेन्द्रियसंप्रयोगवशाद्या घटादिविषयाकारा वृत्तिस्तस्या[4] यदनित्यत्वं तदेव तदभिव्यक्ते चैतन्येऽपि प्रतीयते स्फटिके जपाकुसुमलौहित्यवन्न तु परमार्थत इत्यर्थः ॥ ४ ॥ भवेदेवं यद्ययं घट इत्यादौ[5] ज्ञाने स्फटिकजपाकुसुमादिवद् वृत्त्याकारश्चिदाकारश्चेति विविक्तमाकारद्वयमनुभूयेत, न तथाऽनुभूयत इत्यत आह–**प्रत्यय** इति । यद्यपि परमार्थतो विविक्तमेवाऽऽकारद्वयं तथाऽप्यविद्यावशादग्न्ययःपिण्डवदेकाकारमेवावभासत इति तत्रैकाकारो भ्रम इत्यर्थः ॥ ५ ॥

लिंग है या ज्ञानविशेष का ? ज्ञानसामान्य का अभाव अप्रामाणिक और ज्ञानविशेषका अभाव अतिप्रसंगी है । इससे अर्थापत्ति का भी प्रत्याख्यान हो गया । शब्द जो कोई भी हमें कहता है 'तुम नहीं थे' आदि वह शरीर को विषय कर ही रहा है । इसी रीति से दैशिकादि अभावों को समझना चाहिये । अतः अनित्य से तादात्म्य होने के कारण अनित्य के अभाव को ही हम नित्य आत्मा का अभाव मान लेते हैं । आत्मा के अभाव का सम्यग् ज्ञान किसी को नहीं होता ।) ॥ ३ ॥ परमार्थतः घटादि का ज्ञान भी अनित्य नहीं, उसके अनित्यत्व की प्रतीति वृत्ति की अनित्यता के कारण होती है । (ज्ञान का चित्तवृत्ति से तादात्म्य सम्बंध अनित्य है क्योंकि चित्तवृत्ति अनित्य है । इससे ज्ञान क्योंकर अनित्य होने लगा ? घट आदि के अनित्य होने से लगता भले रहे कि घटाकाश आदि अनित्य हैं पर वस्तुतः क्या आकाश अनित्य हो जायेगा ? चित्त स्वच्छ द्रव्य है क्योंकि महाभूतों के सत्त्वांश से निर्मित है । वह मूर्तवस्तु है । विषयों से उसका सम्पर्क होता है जिससे उसके एकदेश में कुछ परिवर्तन आ जाता है जिसका नाम वृत्ति है । आत्मा का चित्त से तादात्म्याध्यास है, अतः चेतोवृत्तियाँ भी अध्यास वाली होती हैं । अन्योन्याध्यास होने से आत्मा की ज्ञानरूपता चित्तवृत्ति में और चित्तवृत्ति की अनित्यता आत्मा में प्रतीत होती है । बिना चित्तादिवृत्ति से आत्मा विषयज्ञान कर सकता नहीं क्योंकि अज्ञानी है । अतः विषयज्ञान का वृत्ति से साहचर्य निश्चित होने से वृत्ति को ही ज्ञान समझना स्वाभाविक है । अन्य काम आदि चेतोवृत्तियाँ संस्कारोद्बोधवशात् चित्त में उठती हैं । 'मुझे यह चाहिये' यह अनुभव जिस आगन्तुक कारण से होता है उसका ही नाम कामवृत्ति है । ऐसे ही द्वेष आदि वृत्तियों का लक्षण समझना चाहिये । चित्तचेष्टा ही वृत्ति है । वह उत्पत्ति-नाश वाली है । अतएव हमें ज्ञान, काम आदि का जन्म-नाश अनुभव में आता है । न यह आत्मा की अनित्यता के कारण है और न चित्त की । आत्मा तो कामादि की उत्पत्ति के पूर्व भी है अतः 'अभी मुझे इच्छा नहीं' यह

---

१ घ. ङ. च. °तज्जन्यस्या° । २ ग. °परं । ३ घ. च. ज. °णामस्तस्या° । ४ ख. घ. ङ. च. ज °स्या एवानि° । ५ घ. च. ज. °दी ज° ।

भावांशः करणांशश्च विद्यते प्रत्ययेऽपि च ।
भावांशस्तु चिदाकारो वृत्त्यंशः करणांशकः ॥ ६ ॥
वृत्त्यंश एव नष्टस्तु जडत्वात्कुम्भवस्तुवत् ।
चिदंशो नैव नष्टः स्याददृष्टत्वात्तु केनचित् ॥ ७ ॥
अत्रापि ज्ञप्तिमात्रस्य विनाशो नैव दृश्यते ।
वृत्तिग्रस्तस्य भावस्य खलु नाशः प्रकाशते[1] ॥ ८ ॥

एतदेवाऽऽकारद्वयमुपपादयति– **भावांश** इति । प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः । 'एरच्' इति करणार्थेऽच्प्रत्ययः । एवं प्रत्ययशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययात्मकत्वात्तदर्थोऽपि प्रत्ययार्थ इति द्विधा भिन्न इत्यर्थः । तत्र यो **भावांशो** धात्वर्थभागः स चिदाकारः । यस्तु प्रत्ययार्थः स **करणांशः** सोऽनित्योऽचिद्वृत्त्याकार[2] इत्यर्थः ॥ ६ ॥ अस्त्वेवं प्रत्ययस्याऽऽकारद्वैविध्यम् । तत्र करणांशस्यानित्यत्वं न तु प्रतीतेरित्यत्र किं विनिगमनकारणमित्यत आह– **वृत्त्यंश** इति । अन्तःकरणपरिणामरूपो वृत्त्यंशो जडत्वाद् घटवदनित्यः । न तु चिदंशः । तन्नाशस्य केनापि द्रष्टुमशक्यत्वान्नाशसाक्षितयाऽपि चितोऽवगतेरित्यर्थः ॥ ७ ॥ नन्वयं घट इति ज्ञानं पटज्ञानसमये नास्ति यतस्तन्नाशोऽनुभूयत एवेत्यत आह– **अत्रापीति** । विषयाकारवृत्तिविशिष्टज्ञानस्यैव विशेषणभूतवृत्तिनाशान्नाशः प्रतीयते तथा[3] विशेषणभूतदण्डनाशे दण्डित्वनाशः । विशेष्यभूतज्ञप्तिमात्रस्य तु देवदत्तस्वरूपवन्नाशो नैव भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

अनुभव होता है । चित्त भी उक्त दोनों अवस्थाओं में है ही । अतः ज्ञान, काम आदि की अनित्यताका कारण वृत्ति ही संभव है । इस प्रकार विवेक करना चाहिये ।) ॥ ४ ॥ घटज्ञान आदि प्रतीतियों में दो हिस्से हैं– चित्तवृत्ति और आत्मरूप ज्ञान । अज्ञानवश हम उन्हें एक समझ लेते हैं ॥ ५ ॥ प्रत्ययशब्द प्रतीति और उसके साधन दोनों को कहता है (जैसे ज्ञानशब्द जानना और उसके साधन दोनों को कहता है) । (प्रति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् (अ.प.अ.) धातु से करणार्थक अच्प्रत्यय (३.३.५६) हो प्रत्यय शब्द बना है । सब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी हैं । एवं च 'प्रत्यय' शब्द का प्रकृति भाग धातु है । धात्वर्थ को क्रिया कहते हैं । व्याकरणशास्त्र में 'भाव' शब्द भी क्रिया का वाचक है । यहाँ क्रिया हिलना-डुलना आदि हो ऐसा नियम नहीं । जो कुछ भी धातु का अर्थ होगा उसे क्रिया या भाव कहेंगे । प्रत्यय का अर्थ है करण या साधन क्योंकि कर्तृभिन्न कारक अर्थ में प्रत्ययों का विधान प्रारम्भ कर (३.३.१९) इकारान्त धातुओं से अच् प्रत्यय बताया गया है । 'प्रत्यय' शब्द के अनुरूप ही) प्रत्यय–इस पदार्थ में भी भावांश (क्रियांश) और करणांश (साधनांश) हैं । भावांश चेतन आत्मा ही है और करणांश चित्तवृत्ति है ॥ ६ ॥ वृत्तिरूप अंश नाशवान् है क्योंकि घट आदि की तरह अनात्मा है । चेतन रूप प्रत्ययांश कभी नष्ट नहीं होता क्योंकि उसका नाश किसी के द्वारा अनुभूत नहीं है ॥ ७ ॥ व्यवहार में जो यह अनुभव होता है कि इस समय पटज्ञान हो रहा है, पहले वाला घटज्ञान नष्ट हो गया, उस अनुभव में भी भावांश ज्ञप्ति का नाश विषय नहीं होता । केवल वृत्तिविशिष्ट भाव का (ज्ञप्ति का) नाश उस प्रतीति का विषय है । यह तो

१ च. प्रवर्तते । ज. प्रतीयते । २ ग. घ. ज. °चिदाका° । ३ यथेति युक्तं पठितुम् ।

अतो नाशप्रतीतिस्तु भ्रमो भावांशकस्य तु ।
चित्तवृत्तावभिव्यक्तं चिदाकारं विमोहिताः ॥ ९ ॥
जातमित्यभिमन्यन्ते न विद्वांसः कदाचन ।
वृत्तिनाशेन वृत्तिस्थं चिदाकारं मुनीश्वराः ॥ १० ॥
अनभिव्यक्ततोऽज्ञानान्नष्टमेवेति मन्वते । अतश्चैतन्यमात्रस्य नास्त्यनित्यत्वमास्तिकाः ॥ ११ ॥

यस्मादेवं विचारतो धात्वर्थस्य प्रतीत्यंशस्य विनाशो नास्त्यतः कारणात्तत्र विनाशप्रतीतिर्नाशवद्वृत्तितादात्म्याध्यासादेवेत्यर्थः । नन्वात्ममनःसंयोगादसमवायिकारणादात्मनि समवायिकारणे ज्ञानं जन्यते तच्चाऽऽशुतरविनाशीति वैशेषिकादयः संगिरन्ते, तेषां किं मूलमित्याशङ्कयाऽऽह– **चित्तवृत्ताविति** । विषयसंप्रयोगानन्तरं तदाकारान्तःकरणवृत्तौ[1] जातायां तदभिव्यक्तं चैतन्यमप्यनाद्यविद्यापरिमोहिता जातमित्यभिमन्यन्ते न तु विशेषज्ञाः ॥ ९ ॥ १० ॥ एवं भ्रमवशादेव भावांशकरणांशयोर्विवेकापरिज्ञानात्करणांशवृत्तिनाशे तदवच्छिन्नचैतन्यस्यापि[2] तेषां नाशप्रतिभास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

विशेषणनाशप्रयुक्त है ही । जैसे घटाकाश नष्ट हो गया यह अनुभव आकाशनाश को विषय नहीं करता वैसे समझना चाहिये । ज्ञप्तिरूप भावांशनाश को विषय इसीलिये नहीं किया जा सकता कि उसका विषयी पुनः कोई प्रत्यय होगा जिसमें भावांश मौजूद है । किं च वृत्ति से असंबद्ध केवल भावांश कभी विषय नहीं होता अतः उसका अभाव भी विषय नहीं हो सकता । योग्य प्रतियोगी का अभाव ही ज्ञात होता है ।) अतः यह मानना कि भावांश (ज्ञप्ति) भी नष्ट हो जाता है केवल भ्रम है ॥ ८½ ॥ इसी तरह चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त चेतन को मोहवश लोग उत्पन्न हुआ समझ लेते हैं । वृत्तिनाश से उसी अभिव्यक्त चेतन की अनभिव्यक्ति हो जाने पर वह नष्ट हो गया यों समझ लेते हैं । जानकार तो कभी ऐसा नहीं समझते क्योंकि उन्हें दोनों का भेद स्फुट रहता है । (अभिव्यक्त का अर्थ है अविविक्त– अन्योन्याध्यस्त । अभिव्यंजक-निवृत्ति से वह अविविक्तता ध्वस्त हो जाती है, बाधित नहीं । दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है व दर्पणनाश से नष्ट हो जाता है । जिसे बिम्ब का पता नहीं वह प्रतिबिंब को वास्तविक तथा उत्पत्ति-नाशशील समझता है । जानकार को तो स्पष्ट भान रहता है कि दर्पण-संनिधि में मुख ही प्रतिबिम्बरूप से कल्पित था । दर्पण न रहने से कल्पना नष्ट हो गयी । मुख में कोई अंतर नहीं आया । ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ।) अतः हे आस्तिको ! चिन्मात्र आत्मतत्त्व का कभी नाश नहीं होता ॥ ९–११ ॥

ज्ञान और अज्ञान के विषयभूत पदार्थों का जो साक्षी है वह स्वयं ही भासता है, उसका भान किसी के अधीन नहीं । वह चेतनस्वभाव वाला साक्षी आत्मा है, अन्य कोई नहीं ॥ १२ ॥ विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसका न जन्म है, न विनाश । उसका जन्म मानें तो उस जन्म का कोई साक्षी

---

१ ख. ग. °वृत्त्यभिव्यक्तौ चैतन्यावभासादवि° । २ घ. ङ. °स्यानवभा° ।

ज्ञाताज्ञातार्थजातस्य यः साक्षी भासते स्वयम् ।
स एव साक्षाच्चिन्मात्रस्वभावात्मा न चापरः ॥ १२ ॥
तस्य जन्मविनाशौ तु न विद्येते विचारतः ।
जन्मकाले तु साक्षित्वाज्जन्मनो जनिरस्य न ॥ १३ ॥
विनाशे[1] साक्षिणो नाशस्तथा नैव भविष्यति ।
सत्ताकाले तु सत्त्वाच्च विनाशः सुतरां न हि ॥ १४ ॥
जन्मनाशप्रतीतिस्तु नान्तरेणैव साक्षिणम् ।
जन्मनाशौ मुनिश्रेष्ठाः स्वत एव न सिध्यतः ॥ १५ ॥
दृश्यत्वेन जडत्वाच्च घटकुड्यादिवस्तुवत् ।
साक्षिणो जन्मनाशौ तु न चान्येनैव सिध्यतः ॥ १६ ॥
साक्षिरूपेण चान्येन जन्मनाशौ न सिध्यतः ।
अभावादेव चान्यस्य साक्षिरूपस्य सुव्रताः ॥ १७ ॥

यद्येवमयं घट इत्यादिप्रत्ययेषु चिन्मात्रस्य नाशो नास्ति तर्हि तेनैवाऽऽत्मनोऽद्वितीयत्वं विहन्यत इत्यत आह– **ज्ञाताज्ञातेति** । **ज्ञातं** ज्ञानेन विषयीकृतम् । **अज्ञातम**ज्ञानक्रोडीकृतम् । तदुभयविधस्या**र्थजातस्य यः साक्षी** । 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया या साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे'त्युक्तत्वात् । **स एव साक्षाच्चिन्मात्रस्वभावात्मा** घटपटाद्याकारवृत्तिविशेषेषु यदनुवृत्तं नित्यं निर्विशेषं चैतन्यं तच्च साक्षिस्वरूपं न ततोऽतिरिक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥ अथ साक्षिचैतन्यस्यापि जन्मनाशौ न स्त इति प्रतिपादयितुमुपक्रमते– **तस्य जन्मे**त्यादिना । साक्षिचैतन्यस्य जन्मसमये स्वजन्मनो भासकत्वेनावस्थानाभावे तदप्रतीतमेव स्यात् । प्रतीयते यस्मात्तदा तत्साक्षिसद्भावोऽङ्गीकर्तव्यः । तथा चास्याजनिरनुत्पत्तिरेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं विनाशसमयेऽपि तत्प्रकाशनाय साक्षित्वेनावस्थाननियमान्नाशोऽप्यस्य नास्तीत्यर्थः । प्रतीतिसमये तु विद्यमानत्वादेवास्य न नाश इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु जन्मनाशसमये साक्ष्यवस्थानाभावेऽपि तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येनैव स्फुरणं संभाव्यत इत्यत आह–**जन्मनाशे**ति । तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव साक्षीति जन्मनाशौ[2] साक्षिणैव भास्येते[3] इत्यर्थः । साक्षिणमन्तरेण प्रकाशमानौ जन्मनाशौ किं स्वप्रकाशत्वेन भासेते किंवाऽन्येन ? तदाऽपि किं जडरूपेण, साक्षिरूपेणेति ? विकल्पाऽऽद्यं दूषयति–**जन्मनाशा**विति । साक्षिणमन्तरेण **न सिध्यतः** । घटादिवद् दृश्यत्वेन जडत्वनिर्धारणात् । नापि द्वितीये प्रथम इत्याह–**जडरूपेणे**ति । न हि जडौ जन्मनाशौ जडेनान्येन प्रकाश्येते इति वक्तुं युक्तम् । जडत्वाविशेषात् । नापि द्वितीय इत्याह–**साक्षिरूपेणे**ति । एतत्साक्षिव्यतिरिक्तस्य साक्षिणोऽभावादित्यर्थः ॥ १५–१७ ॥

मानना ही होगा । असाक्षिक जन्म निष्प्रमाण हो असिद्ध ही हो जायेगा । वह दूसरा साक्षी पुनः जन्मवाला मानें तो अनवस्था है । किञ्च आत्मोत्पत्ति का साक्षी अप्रसिद्ध है । अतः साक्षी का जन्म माना नहीं जा सकता ॥ १३ ॥ इसी तरह साक्षी का विनाश भी निःसाक्षिक अस्वीकार्य होने से व ससाक्षिक साक्षिनाश वदतोव्याघात होने से साक्षी का नाश भी असंभव है ॥ १४ ॥ जन्म-नाश की प्रतीति साक्षी के विना स्वयं तो हो सकती नहीं । जैसे घटादि जड दृश्य है तो स्वतःसिद्ध नहीं, वैसे जन्म-नाश भी जड व दृश्य होने से स्वतःसिद्ध नहीं । कोई उनसे भिन्न हो तभी उसके विषय हुए वे सिद्ध हो सकते हैं । भिन्न यदि जड हो तब भी इनका साधक नहीं हो सकता । जो स्वयं सिद्ध नहीं वह भला अन्य को क्या सिद्ध करेगा ? कोई दूसरा चेतन है नहीं जो चेतन के जन्मनाश का साक्षी बने । साक्षी एक ही है वही आत्मा

---

१ ख. ग. घ. च. छ. ज. °नाशसा° । २ ग. घ. च. छ. °नाशगणः सा° । ३ ग. घ. च. छ. °भास्यत इ° ।

साक्ष्याकारेण चैकत्वात्साक्षिभेदो न सिध्यति ॥ १८ ॥

साक्ष्यरूपेण भेदस्तु साक्ष्यस्यैव न साक्षिणः ।

साक्षिमात्रतया भेदाभावेऽप्यस्यैव साक्षिणः ॥ १९ ॥

विशेषाकारतो भेदं वदन्ति भुवि केचन ।

ते महामोहसर्पेण दष्टा एव न संशयः ॥ २० ॥

विशेषरूपं चिद्रूपं जडरूपं तु[1] वा भवेत् ।

न रूपान्तरमेव स्यात्तादृशस्यानिरूपणात् ॥ २१ ॥

चिद्रूपं साक्षिमात्रं स्यान्न चान्यत्परमार्थतः ।

जडरूपं च नास्त्येव साक्षिणः परमार्थतः ॥ २२ ॥

चिद्रूपस्य जडाकारो विरोधान्नैव सिध्यति ।

प्रकाशस्य तमोरूपं यथा लोके न सिध्यति ॥ २३ ॥

ननु घटसाक्षी पटसाक्षीति साक्षिभेदोऽनुभूयत एवेत्यत आह– **साक्ष्याकारेणेति** । साक्षित्वाकारेण सर्वत्रैक्यावगतेर्न तद्भेदशङ्कावकाश इत्यर्थः । ननु मा भूत्साक्षित्वाकारेण भेदः साक्ष्यरूपेण तद्भेदः किं न स्यादित्यत आह– **साक्ष्यरूपेणेति** । घटपटादिसाक्ष्यप्रयुक्तो भेदस्तु साक्ष्याणामेव न तु तत्साक्षिण इत्यर्थः । **विशेषाकारत** इति । घटपटाद्याकारास्ते ज्ञानगता एवेति वदन्तो विज्ञानवादिनस्तत्तदाकारवशेनाऽऽत्मस्वरूपभूतस्यापि विज्ञानस्य नानात्वमिच्छन्तीत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति– **ते महामोहेति** ॥ १८–२० ॥ किं तत्साक्षिणो विशेषरूपं चिदात्मकं, जडं वेति विकल्पयति– **विशेषरूपमिति** । आद्यं निरस्यति– **चिद्रूपमिति** । यदि विशेषरूपमपि चिदात्मकं स्यात्तदा साक्षिचैतन्यान्न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह– **जडरूपमिति** । साक्षिणो जडाकारो विशेषरूपोऽपि न युज्यते । तमःप्रकाशयोरिव चिज्जडयोरेकत्वविरोधादित्यर्थः ॥ २१–२३ ॥

है ॥ १५–१७ ॥ साक्षी का आकार एक ही रहता है, साक्ष्य में चाहे जितना परिवर्तन आता रहे । अतः साक्षी में कोई भेद नहीं । सारा भेद साक्ष्य में ही है । जैसे प्रकाश्यनानात्व से प्रकाशक सूर्य में नानात्व नहीं वैसे देहादि साक्ष्यों के भेद से साक्षी में भेद नहीं ॥ १८½ ॥ यद्यपि केवल साक्षिरूप से किसी भेद का निरूपण नहीं हो पाता तथापि कुछ लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि साक्षी ही साक्ष्यरूपों से भी स्थित होने से उस रूप से विभिन्न है । किंतु इसमें संशय नहीं कि उन्हें महामोहनामक साँप ने डँसा है जिससे उन्हें अज्ञानरूप जहर चढ़ गया है और वे ऐसी अनर्गल बात बोलते हैं ॥ २० ॥ उनकी मान्यता असंगत इसलिये है कि वे जिस विशेषाकार से (साक्ष्यरूप से) साक्षी का भेद बताते हैं यह विशेषाकार चेतनात्मक है या जडात्मक ? इससे भिन्न तो कोई रूप हो नहीं सकता ॥ २१ ॥ यदि कहो चेतनात्मक है तब तो साक्षी ही हुआ, आकार में विशेषता क्या हुई ? विना किसी भेद का उल्लेख किये चेतन का

---

१ घ. तु भावयेत् ।

अतो विशेषाकारेण भेदं ये सर्वसाक्षिणः ।
वदन्ति ते महाभ्रान्ता निमग्नाश्च भवार्णवे ॥ २४ ॥
आत्मनः सर्वसाक्षित्वमेकत्वं च तथैव च ।
नित्यत्वं चैव शुद्धत्वं भूमानन्दत्वमेव च ।
ब्रह्मत्वं च द्विजा वेदा वदन्ति श्रद्धया सह ॥ २५ ॥
स्मृतयश्च पुराणानि भारतादीनि चाऽऽस्तिकाः ॥ २६ ॥
महादेवश्च विष्णुश्च ब्रह्मा च मुनयस्तथा ।
नित्यत्वं शुद्धबुद्धत्वमात्मनः प्रवदन्ति हि ॥ २७ ॥

अतो विशेषाकारेण साक्षिभेदवर्णनं भ्रान्तप्रलपितमित्युपसंहरति– अत इति ॥ २४ ॥ यथोदीरितसाक्षिसद्भावे श्रुतिं संवादयति– **वेदा वदन्तीत्यादिना** । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यात्मनः **सर्वसाक्षित्वम्** । तत्र हि साक्ष्यविशेषस्यानुपादानात्सर्वसाक्ष्यप्रतियोगित्वं साक्षिणोऽवगम्यते । 'एकमेवाद्वितीयम्' 'एको देवः सर्वभूतेषु[1] गूढः' इत्येकत्वम् । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति **नित्यत्वम्** । 'आसाविर"् शुद्धमपापविद्धम्' इति **शुद्धत्वम्** । 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति भूमात्मकत्वम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यानन्दब्रह्मात्मकत्वं[2] च श्रुतयः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ न केवलं श्रुतय एव तदर्थानुसारिस्मृतिपुराणेतिहासादयोऽपि साक्षिण उक्तरूपं प्रतिपादयन्तीत्याह–**स्मृतयश्चेति** ॥ २६–२८ ॥

चेतन से भेद बताने पर तो बच्चे भी हँसेंगे । यदि कहो जडात्मक है, तब तो असंभव ही है । चिद्रूप साक्षी का विशेषाकार (आकारविशेष) जड है–यह सर्वथा असंगत है । जैसे प्रकाश का विशेषाकार अंधकार नहीं हो सकता वैसे ही चेतन का विशेषाकार जड नहीं हो सकता ॥ २२–२३ ॥ अतः जो कह देते हैं कि साक्ष्य रूप से भी साक्षी स्थित है वे परम भ्रांत है तथा संसारसमुद्र में डूबने वाले हैं । (याद रखना चाहिये कि ये वादी साक्षी वस्तुतः साक्ष्याकार भी है ऐसा मानते हैं । यदि यों मानते कि भ्रम से साक्ष्य रूप से दीखता है तब तो सिद्धान्त के अनुयायी हो जाते ।) ॥ २४ ॥

आत्मा ही सर्वसाक्षी है, एक है, नित्य है, शुद्ध है, व्यापक आनंदरूप है, अद्वितीय ब्रह्मरूप है–ऐसा केवल वेद ही तात्पर्यतः प्रतिपादित करते हैं ॥ २५ ॥ स्मृतियाँ, पुराण तथा महाभारत आदि सद्ग्रन्थ भी यही कहते हैं ॥ २६ ॥ महादेव, विष्णु, ब्रह्मा तथा सब मुनि आत्मा की नित्यता, शुद्धता, ज्ञानरूपता व मुक्तता की घोषणा किया करते हैं ॥ २७ ॥

अतः हे ब्राह्मणोत्तमो ! मैं जीभ पर तपा फरसा रखकर निःसंशय कहता हूँ– आत्मा ही नित्य वस्तु है, अन्य कोई नहीं । (जीभ पर तपा फरसा रखना अपनी बात के सत्यापनार्थ है । मिथ्याभाषी यदि ऐसा करे तो उसकी जीभ जल जाये । सत्यभाषी यों करता है तो उसकी हानि नहीं होती । प्राचीन

---

१ घ. सर्वदेहेषु । २ घ. ङ. च. °नन्दं ब्र° ।

तस्मादात्मैव विप्रेन्द्रा नित्यं वस्तु न चापरम् ।

जिह्वायां परशुं तप्तं धारयामि न संशयः ॥ २८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे नित्यवस्तुविचारो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि विशिष्टं धर्ममादरात् ।

शृणुतात्यन्तकल्याणं मुनयः परया मुदा ॥ १ ॥

पुरा वेदविदां मुख्याः कावषेया महर्षयः । सत्रावसाने संभूय श्रद्धया परया सह ॥ २ ॥

विचार्य सुचिरं कालं विशिष्टं धर्ममास्तिकाः ।

पुनः संशयमापन्ना विषण्णा विवशाश्च ते ॥ ३ ॥

गत्वा हिमवतः पार्श्वं त्रिकालस्नानसंयुताः ।

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः ॥ ४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकाख्यटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे नित्यवस्तुविचारो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

यस्मादुक्तरीत्याऽऽत्मस्वरूपमेव नित्यमतस्तद्गोचरं वेदान्तवाक्यमेव मुख्यं प्रमाणं तज्जनितं परशिवात्मविषयं ज्ञानमेव परमो धर्म इति प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते–**अथात** इति ॥ १–२ ॥

काल में मंत्रादि के द्वारा ऐसी सामर्थ्य होती थी कि सत्यवादी को तपा लोहा जला नहीं पाता था । अथवा यों समझना चाहिये कि यदि तपा लोहा भी मेरी जीभ पर रखो तो भी मैं अपना बयान बदलूँगा नहीं क्योंकि मुझे इसके सत्यत्व का अपरोक्ष निश्चय है ।) ॥ २८ ॥

विशिष्ट धर्म का विचार नामक बीसवा अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं श्रद्धापूर्वक ज्ञान नामक विशिष्ट धर्म के विषय में बताता हूँ । परम प्रसन्नता से आप सुनें क्योंकि यह अत्यन्त कल्याण देने वाला धर्म है ॥ १ ॥

प्राचीन काल में कावषे नामक उत्तम वेदवेत्ता महर्षियों ने सत्र की समाप्ति पर एकत्र हो विशिष्ट धर्म के विषय में भक्तिपूर्वक विचार किया, किन्तु वे निर्णीत न कर पाये कि सबसे विशिष्ट धर्म कौन-सा है ॥ २–३ ॥ वे हिमालय के निकट गये और तीन साल तक तपस्या करते रहे । प्रतिदिन तीन बार स्नान करते थे, सारी देह पर भस्म का उद्धूलन करते थे और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र लगाते थे । जटायें रखी थीं । रुद्राक्ष और वल्कल (वृक्षों की छाल का आवरण) धारण करते थे । निःसीम तेजस्वी शंभु

रुद्राक्षमालाभरणा जटावल्कलसंयुताः । लिङ्गार्चनपरा नित्यं शंभोरमिततेजसः ॥ ५ ॥

तप्तवन्तस्तपः सर्वे वत्सराणां त्रयं महत् । महादेवप्रसादेन महाकारुणिकोत्तमः ॥ ६ ॥

शक्तिपाणिर्महातेजा द्वितीय इव शंकरः । स्कन्दः सर्वजगत्स्वामी प्रत्यक्षमभवत्स्वयम् ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे प्रसन्नेन्द्रियमानसाः ।
भक्त्या परमया युक्ता विवशा गद्गदस्वराः ॥ ८ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थायोत्थाय सादरम् । स्तोत्रैः स्तुत्वा महात्मानं समभ्यर्च्य यथाबलम् ॥ ९ ॥

कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पप्रच्छुर्धर्ममुत्तमम् । सोऽपि सर्वजगत्स्वामी तारकारिर्महाद्युतिः ॥ १० ॥

सर्वविज्ञानरत्नानामाकरः करुणाकरः । सुप्रसन्नः स्वयं प्राह मुनीनां धर्ममुत्तमम् ॥ ११ ॥

स्कन्द उवाच— शृणुध्वं मुनयः सर्वे महाभाग्यसमन्विताः ।
वदामि संग्रहेणाहं युष्माकं धर्ममुत्तमम् ॥ १२ ॥

पुनः संशयमापन्ना इति । ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैर्यागहोमादिभिः प्रक्षीणकल्मषाः कावषेयाः पुनः प्रतिबन्धकदुरितलेशावशेषेण[१] नानाविधैरागमैर्बहुधोच्यमानं तत्त्वमिदमीदृगिति विचार्य निश्चेतुमशक्ताः सन्तः संशयाविष्टा

के लिंग की नित्य अर्चना करते थे ॥ ४–५½ ॥ महादेव की कृपा से दूसरे शिव की तरह, परम करुणावान्, सारे जगत् के मालिक, शक्ति नामक आयुध हाथ में लिये हुए स्कन्द उन महर्षियों के सामने प्रकट हुए ॥ ६–७ ॥ उन्हें देख कावषेय मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए । सबने गद्गद हो उनका स्वागत किया, प्रणाम किया, पूजन किया और नाना स्तोत्रों से उनकी स्तुति की ॥ ८–९ ॥ तदनन्तर अंजलि बाँधकर उनसे पूछा 'सर्वोत्तम धर्म क्या है ?' सब विद्याओं की निधिरूप उन तारकासुर के हन्ता करुणालय कुमार स्कन्द ने प्रसन्नतापूर्वक यह उत्तर दिया : ॥ १०–११ ॥

स्कन्द बोले–हे महाभाग्यशाली मुनियो ! मैं संक्षेप में सर्वोत्तम धर्म के विषय में बताता हूँ, आप सब सुनें ॥ १२ ॥

बिना किसी शास्त्र के आधार पर केवल अपनी बुद्धि से कल्पित कर जो तप किया जाता है उसे निर्मूल धर्म कहते हैं, किन्तु श्रद्धा से किया जाये तो वह भी धर्म तो है ही, हाँ निकृष्ट व अत्यल्पफलक

---

१ ग. घ. च. छ. ज °लेपाव° ।

स्वमनीषिकयोत्पन्नो निर्मूलो धर्मसंज्ञितः ।

श्रद्धया सहितो यस्तु सोऽपि धर्म उदाहृतः ॥ १३ ॥

निर्मूलोऽपि स्वबुद्धयैव कल्पितोऽपि महर्षयः ।

देवताराधनाकारो धर्मः पूर्वोदिताद्वरः ॥ १४ ॥

देवताराधनाकारान्निर्मूलाद् बुद्धिकल्पितात् ।

धर्माच्छ्रेष्ठः समाख्यातः समूलो धर्म आस्तिकाः ॥ १५ ॥

समूलेषु च धर्मेषु बुद्धागमसमन्वितः । धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो मया वेदार्थपारगाः ॥ १६ ॥

एवाभयन्नित्यर्थः ॥ ३–१२ ॥ वेदान्तवाक्यजनितस्य च ज्ञानस्य परमधर्मत्वं सत्स्वेवापरधर्मेषु[1] इत्यभिप्रेत्य तानुत्तरोत्तरमुत्कृष्टत्वेन प्रतिपादयति–**स्वमनीषिकये**त्यादिना । शास्त्रादनवगम्यैव बुद्ध्युत्प्रेक्षामात्रेण यत्तपः क्रियते स धर्मो भवति । **निर्मूलो** मूलागमरहितः ॥ १३ ॥ पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनो धर्मो देवताराधनरूपश्चेत्तदा पूर्वोक्ताद्धर्माद्देवताराधनविलक्षणाच्छ्रेष्ठः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ १४ ॥ **समूल** इति । मूलसहित[2] इत्यर्थः ॥ १५ ॥ **बुद्धागमे**ति । बुद्धप्रोक्ता आगमा बुद्धागमाः ॥ १६ ॥

है, यह बात दूसरी है ॥ १३ ॥ ऐसा निर्मूल व निज कल्पनामात्र पर आधारित भी धर्म यदि देवता की आराधना रूप हो तो पूर्वोक्त निर्मूल तप से श्रेष्ठ है । (उदाहरणार्थ, शास्त्रादि विधि का पता लगाये बिना खुद ही या अपनी ही तरह के किसी शास्त्र-अनभिज्ञ से सुनकर किसी विशिष्ट दिन किसी विशिष्ट तरह का व्रत रखना– यह प्रथम प्रकार का धर्म है । देवपूजा का विधान जाने बिना अपनी इच्छा आदि से मनमाने क्रम आदि से चाहे जो उपचार चाहे जिस मंत्रादि का उच्चारण कर यथेच्छ मौके पर चढ़ाना द्वितीय प्रकार का धर्म है ।) ॥ १४ ॥ निर्मूल देवताराधन रूप धर्म से समूल धर्म श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ समूल धर्मों में बुद्धप्रोक्त आगमों में प्रतिपादित धर्म श्रेष्ठ है (इससे अर्थ निकलता है कि अन्य नास्तिक मत–मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि–भी धर्मरूप से स्वीकार्य हैं । वे निर्मूल से बेहतर किंतु बौद्धधर्म से बदतर हैं । यह समन्वय दृष्टि वेदान्तसंप्रदाय की है । किसी तरह अदृष्ट न मानने से उसे मानना अच्छा । मनमाने ढंग की अपेक्षा किसी निश्चित मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलना अच्छा । जो किसी पंथ को मानता है वह संभवतः कभी किसी बेहतर पंथ को भी मान लेगा । जो किसी को नहीं मानता वह तो सर्वथा हेय है । इसी दृष्टि से कहा करते हैं कि वेदान्त हिंदू को बेहतर हिंदू, मुसलमान को बेहतर मुसलमान, ईसाई को बेहतर ईसाई आदि बना सकता है । धर्म-परिवर्तन वेदान्त को स्वरस प्रतीत नहीं होता । जहाँ भगवदिच्छा से जन्म मिला है वहीं अपना अधिकार है । अन्यथा परमेश्वर वहाँ जन्म ही क्यों देते ? जैसे सिंह योनि वाले का मृगादि-भक्षण में अधिकार है । यदि उसे घास आदि खाना उचित होता तो शिव

---

१ ग. घ. च °रमध° । २ घ मूलभूत ।

बुद्धागमोदिताद्धर्मादर्हागमसमीरितः । धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मतत्त्वविशारदैः ॥ १७ ॥

अर्हागमोदिताद्धर्मात्प्राजापत्यागमोदितः । धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तः सर्वधर्मार्थवेदिभिः ॥ १८ ॥

प्राजापत्यागमप्रोक्ताद्धर्माद्वेदविदां वराः ।

मया श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मो विष्ण्वागमोदितः ॥ १९ ॥

विष्ण्वागमोदिताद्धर्मादशेषादास्तिकोत्तमाः ।

शैवागमोदितो धर्मो वरिष्ठो नैव संशयः ।

शैवागमोदितो धर्मो द्विधा पूर्वमुदीरितः ॥ २० ॥

अर्हागमेति । क्षपणकागम इत्यर्थः ॥ १७ ॥ प्राजापत्यागमेति । ब्रह्मणा प्रोक्तो ब्रह्मविषयो वाऽऽगमः । विष्ण्वागमशैवागम-

ने उसे हाथी आदि योनि दी होती । सर्वज्ञ महेश्वर ने जिसको जिस योग्य समझा उसे वैसी योनि दी । अपनी स्थिति के अनुसार हम समुचित कर्मादि करें यही हमारा कर्तव्य है । उसे बदलने का प्रयास शेर को बकरी या मच्छर को गेंडा बनाने जैसा है । जो मुसलमान आदि पैदा हुआ है वह भी ईश्वरेच्छा से ही हुआ है अतः भगवान् उसे मुसलमान बनाना चाहते हैं । उसका यही कर्तव्य है कि वह अच्छे से अच्छा मुसलमान बने । ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिये । सामाजिक संगठनों की दृष्टि से यह सिद्धान्त अस्वीकार्य हो तो हुआ करे । प्रकृत पुराण की दृष्टि से तो यही उचित प्रतीत होता है ।) ॥ १६ ॥ बौद्ध धर्म से क्षपणकों के (जैनों के) आगमों में प्रोक्त धर्म श्रेष्ठ है । (भक्ष्याभक्ष्य का विचार, दान, तप आदि आचारों की दृष्टि से जैनों की श्रेष्ठता है । दार्शनिक भूमि में स्याद्वाद लगभग अनिर्वचनीयवाद का निकटवर्ती है ही । यद्यपि बौद्धदर्शन मिथ्यात्व स्वीकारक है तथापि सत्य को या क्षणिक या शून्य स्वीकारता है जबकि जैन आत्मा को सत्य और स्थायी मानते हैं । मुक्तावस्था में आत्मा की व्यापकता भी स्वीकार लेते हैं । जैनागमों में आत्मा को विज्ञान से अभिन्न भी कहा है । एवं च बौद्धापेक्षया श्रेष्ठता स्वीकार्य है ।) ॥ १७ ॥ जैनधर्म की अपेक्षा ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त आगमों में कहा धर्म श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥ उसकी अपेक्षा वैष्णवागमों का अनुसरण श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ उसकी भी अपेक्षा शैवागमोक्त धर्म की निःसंशय श्रेष्ठता है । (वैष्णव पूर्णतः या अंशतः भेदसत्यवादी हैं । इसके विपरीत शैवैकदेशी अभेदसत्यत्ववादी हैं । यह तो दार्शनिक श्रेष्ठता का बीज है । आचारदृष्ट्या वैष्णव शिवासहिष्णु हैं जबकि शैव विष्णु का देवत्व स्वीकारते हैं । श्रौत मार्ग में वैष्णव अपनी अहिंसादि मान्यताओं के अनुसार हेर-फेर करते हैं । शैवों का ऐसा आग्रह नहीं । इन सब कारणों से शैवों की श्रेष्ठता में कोई संशय नहीं ।) ॥ १९½ ॥ शैवागमों में बताया धर्म दो प्रकार है—अधःस्रोतोद्भव और ऊर्ध्वस्रोतोद्भव । (शैवागमों की उत्पत्ति शिव से बतायी गयी है । शिव के मायिक शरीर में नाभि से नीचे के हिस्सों से जो आगम उद्भूत माने गये हैं वे

अधःस्रोतोद्भवस्त्वेक ऊर्ध्वस्रोतोद्भवोऽपरः[1] *॥ २१ ॥*

अधःस्रोतोद्भवाद्धर्मादूर्ध्वस्रोतोद्भवः परः ।

कामिकादिप्रभेदेन स भिन्नोऽनेकधा द्विजाः ॥ २२ ॥

अधःस्रोतोद्भवो धर्मो बहुधा भेदितस्तथा ।

ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाद्धर्मात्स्मार्ता धर्मा महत्तराः ॥ २३ ॥

स्मार्तेभ्यः श्रौतधर्माश्च वरिष्ठा मुनिसत्तमाः ।

तेषां[2] *शान्त्यादयः श्रेष्ठास्तेषां भस्मावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥*

रुद्राक्षधारणं चापि शिवाद्याख्याभिभाषणम् ।

शिवलिङ्गार्चनं भक्त्या शिवोऽहमिति भावना ॥ २५ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य शुश्रूषा च विशिष्यते ।

तेषां वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यस्य निरूपणम्[3] *॥ २६ ॥*

शब्दयोरप्येवमेवार्थः ॥ १८–२० ॥ उक्तधर्मस्य द्वैविध्यमाह–**अधःस्रोतोद्भव** इति । अधःस्रोतांसि लीलाविग्रहधारिणः परशिवस्य[4] नाभेरधोभागस्तदुद्भवो[5] धर्मोऽ**धःस्रोतोद्भवः** । ऊर्ध्वस्रोतांसीशानतत्पुरुषादिपञ्च वक्त्राणि तदुद्भवो धर्म **ऊर्ध्वस्रोतोद्भवः** कामिकादिभेदेन बहुधा भिन्नः । उक्तं ह्यागमिकैः –'सद्योजातमुखाज्जाताः पञ्चाऽऽद्याः कामिकादयः । वामदेवमुखाज्जाता दीप्ताद्याः पञ्च संहिताः ॥ अघोरवक्त्रादुद्भूताः पञ्चाऽऽप्तिविजयादयः । पुंवक्त्रादपि चोद्भूताः पञ्च वै रौ(भै)रवादयः ॥ ईशानवदनाज्जाताः प्रोद्गीताद्यष्ट संहिताः' इति ॥ २१ ॥ २२ ॥ **अधःस्रोतोद्भव** इति । **अधःस्रोतोद्भवोऽ**पि धर्मः कापालादिमतभेदेन **बहुधाभेदित** इत्यर्थः । **स्मार्ता धर्मा** इति । मन्वादिस्मृतिपुराणस्था इत्यर्थः ॥ २३ ॥ **तेषामिति** । श्रौतधर्माणां मध्ये ये प्रवृत्तिहेतवो यागहोमाद्यास्तेभ्योऽपि निवृत्तिहेतवः शान्तिदान्त्यादयः श्रेयांस इत्यर्थः ॥ २४–२६ ॥

अधःस्रोतोद्भव हैं । जो उनके पाँच मुखों से उत्पन्न माने गये हैं वे ऊर्ध्वस्रोतोद्भव हैं ।) अधःस्रोतोद्भव भी कापाल आदि मतभेद से विविध हैं । इनकी अपेक्षा ऊर्ध्वस्रोतोद्भव आगम श्रेष्ठ हैं । वे भी कामिक आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं ॥ २०–२२½ ॥ ऊर्ध्वस्रोतोद्भव शैवागमों में प्रतिपादित धर्म की अपेक्षा मनु आदि स्मृतियों में विहित धर्म श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥ स्मार्तधर्मों की अपेक्षा श्रौत धर्म श्रेष्ठ हैं । उनमें भी शम दम आदि निवृत्तिधर्म श्रेष्ठ हैं । उनमें भी भस्मधारण उत्तम है ॥ २४ ॥ रुद्राक्ष पहनना, शिव आदि नामों का जप, शिवलिंगार्चन, 'शिवोऽहम्' (मैं शिव हूँ) ऐसी भावना करना तथा शिवविज्ञानी महात्मा की सेवा करना– ये सब विशिष्ट उत्तम धर्म है ॥ २५½ ॥ इन सब में सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा मोक्ष का अचूक साधन है वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का निर्धारण रूप श्रवणात्मक ज्ञान । ज्ञान से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है । यही वेद का निर्णय है ॥ २६–२७ ॥ पूर्वोक्त ज्ञानांग शमादि में सबसे उत्तम है भस्मधारण । जैसे

---

१ ख. ग. घ. ज. °द्भवः प° । २ श्रौतो धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च । उभावपि श्रेयोहेतू । तयोश्चक्रमो यावद्वैराग्योदयस्तावदाद्योनुष्ठेयस्ततश्चापर इत्यादि गीताभाष्यादौ प्रपंचितमिहानुसन्धेयम् । ३ स्वचित्ते निर्धारणमित्यर्थः तदेव ज्ञानं मोक्षैकसाधनमित्युत्तरश्लोक उक्तम् । मननादीनामङ्गत्वात्पृथगनुक्तिः । श्रवणादेरंगत्वमते निरूपणं निदिध्यासनं तदेव चोत्तरोक्तं ज्ञानम्, तन्मते निदिध्यासनादेव ज्ञान आपरोक्ष्याभ्युपगमादपरोक्षस्यैव च तस्य मोक्षैकसाधनत्वसंभवादिति दिक् ॥ ४ ग. च. छ. ज. °वस्याऽऽना° । ५ ख. ग. घ. ङ. च. ङ. ज. भागोऽधःस्रोतस्त° ।

वरिष्ठं सर्वधर्मेभ्यो ज्ञानं मोक्षैकसाधनम् ।
ज्ञानान्नास्ति परो धर्म इति वेदार्थनिर्णयः[१] ॥ २७ ॥
पूर्वोदितेभ्यः सर्वेभ्यः सत्यधर्मपरायणाः । ज्ञानाङ्गेभ्यः समासेन भस्मैकं परमं मतम् ॥ २८ ॥
भस्मसाधननिष्ठानां साक्षाद्भस्म शिवाभिधम् ।
प्रकाशते यथा शान्त्या शान्तं वस्तु परात्परम् ॥ २९ ॥
ज्ञानस्य कारणेभ्यस्तु श्रुतिरेव महत्तरा । ज्ञानानां शंभुविज्ञानं वरिष्ठं[२] नेतरद्भवेत् ॥ ३० ॥
वेदवाक्यसमुत्पन्नं शिवज्ञानं निरूपणे । सम्यग्ज्ञानं मयाऽऽख्यातमितरद्व्यवहारतः ॥ ३१ ॥
चोदनालक्षणो धर्मो धर्मः साक्षान्निरूपणे । इतरो व्यवहारे तु धर्म इत्यभिशब्द्यते ॥ ३२ ॥
आस्तिक्यान्वयमात्रेण धर्माभासेऽपि सुव्रताः ।
प्रयुक्तो धर्मशब्दस्तु मुख्यो धर्मस्तु वेदजः ॥ ३३ ॥

उक्तानां[३] धर्माणां पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो धर्मो यथोत्कृष्यत एवं वेदान्तवाक्यजनिताज्ज्ञानादपि[४] कश्चिदुत्कृष्टो धर्मोऽस्त्वित्यत आह– **ज्ञानान्नास्तीति** ॥ २७ ॥ शान्तिदान्त्यादिभ्योऽपि भस्मावगुण्ठनस्य वैशिष्ट्यमाह– **पूर्वोदितेभ्य** इति ॥ २८ ॥ **साक्षाद्भस्म शिवाभिधमिति** । तदुक्तं प्राक्–'शिवस्वरूपं परमं भासनाद्भस्म संमतम्' इति ॥ २९ ॥ **श्रुतिरेव महत्तरेति** । ज्ञानसाधनं सर्वाधिकेत्यर्थः । **शंभुविज्ञानमिति** । वेदान्तवाक्यजनितं यत्परशिवस्वरूपविषयं ज्ञानं तदेव विषययाथार्थ्यात्प्रत्यक्षादिप्रमाणजनितज्ञानानां मध्ये प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ **चोदनालक्षण** इति । चोदना वेदवाक्यं तत्प्रतिपादितो धर्मः । तथा च जैमिनिसूत्रम्–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति । यद्येवं तदतिरिक्तेष्वागमादिसिद्धेषु पूर्वोक्तेष्वर्थेषु धर्मशब्दप्रयोगः कथमित्यत आह– **इतरो व्यवहार** इत्यादि ॥ ३२ ॥ **आस्तिक्यान्वयमात्रेणेति** । यथा श्रौतधर्मेष्वास्तिक्यं[५] तथैव[६] तदितरधर्माभासेऽपि तद्दर्शनात्तत्र धर्मशब्दप्रयोगो गौण इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ अथ बहुभिर्निदर्शनैः श्रुतिप्रमाणस्योत्कर्षं प्रतिपादयति– **यथा शंभुसम** इत्यादिना ॥ ३४–४७ ॥

शान्ति के अभ्यास से परात्पर परम शांत आत्मवस्तु प्रकाशित होती है, वैसे ही जो भस्मरूप साधन में निष्ठा वाले हैं उन्हें शिवनामक परम भस्म का साक्षात्कार हो जाता है । (सोलहवें अध्याय में (श्लो. ३८) यह बताया जा चुका है कि परमभस्म शिव है ।) ॥ २९ ॥ ज्ञानोत्पादक साधनों में श्रुति ही सबसे महान् है । (अन्य साधन मन आदि या स्मृत्यादि प्रमाणांतर हैं जिनकी अपेक्षा वेद की श्रेष्ठता है) । श्रुति से होने वाले सब ज्ञानों में श्रेष्ठ है शिवानुभव । (अन्य श्रौतज्ञान हैं कर्म ज्ञान, उपासना ज्ञान, ज्ञानसाधनों का ज्ञान, त्वमर्थ का ज्ञान आदि) ॥ ३० ॥ वास्तविकता का निरूपण करने पर मैं वेदवाक्यों से उत्पन्न अखण्ड शिवज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहता हूँ । अन्य ज्ञान वेदवाक्य से उत्पन्न होने पर भी केवल व्यवहारभूमि में ही सम्यक् हैं ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार वेदप्रतिपादित धर्म ही वस्तुतः धर्म है । 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ तो वही है । अन्य (शैवागम से स्वमनीषा तक के) धर्म तो केवल कहने भर के धर्म हैं । परलोक स्वीकारना – इतनी समानता होने से उन्हें गौणी वृत्ति से धर्म कह देते हैं । (हैं वे अधर्म ही । एवमपि अनधिकारियों के कल्याण के उपाय वे ही हैं ।) ॥ ३२–३३ ॥ जैसे शंभु के समान कोई देवता नहीं वैसे वेद के

---

१ घ. °दान्तनि° । २ व. °ष्ठं तेन तद्द° । ३ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. अनुक्तानां । ४ ख. घ. °दन्यध° । ५ परलोकस्वीकार इहास्तिक्यम् । ६ ख. घ. °तास्वपि तद्द° ।

यथा शंभुसमो देवो नास्ति पुण्यवतां वराः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३४ ॥
यथा विप्रसमो मर्त्यो नास्ति वेदविदां वराः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३५ ॥
यथैवान्नसमं भोज्यं नास्ति लोके विचक्षणाः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३६ ॥
यथा गङ्गासमा पुण्या नदी लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३७ ॥
यथा वाराणसीतुल्या पुरी लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३८ ॥
यथा [1]दभ्रसभातुल्यं स्थानं लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३९ ॥
षडक्षरसमो मन्त्रो यथा लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ४० ॥
यथा गुरुसमस्त्राता नास्ति संसारसागरात् ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ४१ ॥
अतश्च संक्षेपमिमं वदामि वः श्रुतिः प्रमाणं शिव एव केवलः ।
वरिष्ठ उक्तः सितभस्मगुण्ठनं विशुद्धविद्या च न चेतरत्परम् ॥ ४२ ॥

समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३४ ॥ जैसे वेदज्ञ ब्राह्मण के समान कोई जीव नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३५ ॥ जैसे चावल के समान कोई खाद्य नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३६ ॥ जैसे गंगा के समान कोई पुण्य नदी नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३७ ॥ जैसे वाराणसी के समान कोई पुरी नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३८ ॥ जैसे दभ्रसभा के (जहाँ शिव नृत्य करते हैं वह सभा या चिदम्बर मंदिर) तुल्य कोई स्थान नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३९ ॥ जैसे षडक्षर की (ॐ नमः शिवाय) तरह कोई मंत्र नहीं वैसे वेद की तरह कोई प्रमाण नहीं ॥ ४० ॥ जैसे गुरु के समान दूसरा कोई नहीं जो संसार सागर से बचा सके वैसे ही वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ४१ ॥

अतः आप लोगों को यह सार बताता हूँ–श्रुति ही प्रमाण है, शिव ही एकमात्र परम सत्य हैं, सित भस्म को धारण करना ही उत्तम साधना है और शिवात्मैक्य का अखण्डानुभव ही मोक्ष का साक्षात् उपाय

---

१ क. छ. °दस्रस° ।

सूत उवाच— एवमुक्त्वा मुनीन्द्रेभ्यः श्रीमान्बर्हिणवाहनः ।
जगत्स्वामी महातेजास्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ४३ ॥

कावषेया अपि श्रेष्ठाः प्रसादात्तारकारिणः । महादेवं महात्मानं ददृशुः स्वयमागतम् ॥ ४४ ॥
तं प्रणम्य महादेवं सर्वज्ञमपराजितम् । श्रीमत्पञ्चाक्षरेणैव पूजयामासुरादरात् ॥ ४५ ॥
देवदेवो महादेवो देवानामपि देशिकः । मुनिभ्यः कावषेयेभ्यः स्वात्मज्ञानं ददौ मुदा ॥ ४६॥

मुनीन्द्रा अपि ते सर्वे विशुद्धज्ञानिनां वराः ।
प्रणम्य देवमीशानं साम्बं संसारभेषजम् ॥ ४७ ॥
प्रसादयित्वा देवेशं कृतार्था आत्मवेदनात् ।
निःस्पृहाः स्वात्मनोऽन्यत्र ययुर्हिमवतो गुहाम् ॥ ४८ ॥
विशिष्टधर्मः कथितः समासतो मयैव वेदार्थविचारणक्षमः[2] ।
इतोऽतिरिक्तं सकलं पलालवद्वृथा न लाभाय विशुद्धचेतसाम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे विशिष्टधर्मविचारो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

निःस्पृहाः स्वात्मनोऽन्यत्रेति । सच्चिदानन्दैकरसस्वस्वरूपानुसंधानादन्यस्मिन्धर्मे निःस्पृहाः । श्रूयते ह्यैतरेयके–'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं [3]यक्ष्यामहे' इति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे विशिष्टधर्मविचारो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

है । इससे अतिरिक्त कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है । (एवं च श्रुत्यनुसार भस्मधारण करते हुए शिवानुभवप्राप्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है ।) ॥ ४२ ॥

सूत जी बोले–यों उपदेश देकर, मुनियों का संशय समाप्त कर स्कन्द वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४३ ॥ कावषेय ऋषियों ने भी कार्तिककृपा से वहीं पधारे महादेव का दर्शन किया ॥ ४४ ॥ सबने प्रणामपूर्वक उनकी पंचाक्षर मंत्र से सप्रेम पूजा की ॥ ४५ ॥ महादेव ने उन्हें दयावश शिवात्मैक्य ज्ञान का उपदेश दिया ॥ ४६ ॥ ज्ञान पाकर वे भी कृतार्थ हो गये और महादेव को प्रणाम कर हिमालय की गुफाओं में चले गये ॥ ४७–४८ ॥

इस प्रकार मैंने विशिष्ट धर्म संक्षेप में बता दिया है । वेदान्तविचार ही विशिष्ट धर्म है । इससे भिन्न सब कुछ भूसे की तरह है । यह शुद्ध मन वालों का कोई लाभ नहीं करता ॥ ४९ ॥

---

१ ग. °ष्ठमुक्तं सि° । २ ग. °रलक्षणः । इ° । ३ वक्ष्यामहे ।

एकविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि मुक्तिसाधनमास्तिकाः ।
शृणुत श्रद्धया सार्धं साक्षाद्वेदान्तदर्शितम् ॥ १ ॥
पुरा श्वेतादिऋष्यन्ता मुनयो मुनिसत्तमाः ।
संख्या च शतमेतेषां सह द्वादशसंख्यया ॥ २ ॥
त एते भस्मदिग्धाङ्गास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः । रुद्राक्षमालाभरणा रुद्राराधनतत्पराः ॥ ३ ॥
तपश्चेरुर्महातीव्रं परया श्रद्धया सह । श्रीमद्दक्षिणकैलासे साक्षात्संसारनाशके ॥ ४ ॥
यस्य दर्शनमात्रेण पापानि सकलानि तु । नश्यन्ति वह्निसंयुक्तं यथा तूलं प्रदह्यते ॥ ५ ॥
यस्मिन्निवसतां नृणामशेषाणां महेश्वरः । ददाति परमां मुक्तिमचिरेण द्विजोत्तमाः ॥ ६ ॥
यत्र भस्मरतानां तु द्विजानां प्रतिवत्सरम् ।
यथाशक्ति धनं दत्त्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ७ ॥

अथ मुक्तेरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनप्रतिपादनव्याजेन शमदमादिसाधनसंपन्नस्यैव तत्राधिकारो नान्यस्येति प्रतिपादयितुमुपक्रमते– **अथात** इति । **वेदान्तदर्शितमि**ति । 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्' इतिवेदान्तवाक्यप्रतिपादितमित्यर्थः ॥ १ ॥ तच्चोक्तसाधनमीश्वरानुग्रहेणैव लभ्यमिति ज्ञापयितुं पुरावृत्तमुदाहरति– **पुरेति** ॥ २ ॥ ३ ॥ पुण्यक्षेत्रवासोऽपि मुक्तावुपाय इत्यभिप्रेत्याऽऽह– **श्रीमद्दक्षिणकैलास** इत्यादिना ॥ ४–१४ ॥

मुक्तिसाधन-विचार नामक इक्कीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा–अब मैं उपनिषदों में प्रदर्शित मुक्तिसाधनों का परिचय कराता हूँ ॥ १ ॥ श्वेत मुनि से ऋषि नामक मुनि तक के एक सौ बारह श्रेष्ठ मुनियों ने दक्षिण कैलास में (श्रीकालहस्तीश्वर में) प्राचीन काल में तपस्या की । उनके शरीर भस्मोद्धूलित रहते थे व माथे पर त्रिपुण्ड्र शोभित होता था । रुद्राक्ष माला से अलंकृत वे रुद्र की आराधना में तत्पर रहते थे । परम श्रद्धापूर्वक वे उस मोचक स्थान पर तपोरत थे ॥ २–४ ॥ जैसे वह्नि से संयुक्त होने पर तिनका जल जाता है वैसे ही दक्षिण कैलास के दर्शन से पाप ध्वस्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥ वहाँ के निवासी सभी मनुष्यों को महेश्वर मोक्ष देने में विलम्ब नहीं करते ॥ ६ ॥ वहाँ रहने वाले भस्मच्छन्न तपस्वियों को यदि प्रतिवर्ष यथाशक्ति धन दान दिया जाये

यत्र प्रतिदिनं पुंसां भक्तानामीश्वरस्य तु । मुष्टिमात्रप्रदानेन महापापाद्विमुच्यते ॥ ८ ॥

यत्र साक्षाच्छिवज्ञाननिष्ठस्यातिप्रियेण तु ।
भोजनं च तथा वस्त्रं दत्त्वा मुच्येत बन्धनात् ॥ ९ ॥

यत्र जप्तं हुतं दत्तं चिन्तितं च दिने दिने ।
ब्राह्मणानां तथाऽन्येषामनन्तं भवति ध्रुवम् ॥ १० ॥

तपसा शंकरस्तेषां प्रसन्नः करुणानिधिः । सांनिध्यमकरोत्तत्र शक्त्या परमया सह ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा साम्बमीशानं साक्षात्संसारभेषजम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पप्रच्छुर्मुक्तिसाधनम् ॥ १२ ॥

देवोऽपि करुणाविष्टः साक्षात्संसारमोचकः । मुनीनामुग्रतपसां बभाषे मुक्तिसाधनम् ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच— वक्ष्यामि परमं गुह्यं मुक्तिसाधनमादरात् ।
वर्णाश्रमसमाचारादेव मुक्तिर्न चान्यतः ॥ १४ ॥

स्वजातिविहितं धर्मं यः करोति प्रियेण तु ।
स जायते कुले मुख्ये विप्राणामीश्वराज्ञया ॥ १५ ॥

स्वजातिविहितमिति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां मध्ये यस्य यो धर्मो विहितः स स्वजातिविहितः ब्राह्मणस्य यजनादिकं, क्षत्रियस्य राज्यपरिपालनादिकं, वैश्यस्य कृषिगोर[1]क्षादिकं, शुद्रस्य द्विजशुश्रूषेत्येते स्वजातिविहिता धर्माः ॥ १५ ॥

तो दाता मुक्ति पा जाता है ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वहाँ शिवभक्तों को मुट्ठीभर भी दान देने से महापापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ८ ॥ वहाँ रहने वाले शिवज्ञाननिष्ठ को भोजन व वस्त्र समर्पित करने से मोक्षलाभ निश्चित है ॥ ९ ॥ ब्राह्मण तथा अन्य भी वहाँ जो जप, होम, दान या विचार करता है, उसका अनंत फल मिलता है ॥ १० ॥ ऐसे महत्त्वपूर्ण उस स्थान पर तपस्या करने वाले उन मुनियों पर कृपा कर शिव ने उन्हें दर्शन दिया । भगवती उमा उनके साथ थी ॥ ११ ॥ उनका दर्शन पाकर मुनियों ने साम्ब सदाशिव को दण्डवत् प्रणाम किया तथा उनसे मोक्षसाधनविषयक प्रश्न किया ॥ १२ ॥ भगवान् भी उनके तप से प्रसन्न थे ही । उन्होंने कृपावश उन्हें मोक्षसाधन का उपदेश दिया ॥ १३ ॥

भगवान् बोले—मैं तात्पर्यपूर्वक मोक्ष के गोप्य साधनों को प्रकाशित करता हूँ । (इतने विद्वान् मुनि जिसे अब तक समझ नहीं पाये वह गुप्त है इसमें क्या संदेह ? वस्तुतः साधन स्वरूप से गुप्त नहीं हैं, उनकी मुक्तिसाधनता गुप्त है । वर्णाश्रम धर्म तो सर्वप्रसिद्ध हैं । केवल यह पता नहीं है कि वे ही ईश्वराराधन-बुद्धि से किये जायें तो मोक्षौपयिक हो जाते हैं । इसी रहस्य को आचार्य ने गीता के उपोद्धात

---

१ च. °रक्षणादि° ।

स पुनर्जातकर्मादिसंस्कारैरपि संस्कृतः । उपनीतो गुरोर्वेदानधीत्य विधिवत्पुनः ॥ १६ ॥

दारानाहृत्य यज्ञं च दानं च विविधं तथा ।

तपश्च विविधं घोरं कृत्वा कामनया विना ॥ १७ ॥

प्रनष्टपापः शुद्धान्तःकरणो ज्ञानवाञ्छया ।

विरक्तः सर्वलोकेभ्यो दोषाणां तु निरूपणात् ॥ १८ ॥

चित्तपाकानुगुण्येन प्रव्रज्यां कुरुते पुनः । तत्रामुमुक्षुः संन्यासी प्रेरितः परमेश्वरात् ॥ १९ ॥

कुटीचकाभिधां वृत्तिं वृत्तिं वाऽथ बहूदकाम् ।

हंसवृत्तिं तु वा नित्यं वाञ्छते मुनिसत्तमाः ॥ २० ॥

वेदानधीत्य विधिवदिति । अनेनैव ब्रह्मचारिणामनुष्ठानमुक्तम् ॥ १६ ॥ **दारानाहृत्ये**त्यादिना गार्हस्थ्याश्रमधर्मप्रतिपादनम्। **तपश्च विविधमिति** वानप्रस्थाश्रमधर्माः । **कामनया विनेति** । फलसंधानविरहेण केवलमीश्वरार्पणबुद्ध्यैवानुष्ठिता वर्णाश्रमधर्मा अध्ययनादयः पापप्रणाशनेन चित्तशुद्धिद्वारा परम्परया मुक्तिसाधनत्वं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । श्रूयते हि–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति ॥ १७ ॥ एवमाश्रमत्रयानुष्ठितैः कर्मभिश्चित्तशुद्धौ जातायां संसारदोषदर्शनात्ततो वैराग्यं जायत इत्याह– **विरक्त इति** ॥ १८ ॥ **प्रव्रज्यां कुरुत इति** । 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुतेः ॥ १९ ॥ २० ॥

में व्यक्त किया है 'अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः ······सः······ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानः······ज्ञान-निष्ठायोग्यताप्राप्ति-द्वारेण······ निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते ।') वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठान से ही मोक्ष मिलता है, अन्य हेतु से नहीं ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति प्रेम से अपनी जाति के लिये विहित कर्म करता है यह ईश्वराज्ञा से ब्राह्मणों के श्रेष्ठ कुल में पैदा होता है ॥ १५ ॥ जातकर्मादि संस्कारों से संस्कृत हुए उस ब्राह्मण बालक का उपनयन होता है व तदनन्तर वह विधि के अनुसार वेद का अध्ययन करता है ॥ १६ ॥ अध्ययन समाप्ति के अनन्तर यह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है–विवाह करता है तथा विविध यज्ञ व दान करता है । (यहाँ जिस प्रयोजन से इन आश्रमादि का वर्णन है वह है मोक्ष । अतः उन कर्तव्यों का मुख्यतः उल्लेख है जो उसके उपाय बनेंगे । गृहस्थ को यज्ञ व दान अवश्य करने चाहिये । संस्कृत के तो वैयाकरणाचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकारा है कि क्योंकि पति द्वारा किये यज्ञ का फल वह भी पाती है इसीलिये उसे पत्नी कहते हैं । अतः गृहस्थ का कर्तव्य है यज्ञ करे । इतर तीन आश्रम गृहस्थाश्रित हैं, अतः दान भी उसका आवश्यक धर्म है । अतएव गीता में यज्ञ, दान व तप का वैशिष्ट्य कहा है ।) गार्हस्थ्य समाप्त कर वह ब्राह्मण वानप्रस्थ बनता है और नाना प्रकार के घोर तप करता है । अध्ययनादि सब कर्म फलेच्छारहित हो केवल इस दृष्टि से किये जायें कि इनसे परमशिव प्रसन्न हों, तभी ये मोक्षसाधन बनते हैं ॥ १७ ॥ उक्त बुद्धि से आश्रमादि कर्म करने से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है तथा तत्त्वज्ञान की इच्छा हो जाती है, साथ ही संसार के दोषों का विचार कर तीनों लोकों से वैराग्य हो जाता है ॥ १८ ॥ वैराग्य की

मुमुक्षुर्भिक्षुको नित्यं परहंसाभिधां शुभाम् । वृत्तिमिच्छति देवेशप्रसादेन द्विजोत्तमाः ॥ २१ ॥

कुटीचकादिवृत्तिस्थो मुक्तिमिच्छति चेद् द्विजाः ।

परहंसाभिधां वृत्तिं प्राप्नुयाच्छङ्कराज्ञया ॥ २२ ॥

सर्वेषामेव भिक्षूणां शान्तिर्दान्तिस्तितिक्षुता । स्नानं शौचमहिंसा च मिथ्याभाषणवर्जनम् ॥ २३ ॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा । त्रिपुण्ड्रधारणं साक्षाद्ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ २४ ॥

लिङ्गे शिवार्चनं नित्यं धर्मः प्रोक्तः सनातनैः ।

साक्षाद्वेदान्तवाक्यानां श्रवणं मननं तथा ॥ २५ ॥

निदिध्यासनमाचार्यपरिचर्या प्रियेण तु । परहंसस्य धर्मोऽयं विशेषेण समीरितः ॥ २६ ॥

पूर्वपुण्यबलात्साक्षात्प्रसादाच्च शिवस्य तु । ब्रह्मात्मविषयं ज्ञानं लभते भिक्षुकोऽचिरात् ॥ २७ ॥

वैराग्यजननानन्तरं चित्तैकाग्र्यलाभाय संन्यास एव कर्तव्य इत्याह– **भिक्षुक** इति । साधनचतुष्टयान्तर्वर्ति यन्मुमुक्षुत्वं तदीश्वरप्रसादेन परमहंसस्यैव जायते नान्येषां कुटीचकादीनामित्यर्थः ॥ २१ ॥ कुटीचकादिभिरपि यदा मुक्तिरन्विष्यते तदा तैरपि परमहंसाश्रम एव कर्तव्य इत्याह– **कुटीचकादीति** ॥ २२ ॥ अथ वेदान्तज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गसाधनभूतांस्तुरीयाश्रमधर्मानाह–**सर्वेषामित्यादिना** । **शान्तिर्ज्ञानेन्द्रियाणाम्** । **तितिक्षुता** शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् । शान्त्यादीनि द्वंद्वाद्युपघातकत्वेन परम्परया मुक्तिसाधनानि । वेदान्तवाक्यश्रवणादिकमव्यवधानेन मुक्तिसाधनमित्यर्थः । तत्र **श्रवणं** नाम वेदान्तवाक्यानामद्वितीये परशिवरूपे तात्पर्येण प्रतिपादनसामर्थ्यावधारणम् । श्रुतस्यार्थस्यासंभावनाविपरीतभावनानिरासाय युक्तिभिरनुचिन्तनं **मननम्** । एवं श्रवणमनना-भ्यामवधृतस्यार्थस्य साक्षात्कारोपयोगिचित्तैकाग्र्यलाभाय विजातीयप्रत्ययान्तरित[1] सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेण ध्यानं **निदिध्यासनम्** । एतेषां तत्साधनत्वं श्रूयते–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति ॥ २३–२७ ॥

तीव्रता के अनुसार वह ब्राह्मण संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होता है । यदि मुमुक्षा नहीं है तो ईश्वर-प्रेरणा से वह कुटीचक, बहूदक या हंस संन्यास ग्रहण करता है ॥ १९–२० ॥ कुटीचकादि भी मुमुक्षु हो जाये तो परमहंस बन जाता है । जो वानप्रस्थ अवस्था में ही मुमुक्षु हो उसे कुटीचकादि बनने की आवश्यकता नहीं, सीधे ही परमहंस बनना चाहिये । (यदि ब्रह्मचर्य या गृहस्थ दशा में ही वैराग्य व मुमुक्षा हो जाये तो तभी पारमहंस्य स्वीकार लेना चाहिये ।) ॥ २१–२२ ॥ सभी संन्यासियों के ये कर्तव्य हैं– इन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण रखना, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों का सहिष्णु होना, प्रतिदिन स्नान करना (या रोज़ तीन बार स्नान करना), सफाई रखना (या अष्टगुण शौच का अनुष्ठान करना), मन, वाणी या देह से किसी को पीडा न पहुँचाना, झूठ न बोलना, 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से भस्मोद्धूलन करना तथा ब्रह्म-विष्णु-रुद्रात्मक त्रिपुण्ड्र धारण करना, प्रतिदिन शिवलिंग की पूजा करना, प्रेम से उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना । श्रवणादि परमहंस का तो विशेष धर्म है । पूर्वकृत पुण्यों से व शिवकृपा से संन्यासी शीघ्र ही ब्रह्म व आत्मा के अभेद का ज्ञान पा लेता है ॥ २३–२७ ॥ वेदान्तवाक्य से उत्पन्न उक्त ज्ञान से यति मोक्ष प्राप्त करता है । ज्ञान के बिना मोक्ष किसी तरह नहीं हो सकता । यों आप मुनियों को मुक्तिसाधन

---

१ अनन्तरितेति बाल. पाठ एव युक्तः ।

ज्ञानाद्वेदान्तवाक्योत्थान्मुक्तिं भिक्षुरवाप्नुयात् ।
विना ज्ञानेन मुक्तिस्तु न सिध्यति न सिध्यति ॥ २८ ॥
मुक्तिसाधनमाख्यातं संग्रहेण मुनीश्वराः ।
ज्ञाने यूयमपि श्रद्धां कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ २९ ॥
सूत उवाच— इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रः साक्षात्संसारमोचकः ।
आगमान्तैकसंवेद्यस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ३० ॥
भवन्तोऽपि प्रसादेन शिवस्य परमात्मनः ।
मत्तो लब्धपरिज्ञाना अभवन्नचिरेण तु ॥ ३१ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासं सर्वस्थानोत्तमोत्तमम् ।
वाञ्छितार्थप्रदं नृणामिति वित्त विचक्षणाः ॥ ३२ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासमदृष्ट्वा मुक्तिमिच्छतः ।
नास्ति संसारविच्छित्तिः सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३३ ॥
वर्णाश्रमसमाचारं विना कैवल्यमिच्छतः ।
नास्ति कैवल्यसंसिद्धिः सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३४ ॥
विष्णुप्रजापतीन्द्रेभ्यः शिवस्याऽऽधिक्यमादरात् ।
अविज्ञाय न संसारान्मुच्यते जन्मकोटिभिः ॥ ३५ ॥
प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं विना कैवल्यमिच्छताम् ।
नास्ति कैवल्यमित्येषा शाश्वती श्रुतिराह हि ॥ ३६ ॥

[1]ज्ञानादिति । इत्थमध्ययनयजनशमदमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनकलापसहकृताद्वेदान्तवाक्यश्रवणाद्यद्वाक्यजं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं ज्ञानं जायते तदेव मुक्तिसाधनं नान्यदित्यर्थः ॥ २८–३१ ॥ इति वित्त विचक्षणा इति । उक्तप्रकारेण वित्त जानीतेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ पुण्यक्षेत्रवासवर्णाश्रमधर्मादीनामुक्तं मुक्तिसाधनत्वं व्यतिरेकमुखेण द्रढयति—**श्रीमद्दक्षिणकैलासमिति** ॥ ३३–३५ ॥

बता दिये । आप लोग सायास ज्ञान पर श्रद्धा रखिये ॥ २८–२९ ॥

सूतजी बोले—इतना कहकर उपनिषद्गम्य संसार से मोक्ष दिलाने वाले साक्षाद् भगवान् रुद्र वहीं अंतर्धान हो गये ॥ ३० ॥ शिवकृपा से आपको भी मुझसे ज्ञान प्राप्त हो गया है ॥ ३१ ॥ सब शिवस्थानों में उत्तम है दक्षिणकैलास । लोगों के अभीष्ट का वह साधक है यह आप समझ लीजिये ॥ ३२ ॥ दक्षिणकैलास का दर्शन किये बिना मोक्षप्राप्ति दुर्लभ है ॥ ३३ ॥ वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान किये बिना मोक्ष मिलना असंभव है ॥ ३४ ॥ विष्णु, प्रजापति, इन्द्र आदि की अपेक्षा शिव के वैशिष्ट्य के निश्चय के बिना करोड़ों जन्मों में भी संसारचक्र से छूटा नहीं जा सकता ॥ ३५ ॥ यह नित्य श्रुति की घोषणा है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्म से एकता के ज्ञान के बिना कथमपि मोक्ष नहीं होता ॥ ३६ ॥ सर्वज्ञ भगवान् शंकर ने भी

---

१ ग. °ज्ञानम° ।

भगवानपि सर्वज्ञः शिवः कारुणिकोत्तमाः ।

विना वेदान्तविज्ञानं न मुक्तिरिति चाऽऽह हि ॥ ३७ ॥

विष्णुप्रजापतीन्द्रादिदेवताश्च तथैव च । विना ज्ञानं न कैवल्यमित्याहुर्वेदवित्तमाः[1] ॥ ३८ ॥

मुनयश्च महात्मानः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ।

विना ज्ञानं न कैवल्यमित्याहुर्वेदवित्तमाः ॥ ३९ ॥

अथ किं बहुनोक्तेन मुनीन्द्रा वेदवित्तमाः । मुक्तिसाधनविज्ञानं वेदादेव न चान्यतः ॥ ४० ॥

वेदमार्गजनितं तु वेदनं दोषहीनमतिशोभनं सदा ।

अन्यमार्गजनितं विचारतो वेदमार्गरुचिकारणं क्रमात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

शाश्वती श्रुतिराह हीति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्' इति ब्रह्मात्मैकत्वविदुष एव मुक्तिं ब्रूते, भेददर्शिनस्तु 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यज्ञत्वं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ ३६–४० ॥ **अन्यमार्गेति** । वेदव्यतिरिक्तैरागमान्तरैः प्रतिपादितमर्थजातमुक्तरूपवेदान्तविज्ञाने परमपुरुषार्थे रुचिजननद्वारोपयुज्यते न तु स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधनमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१॥

यह कहा ही है कि वेदान्तविज्ञान के विना मोक्ष होना असंभव है ॥ ३७ ॥ विष्णु आदि अन्य देवताओं की भी इसमें संमति है कि तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष असंभव है । (विष्णुवचन गीता में, प्रजापतिवचन छान्दोग्याष्टम में व इन्द्रवचन कौषीतक्युपनिषत् में प्रसिद्ध हैं ।) ॥ ३८ ॥ सत्य पर दृढ रहने वाले जितेन्द्रिय महात्मा मुनियों ने भी इसका सत्यापन किया है । (याज्ञवल्क्य, वरुण, दधीचि, पिप्पलाद, उद्दालक आरुणि, सनत्कुमार, श्वेताश्वतर, व्यास, वसिष्ठ, वाल्मीकि, शुक, शंकराचार्य आदि सैकड़ों महात्मा मुनियों ने सोपपत्ति इस बात का प्रतिपादन विस्तार से किया है ।) ॥ ३९ ॥ बहुत कहने से क्या लाभ ? मोक्ष का उपयाभूत तत्त्वविज्ञान वेद से ही होता है, उसका अन्य कोई उपाय नहीं है । (शास्त्र ही प्रमाण है, मन आदि नहीं) ॥ ४० ॥ वेदमार्ग से–अर्थात् वेद द्वारा–उत्पादित अनुभव निर्दोष है व अत्यन्त शुभ है । अन्य मार्गों से जो ज्ञान होता है वह विचार द्वारा वेदमार्ग में रुचि-उत्पादन के क्रम से ही उपकारक है, साक्षात् नहीं ॥ ४१ ॥

---

१ ख. ग. ङ. °त्याहुः पुरुषाधिकाः° ॥ ३८ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि मार्गप्रामाण्यनिर्णयम्

श्रद्धया सहिता यूयं शृणुध्वं मुनिपुंगवाः ॥ १ ॥

वेदांश्च धर्मशास्त्राणि पुराणं भारतं तथा ।

वेदाङ्गान्युपवेदांश्च कामिकाद्यागमानपि ॥ २ ॥

कापालं लाकुलं[1] चैव तयोर्भेदान्द्विजर्षभाः ।

तथा पाशुपतं सोमं भैरवप्रमुखागमान् ॥ ३ ॥

तेषामेवोपभेदांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।

विष्ण्वागमांस्तथा ब्राह्मान्बुद्धार्हाद्यागमानपि ॥ ४ ॥

लोकायतं तर्कशास्त्रं बहुविस्तरसंयुतम् । मीमांसामतिगम्भीरां सांख्ययोगौ तथैव च ॥ ५ ॥

अनेकभेदभिन्नानि तथा शास्त्रान्तराणि च । निर्ममे शंकरः साक्षात्सर्वज्ञः संग्रहेण तु ॥ ६ ॥

ननु बौद्धार्हताद्यागमानां वेदविरुद्धार्थप्रतिपादकानां वेदैकसमधिगम्ये ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने रुचिजनकत्वं नोपपद्यतेऽतो वैदिकमार्गव्यतिरिक्तानां सर्वेषामप्रामाण्यमेवेत्याशङ्क्य तत्प्रामाण्यं समर्थयितुमारभते— **अथात** इति । श्रुतिस्मृत्यादिभिः शैवपाशुपतबुद्धाद्यागमैः समये नानाविधा मार्गाः प्रतिपादितास्तेषामधिकारिभेदेन [2]प्रामाण्यनिर्णयः[3] क्रियत इत्यर्थः ॥ १ ॥ **उपवेदांश्चेति** । आयुर्वेदधनुर्वेदादय उपवेदाः[4] ॥ २–५ ॥ **निर्ममे शंकर** इति । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादीनि वैदिकानि शास्त्राणि तदर्थानुसारिशैवपाशुपताद्यागमान्बुद्धार्हतादिबहुभेदभिन्नान्वेदविरुद्धांश्च सर्वज्ञः शिव एव स्वशक्त्या निर्मितवानित्यर्थः । अतः सर्वज्ञेन शिवेनैव प्रणीतत्वादेषां मध्ये कस्यचिदप्यप्रामाण्यं न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

मार्गों की प्रामाणिकता का वर्णन नामक बाइसवाँ अध्याय

सूतजी ने आगे कहा—अब मैं मार्गों की प्रामाणिकता का निर्णय सुनाता हूँ, आप लोग श्रद्धापूर्वक सुनें ॥ १ ॥

वेद, (मन्वादि) धर्मशास्त्र, पुराण, महाभारत, (ज्योतिष आदि) वेदांग, (आयुर्वेदादि) उपवेद, कामिक आदि आगम, कापाल लाकुल आदि आगम व उनके भेद, पाशुपत, सोम, भैरव आदि आगम तथा उनके सैकड़ों भेद-प्रभेद, वैष्णवागम, ब्राह्मागम, बौद्धागम, जैनागम, लोकायत शास्त्र, बहुत विस्तृत तर्कशास्त्र, अति गंभीर मीमांसा, सांख्य व योगशास्त्र तथा नाना भेदों वाले अन्य अनेक शास्त्र सब साक्षात् महादेव ने ही बनाये हैं ॥ २–६ ॥ श्री रुद्र की कृपा से ही ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता, सिद्ध, विद्याधर (गंधर्व), यक्ष, राक्षस

---

१ ख. नाकुलं । २ छ. "ण्यमित्य" । ३ ख. ग. घ. "र्णयमित्य" । ४ ऋग्वेदस्यायुर्वेदः, यजुषो धनुर्वेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदः, आथर्वणस्य अर्थशास्त्रमुपवेदाः ।

प्रसादादेव रुद्रस्य ब्रह्मविष्ण्वादयः सुराः । सिद्धविद्याधरा यक्षा राक्षसाद्यास्तथैव च ॥ ७ ॥

मुनयश्च मनुष्याश्च यथाभाग्यं द्विजोत्तमाः । तान्येव विस्तरेणैव संग्रहेणैव वा पुनः ॥ ८ ॥

कुर्वन्ति तानि नामानि कथितानि मनीषिभिः ।

अधिकारिविभेदेन नैकस्यैव सदा द्विजाः ।

तर्कैरेते हि मार्गास्तु न हन्तव्या मनीषिभिः ॥ ९ ॥

यथा तोयप्रवाहाणां समुद्रः परमावधिः । तथैव सर्वमार्गाणां साक्षान्निष्ठा महेश्वरः ॥ १० ॥

ननु ब्राह्मवैष्णवबुद्धाद्यागमेषु ब्रह्मविष्ण्वादितत्तदागमप्रणेतारः[1] पुरुषविशेषाः स्मर्यन्ते । तथा सांख्यतर्कादिशास्त्रेषु कपिलकणाद-जैमिनिप्रभृतयो निर्मातारः प्रसिद्धाः । अतः शिवस्यैव निर्माणमनुपपन्नमित्यत आह– **प्रसादादेवेति** । परमेश्वरानुग्रहादेव ब्रह्मविष्ण्वाद-यस्तन्निर्मितानागमान्स्वस्वव्यवहारसिद्धये पुनः संग्रहविस्तराभ्यां कुर्वन्ति । कपिलकणभुग्जैमिनिप्रभृतयो मुनयश्च स्वशिष्यबुद्धिगुणानुसारेण परमेश्वरनिर्मितान्येव शास्त्राणि तत्प्रसादादेव पुनः संग्रहविस्तराभ्यां कुर्वन्तीत्यविरोधः । यद्यप्येवमीश्वर-निर्मितत्वात्सर्वेषां प्रामाण्यं[2] तथाऽपि परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादप्रामाण्यमपि स्यादित्यत आह– **अधिकारीति** । यथा 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' इत्यादिविरुद्धार्थप्रतिपादकानां वाक्यानामधिकारिभेदाद्विरोधाभावेन प्रामाण्यमेवमत्रापीत्यर्थः । एवमेते मार्गाः शुष्कतर्कबलान्न बाध्या इत्यर्थः ॥ ७–९ ॥ **साक्षान्निष्ठेति** । सर्वेष्वपि मार्गेष्वस्ति कश्चिद्देय इति संमतत्वात्तस्य च परमेश्वरव्यतिरिक्तस्याभावात्तत्तदागमोक्तगुणवैशिष्ट्येन शिवः प्रतिपाद्यत इति भवति तस्मिन्सर्वेषां मार्गाणां पर्यवसानमित्यर्थः ॥ १० ॥

आदि (मनुष्येतर प्राणी), मुनि तथा अन्य मनुष्य शिवनिर्मित उन शास्त्रों का ही संक्षेप या विस्तार करते रहते हैं और इसी से मनीषियों द्वारा बताये तत्तन्नाम वाले तत्तच्छास्त्र तत्तद्व्यक्तियों से सम्बद्ध हो प्रसिद्धि पा चुके हैं । (अर्थात् जैमिनी मीमांसा के रचयिता नहीं हैं । रचयिता तो महेश्वर हैं । जैमिनी ने केवल उसे एक विशिष्ट ढंग से उपनिबद्ध कर दिया है । इतने से ही वे उसके जनक मान लिये गये हैं । किया यह भी शिवकृपा से ही है ।) ॥ ७–८ ॥ अधिकारियों के भेद से इनका उपयोग है, एक ही अधिकारी के लिये सबका उपयोग नहीं । अतः बुद्धिमानों को तर्क के सहारे इनका खण्डन नहीं करना चाहिये । सभी अपने क्षेत्र में प्रमाण हैं । (कल्याण का उपाय बताना शास्त्र का कार्य है । यदि वह उसे बताता है तो प्रमाण है । कल्याण का निर्णय साधक की स्थिति से होता है । सर्वभक्षी को पाँच पंचनखों के भक्षण में सीमित करना उसके कल्याण का हेतु है । किंतु मेध्याहारी यदि उसी पंचनखभक्षण में प्रेरित होता है तो उसका अकल्याण हो रहा है । एवं च अधिकारी की दृष्टि से कल्याणोपाय का उपदेश आवश्यक है । केवल उत्तम अधिकारियों के लिये उपदेश होगा तो अधिकतम जनता की उन्नति का कोई मार्ग रहेगा

---

१ ख. घ. °रः सां° । २ 'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानी' ति (बृ. २.४.१०) श्रुतेः वार्तिककारीयं व्याख्यानमिह भवत्यनुसन्धेयम् ।

येन येन प्रकारेण जनैरेभिरुपासितः ॥ ११ ॥

तत्तन्मार्गानुगुण्येन साधकत्वं ह्युपैति सः । तत्प्रसादात्क्रमान्मार्गान्विशिष्टानेति मानवः ॥ १२ ॥

तत्र तत्र स्थितो देवः प्रसादं कुरुतेऽस्य तु ।

सोपानक्रमतो[1] देवा वेदमार्गस्य हेतवः ।

वेदमार्गस्थितो देवः साक्षान्मुक्तेस्तु कारणम् ॥ १३ ॥

येन येनेति । नानाविधागमोक्तेन येन येनोपाधिना परमेश्वर उपास्यते तत्तदागमानुसारेण तत्तदुपाधियुक्तः परमेश्वरो भवतीत्यर्थः । तत्प्रसादादिति । तत्तदागमप्रतिपाद्यतयाऽवस्थितस्य शिवस्य प्रसादादेवोत्तरोत्तरमुत्कृष्टान्मार्गान्साधको लभत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ सोपानक्रमत इति । तत्र तत्राऽऽगमेषु तत्तद्देवतारूपो देवः सोपानक्रमेण वेदमार्गप्राप्तौ कारणम् । स एव वेदमार्गप्रतिपादितः सन्मुक्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

ही नहीं । शिव ने अपनी समस्त प्रजा के हित को दृष्टि में रख नाना प्रकार के लोगों के लिये नाना प्रकार के शास्त्र बनाये और आज तक बना रहे हैं । सर्वज्ञ सर्वशक्ति महेश्वर ही अन्त्यकार्यपर्यन्त एकमात्र कारण हैं । अतएव सभी मार्ग अपने क्षेत्र में — अपने अधिकारियों के लिये — कल्याण का उपाय बताने वाले अतएव प्रमाण हैं । इसलिये बुद्धिमान् को मार्गों की प्रामाणिकता के खण्डन का प्रयास करना शोभा नहीं देता । तत्त्वदृष्टि से तो मार्गमात्र अप्रमाण है । अब जब रस्सी में कुछ और देखना ही है तो साँप देखें, दण्ड देखें, जलधारा देखें, क्या अंतर पड़ना है ? हाँ यह अवश्य है कि साँप देखने वाला भयभीत होगा, अन्य नहीं । इसी प्रकार इन मार्गों में भी कोई मार्ग मोक्ष का नैकटिक उपाय है, कोई आरात् । कोई अनुष्ठानकाल में भी सुखद है, कोई दुःखद । इस दृष्टि से इनका तारतम्य तो स्पष्ट करना चाहिये जिससे सबको बेहतर मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले, किंतु किसी मार्ग को गलत घोषित कर देना व्यर्थ ही है । यद्यपि यही सर्वोत्तम समन्वय है तथापि अविचारशील लोग मानना चाहते हैं कि सबकी साधनता भी एकसी है । किंतु वे यह भूल जाते हैं कि लोक में भी मार्गों का यही स्वभाव है कि यदि एक स्थान के लिये दो रास्ते होते हैं तो दोनों में या लम्बाई का, या सफाई का या अन्य कोई न कोई भेद रहता ही है । अतः सबको मार्ग मानने पर तारतम्य को मानना अनिवार्य है । यह प्रश्न हो सकता है कि लम्बे, छोटे आदि का निर्णायक क्या ? जो मार्ग मोक्ष देने में जितना अधिक सहायक है वह उतना छोटा है— यही निर्णायक है । मार्ग का कार्य ही है मार्ग की समाप्ति तक पहुँचा देना । प्रकृत में मार्गों की समाप्ति ही मोक्ष है । अतः मोक्षौपयिकता को ही श्रेष्ठता का नियामक माना जायेगा । जो मार्ग मोक्ष स्वीकारते ही नहीं उन्हें मोक्ष का साक्षात् उपाय मूर्ख ही मान सकता है । चार्वाक, मुसलमान, ईसाई आदि मोक्ष न मानने वाले मार्ग हैं । चार्वाक तो इस जन्म से अतिरिक्त ही कुछ नहीं मानता । मुसलमान आदि मत स्वर्ग-नरक में ही रुक जाते हैं, मोक्ष तक जाते नहीं । उन शास्त्रों में मोक्ष की संकल्पना ही नहीं । ऐसी स्थिति में उन्हें उन मार्गों के तुल्य मोक्षसाधन क्योंकर कहा जा सकता है ? हाँ, अपने अधिकारियों के लिये वे प्रमाण अवश्य माने जा सकते हैं । पुराण की इस सर्वधर्मसमन्वयदृष्टि में झगड़े को कोई स्थान नहीं ।

१ अतएव 'त्रयी सांख्यमि' त्यादिमहिम्नस्तोत्रव्याख्यायां प्रस्थानभेदं निरूपयामासुः सरस्वतीस्वामिनः ।

तत्रापि कर्मभागस्थो ज्ञानश्रद्धाप्रदो हरः ।
ज्ञानभागस्थितः शंभुर्ज्ञानद्वारेण मोक्षदः ॥ १४ ॥
एकरूपा परा मुक्तिस्ततस्तद्विषया मतिः ॥ १५ ॥
एकरूपा भवेन्नैव नानारूपा भविष्यति । वेदान्तः शंकरं साक्षान्निर्विशेषाद्वयात्मना ॥ १६ ॥
वक्ति मार्गान्तरान्नैवं ततो विद्या तु वेदजा ।
अतो मार्गान्तराज्जाता मतयो मुनिसत्तमाः ।
अविद्या नैव विद्याः स्युरिति सम्यङ्निरूपणम् ॥ १७ ॥

कर्ममार्गस्थ इति । कर्मकाण्डे स्थितो विविदिषाप्रद इत्यर्थः । उपनिषत्सु प्रतिपाद्यतया स्थितः शिवः स्वयाथात्म्यज्ञानजननेन मुक्तिप्रद इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु मार्गान्तरज्ञानैरपि साक्षान्मुक्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्य तेषामवस्तुविषयत्वेनाविद्यात्वं प्रतिपादयन्नौपनिषदज्ञानस्य विद्यारूपतामाह– **एकरूपेत्यादिना** । मुक्तिस्वरूपस्य सर्वेष्वपि मार्गेषु परमपुरुषार्थत्वेन संमतत्वात्तस्य नित्यत्वमेष्टव्यम् । तच्च निर्विशेषस्यैव घटते । सविशेषस्य भेदसव्यपेक्षत्वाद्भेदस्य च निर्वक्तुमशक्यत्वात्तस्य प्रागुपपादितत्वात्कल्पितत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे[1] सति भेदसापेक्षं सविशेषं मुक्तिस्वरूपमपि निवर्तेत[2] । तथा च तन्मुक्तिस्वरूपं सविशेषकं स्वर्गादिवदनित्यमेव स्यात् । अतो निर्विशेषमेव तदिति तद्गोचरं ज्ञानमपि तथाविधम् । तदिदमुक्तं **निर्विशेषाद्वयात्मनेति** । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिरेव निर्विशेषं मुक्तिस्वरूपं प्रतिपादयति । ततश्चाबाधितविषयत्वादुपनिषद्वाक्यजनितं ज्ञानमेव विद्या, मार्गान्तरात्तु नैवं निर्विशेषमुक्तिस्वरूपमवगम्यते । जीवेश्वरादि भेदादिविशेषमेव भवति । तज्जनितज्ञानानां[3] बाधितविषयत्वादविद्यात्वमतो न तेषां मुक्तिसाधनत्वमित्यर्थः ॥ १५–१७ ॥

प्रामाण्य सबका है, साधनता में तारतम्य है– यही निश्चय रखना चाहिये ।) ॥ ९ ॥ जैसे सब जलप्रवाहों का (नाली, नाला, तुच्छ नदी, महानदी, पुण्यनदी आदि का) परम गन्तव्य समुद्र है, वैसे सब मार्गों की परम समाप्ति शिव में है ॥ १० ॥ इन मार्गों द्वारा जिस-जिस प्रकार से लोग परमेश्वर की उपासना करते हैं, उस मार्ग के अनुरूप ही परमेश्वर उनकी इष्टसिद्धि कर देते हैं और उनकी कृपा से ही क्रमशः श्रेष्ठ मार्गों पर व्यक्ति चलने लगता है ॥ ११–१२ ॥ सब मार्गों के अध्यक्ष रूप से स्थित परमशिव ही साधक पर कृपा कर उसे फल देते हैं'। अन्यान्य देवता तो सीढ़ी के कदमों की जगह हैं : हर कदम अगले कदम तक पहुँचा कर कृतकार्य हो जाता है, मंज़िल तक पहुँचाना उसका काम नहीं । ऐसे ही देवता क्रमशः वेदमार्ग तक पहुँचा देते हैं । आखिरी कदम तो वही है । साथ ही फलप्रदान के लिये वे देवता द्वार पड़ते हैं : फल देते तो महादेव हैं किन्तु उनके द्वारा । जैसे तत्तद् अधिकारी द्वारा राष्ट्रपति सब सरकारी कर्मचारियों को वेतन देता है वैसे ही देवताओं द्वारा शिव फल देते हैं । वेदमार्ग पर चलने वालों के मोक्ष में केवल महेश्वर कारण पड़ते हैं, किसी देवता-द्वार की ज़रूरत नहीं पड़ती ॥ १३ ॥ वेदमार्ग में भी कर्मभाग के अध्यक्ष शिव ज्ञान में श्रद्धा उत्पन्न करा कर मोक्ष के निकट पहुँचाते हैं और ज्ञानभाग के अध्यक्ष वे ही ज्ञानद्वारा साक्षात् मोक्ष दे देते हैं ॥ १४ ॥ क्योंकि मोक्ष एकरूप है इसलिये उसे विषय करने वाला प्रमाणज्ञान भी एकरूप ही हो सकता है । (घटरूप वस्तु की प्रमा घटरूप ही होगी ।) ऐसा एकरूप ज्ञान वेदान्त ही उत्पन्न करते हैं । अन्य मार्ग तो नानाविध ज्ञान के उत्पादक हैं । अतः मतान्तरों से उत्पन्न ज्ञान अविद्या ही हैं, विद्या नहीं– यही सम्यक् स्थिति है ॥ १५–१७ ॥ इसलिये मोक्ष से अतिरिक्त

---

१ ङ. च. ०निर्वर्त्य० । २ ख. घ. छ. ज. निवर्त्येत । ङ. च. निर्वर्त्येत । ३ ग. ङ. ज. ०ज्जन्मनि तज्ज्ञाना० ।

तस्मान्मार्गान्तराणां तु प्रामाण्यं वेदवित्तमाः ॥ १८ ॥

मुक्तेरन्यत्र नात्रैव क्रमेणैवात्र मानता । अतो वेदान्तभागस्थो महादेवोऽचिरेण तु ॥ १९ ॥

मुक्तिं ददाति नान्यत्र स्थितः सोऽपि क्रमेण तु ।

ददाति परमां मुक्तिमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २० ॥

अतो वेदस्थितो मर्त्यो नान्यमार्गं समाश्रयेत् ।

वेदमार्गैकनिष्ठानां न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ २१ ॥

अत्रैव परमा मुक्तिर्भुक्तयश्चात्र पुष्कलाः ।

अतोऽधिकारिभेदेन मार्गा मानं न संशयः ॥ २२ ॥

यदि मार्गान्तरजनिता मतयोऽविद्यास्तर्हि तेषामप्रामाण्यमेवेत्याशङ्क्याऽऽह—**तस्मादिति** । **मुक्तेरन्यत्रेति** । मुक्तिव्यतिरिक्त एव विषये मार्गान्तरस्य प्रामाण्यं, न तु मुक्तौ । तत्रापि पूर्वोक्तसोपानक्रमेण वेदमार्गप्राप्तिद्वारा प्रामाण्यम् । **नान्यत्रेति** । वेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यतया शिवः साक्षान्मुक्तिप्रदः । आगमान्तरे त्ववस्थितो[1] न साक्षान्मुक्तिं ददाति । किंतूत्तरोत्तरविशिष्टमार्गप्राप्त्येति । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादावुपनिषत्स्वेवाधिगत औपनिषद इत्युपनिषदेकवेद्यस्य परशिवस्य परमपुरुषार्थप्रदत्वेन श्रुतत्वादित्यर्थः ॥ १८–२० ॥ **नान्यमार्गं समाश्रयेदिति** । वेदमार्गस्य साक्षान्मुक्तिप्रदत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ **अतोऽधिकारिति** । वेदमार्गानधिकृतान्बौद्धार्हताद्यधिकारिविशेषान्प्रति तत्तन्मार्गप्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

विषयों में ही अन्य मार्गों का साफल्य-लक्षण प्रामाण्य है । मोक्ष के लिये उनका तथाविध प्रामाण्य क्रमशः ही है ॥ १८½ ॥ अतः उपनिषदों में प्रतिपादित महादेव ही शीघ्र मोक्ष देने वाले हैं । वे ही अन्य मार्गों द्वारा साक्षात् मोक्ष नहीं देते, क्रम से ही देते हैं । यह श्रौत निश्चय है ॥ १९–२० ॥ अतः वेदमार्ग पर स्थित व्यक्ति को कभी मार्गान्तर का आश्रयण नहीं करना चाहिये । जो केवल वेदमार्ग पर स्थिर रहते हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ २१ ॥ इसी मार्ग से परम मोक्ष मिलता है और इसी पर चलने से पुष्कल भोग प्राप्त होते हैं । अन्य मार्ग अन्य अधिकारियों के लिये प्रामाणिक अवश्य हैं किंतु उत्तम मार्ग छोड़कर अधम मार्ग पर चलना मूर्खता ही है ॥ २२ ॥ इसी प्रकार ईश्वरस्वरूप के विषय में, बंधकारण के विषय में, जगत्कारण के विषय में, मोक्ष और उसके साधन के विषय में, ज्ञान के विषय में तथा अन्य विषयों में जो अन्यान्य मार्ग उपनिषद्विरुद्ध मत रखते हैं वे भी महामोह से आवृत मन्दमति वालों को समझाने मात्र के लिये हैं । यथार्थतः वे सब बातें सत्य हैं ऐसा उन शास्त्रों का भी अभिप्राय नहीं है ॥ २३–२४ ॥ जैसे दौड़ती हुई गाय को पकड़ने के लिये उसे घास दिखाना पड़ता है वैसे ही जीवपशुओं को तुच्छ इष्ट वस्तुएँ दिखाकर महादेव पहले उन्हें वश में करते हैं तथा बाद

---

१ ग. घ. ङ. च. छ. °स्थितानां न ।

ईश्वरस्य स्वरूपं च बन्धहेतौ तथैव च ।
जगतः कारणे मुक्तौ ज्ञानादौ च तथैव च ॥ २३ ॥
मार्गाणां ये विरुद्धांशा वेदान्तेन विचक्षणाः ।
तेऽपि मन्दमतीनां च महामोहावृतात्मनाम् ।
वाञ्छामात्रानुगुण्येन प्रवृत्ता न यथार्थतः ॥ २४ ॥
दर्शयित्वा तृणं मर्त्यो धावन्तीं गां यथाऽग्रहीत् ॥ २५ ॥
दर्शयित्वा तथा क्षुद्रमिष्टं पूर्वं महेश्वरः ।
पश्चात्पाकानुगुण्येन ददाति ज्ञानमुत्तमम् ॥ २६ ॥
तस्मादुक्तेन मार्गेण शिवेन कथिता अमी ।
मार्गा मानं न चामानं मृषावादी कथं शिवः ॥ २७ ॥

नन्वेषां मार्गाणां परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकानां प्रामाण्यं नोपपद्यते, प्रबलतरश्रुतिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादित्यत आह– **ईश्वरस्येत्यादिना** । तत्रेश्वररूपादौ मार्गाणां विप्रतिपत्तिरस्ति । तथा हि–तत्र 'ईश्वर एव नास्ति' इति सांख्या मीमांसकाश्च[1] । 'अस्ति पुण्यपापाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः' इति पातञ्जलाः । 'नित्यज्ञानाधारः' इति तार्किकाः । तथा 'प्रकृतिपुरुषयोरविवेकात्क्षेत्रज्ञस्य संसारः' इति सांख्यादयः । 'तस्य स्वार्जितपुण्यपापवशाद् बन्ध इति तत्कारणं प्रकृति[2]रिति[3] प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकज्ञानेन भ्रमापगमे स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः' इति सांख्यादयः । 'बुद्धिसुखदुःखादिनवगुणानामनात्मपदार्थेभ्यः पुरुषान्यथाख्यातिविरहादत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः' इति तार्किकादयः । एवमन्येषामपि वादिनां मतेषु विषयेषु भूयस्यो विप्रतिपत्तयः । एवमाद्या वेदान्तविरुद्धा अन्यमार्गेषु दृश्यन्ते । तत्सर्वमर्थजातमनादिमायया मोहितानामत एवाल्पबुद्धीनां वेदानधिकृतानां बौद्धादीनां प्रथमत एवात्यन्तसूक्ष्मपरशिवस्वरूपग्रहणसामर्थ्याभावाद्वेदविरुद्धमपि प्रतिबन्धकपापक्षयार्थं तत्तल्लोकप्राप्तिरूपफलप्रदानेन वशीकरणार्थं च प्रथममीश्वरेणोपदिष्टं न परमार्थः इत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ तत्र दृष्टान्तः –**दर्शयित्वेति** । यथा गां जिघृक्षन्पुरुषः प्रथमं तृणादिकं दर्शयित्वा तां गृह्णात्येवं परमेश्वरोऽपि तत्तन्मार्गानुरूपमिष्टं प्रापयित्वा (व्य) वशीकृत्य तत्तन्मार्गोक्तज्ञानेन[4] प्रतिबन्धकपापक्षये सति तेषां चित्तपरिपाकानुसारेण निःश्रेयससाधनं परमपुरुषार्थभूतं ज्ञानमपि क्रमेण प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

में शनैः शनैः परम सत् का ग्रहण करा देते हैं ॥ २५–२६ ॥ अतः उक्त प्रकार से शिवप्रोक्त ये सभी मार्ग प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं । शिव मिथ्याभाषी कैसे होंगे ? ॥ २७ ॥ वे तो महाकरुणावान् सर्वज्ञ व निर्दोष देव हैं, गलती कर नहीं सकते । प्रमाण होने पर भी भोग-मोक्ष दोनों की सिद्धि करने वाला

---

१ मीमांसायां साक्षात्तन्निषेधाभावेऽपि सृष्टिजन्मनाशयोरनभ्युपगमात् कर्मण एव फलप्राप्त्यभ्युपगमात् सिद्धेऽर्थे शास्त्र-प्रामाण्यानभ्युपगमाच्चार्थत ईश्वरनिषेधः कृतः । सांख्यैस्तु मुखतोमुख्यासिद्धिः सूत्रिता । २ ङ. °तिपु° । ३ ग. °ति पातञ्जलाः । प्रकृतिपुरुषविधे° । ४ ङ.° र्गोपयुक्त° ।

महाकारुणिको देवः सर्वज्ञो निर्मलः खलु ।

तथाऽपि वेदो मार्गाणामुत्तमः सर्वसाधकः ॥ २८ ॥

सर्वमुक्तं समासेन मार्गप्रामाण्यनिर्णयम् ।

एवं बुद्ध्वा श्रुतौ श्रद्धां कुरुध्वं यत्नतो द्विजाः ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मार्गप्रामाण्यवर्णनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रसादक्रममादरात् ।

यस्य विज्ञानमात्रेण प्रसादः शांकरो भवेत् ॥ १ ॥

पुरा सनत्कुमाराख्यो मुनिः सत्यपरायणः । ब्रह्माणं ब्रह्मसंपन्नमपृच्छदिदमादरात् ॥ २ ॥

सोऽपि सर्वजगद्धाता सह तेन मुनीश्वराः । नारायणमनाद्यन्तमपृच्छदिदमुत्तमम् ॥ ३ ॥

सोऽपि नारायणः श्रीमान्सह ताभ्यामुमापतिम् । कैलासशिखरे रम्ये समासीनमतिप्रभुम् ॥ ४ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या स्तुत्वा रुद्रेण सुव्रताः । अपृच्छद्देवदेवेशमिदं परमकारणम् ॥ ५ ॥

मार्गान्तराणामपि प्रतिपादितं प्रामाण्यमुपसंहरति–तस्मादिति । यस्मादुक्तप्रकारेण शिवेनैवोपदिष्टाः सर्वे मार्गास्तस्मात्तत्सर्वं प्रमाणमेव । अन्यथा मृषावादित्वप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मार्गप्रामाण्यवर्णनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

उत्तम मार्ग तो वेद ही है, अन्य मार्ग निकृष्ट हैं ॥ २८ ॥ यों मैंने मार्गों की प्रामाणिकता के निर्णय के विषय में सब स्पष्ट कर दिया । इसे समझ कर आप लोग यत्नपूर्वक श्रुति पर श्रद्धा कीजिये ॥ २९ ॥

शङ्करप्रसाद का क्रम नामक तेईसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं श्रद्धापूर्वक प्रसाद का (कृपा का) क्रम बताता हूँ । इसे जान लेने मात्र से शिवकृपा हो जाती है ॥ १ ॥ प्राचीन काल में सनत्कुमार ने ब्रह्मा से इस विषय में जिज्ञासा की थी ॥ २ ॥ ब्रह्मा को इसका निश्चय न होने से सनत्कुमार को साथ ले वे विष्णु भगवान् के पास गये । उन्होंने भी इस पर प्रकाश डालना अपनी सामर्थ्य के बाहर समझा और वे तीनों कैलास पर स्थित उमापति महादेव के पास गये ॥ ३–४ ॥ वहाँ पहुँच उन्होंने शंभु से प्रसादक्रम पूछा ॥ ५ ॥ महादेव ने करुणा कर

देवदेवोऽपि सर्वज्ञः साम्बः सर्वफलप्रदः । प्राह गम्भीरया वाचा विष्णवे मुनिपुंगवाः ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्व्यासः साक्षात्प्रत्यक्षशंकरात् । सनत्कुमारात्सर्वज्ञादुक्तवान्मम सादरम् ॥ ७ ॥

अहं भाग्यवतामद्य युष्माकं मुनिपुंगवाः ।

केवलं कृपया वक्ष्ये तदेव परया मुदा ॥ ८ ॥

नित्यकर्माद्यनुष्ठानात्पापनाशो भवत्यतः । चित्तशुद्धिर्भवेज्जन्तो रुद्रस्यैव प्रसादतः ॥ ९ ॥

तया संसारदोषस्य दर्शनं भवति स्वतः ।

ततो विरक्तिः संसारात्पुनस्त्यागश्च कर्मणाम् ॥ १० ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये 'तत्र तत्र स्थितो देवः प्रसादं कुरुत' इति तत्तदुपाधिविशिष्टस्येश्वरप्रसादकर्तृत्वप्रतिपादनात्तत्प्रसादोऽप्युपाधिवशान्नानाविध इति सूचितम् । ते च मुमुक्षुणा पुरुषेण क्रमेण संपादनीयाः । तत्र कीदृक्प्रसादानन्तरं कीदृक्प्रसाद इति क्रमजिज्ञासायां तन्निर्णयायाध्याय आरभ्यते– **अथात** इति ॥ १–८ ॥ **नित्यकर्मादीति** । आदिशब्देन नैमित्तिकसंग्रहः । फलादिविरहेणेश्वरार्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमादिविहितयोर्नित्यनैमित्तिकयोर्यदनुष्ठानं तेन तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयो भवति । अयं प्रथमः प्रसादः । **अत** इति । अस्मादेव पापक्षयात्मकात्प्रसादाच्चित्तशुद्धिर्भवति । कालुष्यहेतोः पापस्य तदा प्रक्षीणत्वादित्यर्थः । **रुद्रस्यैवेति** । संहृतिव्यापारस्तमोगुणा(णोपा)धिकः शिवो रुद्रस्तत्प्रसादात्संहर्त्रीश्वरसाक्षात्कारेणात्र विरक्तिर्जायते । पुनस्तत्प्रसादादेव वैराग्यवशाद्यज्ञदानादिकर्मत्यागलक्षण उत्तमाश्रमस्वीकारो भवतीत्यर्थः । रुद्रो हि सर्वं संहरत्यतस्तत्प्रसादादस्यापि प्रवृत्तिमार्गनिवर्तकत्वं[1] युक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥

गंभीर आवाज़ में विष्णु आदि के लिये रहस्योद्घाटन किया ॥ ६ ॥ प्रत्यक्ष शंकर रूप सनत्कुमार से व्यास जी नें उसका ज्ञान पाया और स्नेहवश मुझे (सूत को) उसका उपदेश दिया ॥ ७ ॥ मैं भी केवल कृपा कर आज आपको वही बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पाप नष्ट होते हैं । पाप निवृत्त होने से जन्तुओं का चित्त शुद्ध होता है । पापनाश व चित्तशुद्धि भी होती तभी है जब शिवार्पणबुद्धि से कर्म किये जायें । वैसे कर्म करने से प्रसन्न हुए शिव की कृपा से ही तत्त्वज्ञान को प्रतिबद्ध करने वाले पाप क्षीण होते हैं । अन्यथा नित्याद्यनुष्ठान भी कर्माधिकारमात्र देता है और भावी दुर्गति को होने नहीं देता । शिवार्पण रूप से न करें तो नित्यादि कर्म भी मोक्षोपाय नहीं बन पाते । अतः शिवप्रसाद ही पापक्षय का हेतु है, नित्यादि तो निमित्तमात्र हैं ॥ ९ ॥ चित्तशुद्धि होने पर शिवकृपा से संसार में दोषदृष्टि

---

१ ध. °त्तिमोगनि° ।

विरिञ्चस्य प्रसादेन ततः शान्त्यादिसाधनम् ।

प्रसादाद्वैष्णवात्साक्षान्मुमुक्षुत्वं पुनः स्वतः ॥ ११ ॥

विघ्नराजप्रसादेन गुरुपादपरिग्रहः । तेन योगाभिधं[1] ध्यानमैश्वरं ज्ञानसाधनम् ॥ १२ ॥

पुनः सांख्याभिधं ज्ञानं पार्वत्यास्तु प्रसादतः ।

सांख्यस्योत्पत्तिवेलायां मोचकस्य शिवस्य तु ॥ १३ ॥

प्रसादो जायते तेन संसारस्य विमर्दनम् ।

संसारमोचकः साक्षाच्छिव एव न चापरः ॥ १४ ॥

विरिञ्चस्येति । **ततः** कर्मत्यागानन्तरं सृष्टिव्यापारस्य रजोगुणोपाधिकस्य प्रसादेन शमादिकं ज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गत्वेनान्त्याश्रमधर्मत्वेन विहितं साधनकलापं लभत इत्यर्थः । ब्रह्मणो रजोगुणवशात्प्रवर्तकत्वात्तत्प्रसादस्यापि शान्त्यादिसाधनेषु प्रवृत्तिहेतुत्वं युक्तम् । **प्रसादाद्वैष्णवादिति** । सत्त्वगुणोपाधिको विष्णुस्तदीयप्रसादाद्भवति मुमुक्षुत्वम् । दग्धार्धकायः पुरुषो विचारमन्तरेण झटिति जले निमज्जत्येवमेव संसारतप्तस्य पुरुषस्य या मोक्षविषया हठात्प्रवृत्तेरिच्छा सा **मुमुक्षुत्वं** तद्विष्णोः प्रसादाज्जायत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवं त्रिमूर्तिप्रसादेन साधनचतुष्टयसंपन्नस्य गुरूपसत्तिकरो विनायकप्रसाद इत्याह–**विघ्नराजेति** । **योगाभिधमिति** । गुरूपदिष्टेश्वरस्वरूपविषयं साक्षात्कारज्ञानसाधनं[2] योगाख्यं प्रत्यस्तमितविजातीयप्रत्ययसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपकं ध्यानं गुरुप्रसादाल्लभत इत्यर्थः ॥ १२ ॥ **सांख्याभिधमिति** । सम्यक् ख्यायते ज्ञायतेऽनयेति साक्षात्कारज्ञानजननी बुद्धिः संख्या, तज्जन्यं सांख्यं, तथाविधं ज्ञानं पार्वतीप्रसादाल्लभत इत्यर्थः । उक्तं हि– 'पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी' इति (४.१३.३४) ॥ **संसारस्य विमर्दनमिति** । साक्षात्कारज्ञानोत्पत्तिसमये जायमानः परशिवप्रसाद एव साक्षात्संसारस्य निवृत्तिं करोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

होती है जिससे वैराग्य और सर्वकर्मत्याग होता है । सर्वत्र परमेश्वर-कृपा कारण है । अन्यथा संसार में दोष देखकर लोग उन्हें सुधारने में ही प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १० ॥ ब्रह्मा की कृपा से शमादि साधनों की प्राप्ति होती है । विष्णु के प्रसाद से मुमुक्षुता मिलती है ॥ ११ ॥ गणेश की कृपा से गुरुचरणों का लाभ होता है जिससे ज्ञानसाधनभूत योगनामक ईश्वरविषयक ध्यान संभव होता है ॥ १२ ॥ भगवती पार्वती की कृपा से शुद्धत्वमर्थ का ज्ञान होता है । जब यह ज्ञान होता है तब शिव की वह कृपा होती है जो संसार का बाध कर मुक्त कराने वाले अखण्डाकार ज्ञान को उत्पन्न करती है । संसार से मुक्त कराने वाले शिव ही हैं, अन्य नहीं ॥ १३–१४ ॥ अन्य देवता उक्त क्रम से ही मोक्षोपयोगी हैं, सीधे नहीं । अनेक जन्मों में श्रौत-स्मार्त मार्ग पर चलने वाला अप्रमादी साधक ही मोचक परमशिव की कृपा पा सकता है, यह वैदिक सिद्धान्त है ॥ १५–१६ ॥ कृपा-प्राप्ति के कारणों में प्रणव नामक महामंत्र

---

१ घ. °मिधं ज्ञान° । ङ. °भिसंधान° । २ घ. °रस्तत्साध° ।

अन्याश्च देवताः सर्वाः प्रणाड्यैव हि मोच(चि) काः ।
अनेकजन्मसंसिद्धः श्रौतस्मार्तपरायणः ॥ १५ ॥
क्रमेणैव महादेवं मोचकं परमेश्वरम् ।
प्राप्नुयादप्रमादेन मुमुक्षुरिति हि श्रुतिः ॥ १६ ॥
प्रसादहेतुभूतेषु प्रणवाख्यो महामनुः ।
वरिष्ठः[1] कथितः प्राज्ञैर्देवतासु विशेषतः ॥ १७ ॥
विष्णुर्मुख्य इति प्रोक्तस्तथा सकलधर्मतः ।
रुद्राराधनमेवोक्तं वरिष्ठमिति वैदिकैः ॥ १८ ॥

ओंकारस्य प्रसादेन विष्णोश्चैव प्रसादतः । रुद्राराधनवाञ्छा स्यात्तदाराधनतः पुनः ॥ १९ ॥
ज्ञानमानन्दमद्वैतं परं ब्रह्माधिगच्छति । प्रसादादेव रुद्रस्य ज्ञानं मोक्षैकसाधनम् ॥ २० ॥
देवयानाभिधा विष्णोर्गतिः स्रष्टुः प्रसादतः । ब्राह्मण्यं कीर्तिरिन्दोश्च रवेरारोग्यमेव तु ॥ २१ ॥
अग्नेरैश्वर्यमतुलं पितृयाणो[2] यमस्य तु । पुरंदरस्य सौभाग्यं बलं वायोः प्रसादतः ॥ २२ ॥

प्रणाड्यैवेति । उक्तरीत्या साक्षात्संसारमोचको निरुपाधिकः परशिव एव । सोपाधिकास्तु ब्रह्मविष्ण्वाद्या वैराग्यादिजननेन परम्परयैव मोचका इत्यर्थः । **अप्रमादेनेति** । 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्' इत्येषा श्रुतिः प्रमादरहितस्य सावधानस्य मुमुक्षोः परशिवप्राप्तिं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ **वरिष्ठः कथित इति** । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ १७–१९ ॥

वरिष्ठ है । देवताओं में विष्णु मुख्य हैं जो कृपाप्राप्ति के हेतु बनते हैं । सब धर्माचरणों में रुद्र की आराधना मुख्य उपाय है कृपालाभ का ॥ १७–१८ ॥ ओंकार और विष्णु की प्रसन्नता से रुद्र की आराधना करने की इच्छा होती है । आराधना से रुद्रकृपा द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है जो आनंदरूप अद्वैत परब्रह्म को विषय करता है । ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है ॥ १९–२० ॥ विष्णु की प्रसन्नता से देवयान मार्ग से गति मिलती है । ब्रह्मा की कृपा से ब्राह्मण योनि मिलती है । चंद्र की कृपा से कीर्ति और सूर्य की कृपा से आरोग्य प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ अग्नि की प्रसन्नता से अतुल ऐश्वर्य तथा यमराज की कृपा से पितृयाण मार्ग मिलता है । इन्द्र का प्रसाद सौभाग्य और वायु की कृपा बल देने में कारण है ॥ २२ ॥ विघ्नराज विनायक की प्रसन्नता से निर्विघ्न कार्यसिद्धि हो जाती है । कार्तिकेय की कृपा से सब कुछ बिना प्रयत्न सिद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥ सरस्वती के प्रसाद से आसानी से वाग्वैभव प्राप्त होता है । लक्ष्मी की कृपा से बिना यत्न ही समग्र ऐश्वर्य मिल जाता है ॥ २४ ॥ दुर्गा की कृपा से सर्वत्र विजय मिलती है । जो लोग कामना वाले होते हैं उन्हें सब देवता सांसारिक फल देते हैं ।

---

१ घ. ङ. वरिष्ठैः । २ ङ. पितृयाणं ।

विघ्नराजस्य देवस्य कार्यसिद्धिरविघ्नतः । षण्मुखस्य प्रसादेन सर्वसिद्धिरयत्नतः ॥ २३ ॥

भारत्याश्च प्रसादेन वाग्विभूतिरयत्नतः । श्रीदेव्यास्तु प्रसादेन सर्वैश्वर्यमयत्नतः ॥ २४ ॥

दुर्गादेव्याः प्रसादेन सर्वत्र विजयो भवेत् । कामिनां देवताः सर्वाः सांसारिकफलप्रदाः ॥ २५॥

कामनारहितानां तु शुद्धिद्वारेण देवताः । महादेवप्रसादस्य हेतुभूता भवन्ति हि ॥ २६ ॥

महादेवप्रसादस्तु न हेतुः कस्यचिद् द्विजाः । स्वयं भुक्तिकरः पुंसां कामिनामचिरेण तु ॥ २७॥

स्वयं मुक्तिकरः साक्षात्कामनारहतिस्य तु[1] । चिरेणैव तु कालेन शिवस्यैव प्रसादतः ॥ २८ ॥

देवता भुक्तिदा एव मुक्तिदा न स्वतन्त्रतः । महादेवप्रसादेन समः कश्चिन्न विद्यते ॥ २९ ॥

महादेवप्रसादेन खलु विष्णुपदं द्विजाः । ब्रह्मेन्द्रादिपदं चापि न स्वतः सर्वदेहिनाम् ॥ ३० ॥

प्रसादे सति देवस्य शिवस्य परमात्मनः ।
वैदिकानां तथाऽन्येषामपि मुक्तिर्हि सिध्यति ॥ ३१ ॥

ज्ञानमानन्दमिति । सत्यज्ञानानन्दैकरसमित्यर्थः ॥ २०–२४ ॥ **कामिनामिति** । फलकामनापुरःसरं देवताराधनं कुर्वतां विष्ण्वाद्या देवता यथोदीरितदेवयानप्राप्त्यादिरूपसांसारिकफलप्रदाः । निष्कामाणां तु प्रतिबन्धकपापनिर्हरणेन चित्तशुद्धिजननद्वारा परमेश्वरप्रसादहेतव इत्यर्थः ॥ २५–२६ ॥ एवं देवतान्तरप्रसादस्य परशिवप्रसादहेतुत्वमभिधाय तत्प्रसादस्य माहात्म्यं प्रपञ्चयति–**महादेवेत्यादिना** ॥ २७–३१ ॥

जो साधक कामना वाले नहीं होते, सब देवता उन्हे शुद्धि प्रदान कर महादेव की कृपा प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं ॥ २५–२६ ॥ महादेव की कृपा स्वंय अमोघ है, उसे आगे किसी का शेष नहीं बनना पड़ता । कामना वालों को शिवकृपा झट भोग दे देती है । निष्काम साधकों को वह कृपा स्वयं ही मोक्ष दे देती है ॥ २७¹/₂ ॥ अन्य देवता भोग व मोक्ष शिवकृपा द्वारा ही दे पाते हैं अतः उन्हें विलम्ब लगता है । शिवकृपा को किसी की अपेक्षा नहीं अतः तुरन्त फललाभ होता है । अतः महादेव की कृपा के समान कुछ नही है ॥ २८–२९ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि पद भी शिवकृपा से ही प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ३० ॥ वैदिक व अन्यों का मोक्ष शिवकृपा होने पर ही संभव है ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, संकर तथा पाषण्डी–सभी शिवकृपा से मोक्ष पा लेते हैं । सब वैदिक एवं स्त्रियाँ भी महादेव प्रसाद से मुक्त होने योग्य हैं इसमें कहना ही क्या ? ॥ ३२–३३ ॥ गधे, ऊँट और पेड़ भी ईश कृपा से बिना प्रयत्न के ही मोक्ष पा जाते हैं ॥ ३४ ॥ कोई गर्भस्थ ही मुक्त हो जाता है,

---

१ छ. तु ॥ अचिरेण तु ।

ब्राह्मणाश्च विमुच्यन्ते प्रसादेन शिवस्य तु ।

क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः शूद्रा अपि च संकराः ॥ ३२ ॥

[1]पाषण्डिनो विमुच्यन्ते प्रसादेन शिवस्य तु ।

किं पुनर्वैदिका विप्राः स्त्रियः सर्वा मुनीश्वराः ॥ ३३ ॥

खरोष्ट्रतरवोऽपीशप्रसादेनैव केवलम् । अयत्नेन विमुच्यन्ते[2] नात्र संदेहकारणम् ॥ ३४ ॥

गर्भस्थो मुच्यते कश्चिज्जातमात्रेण कश्चन । बाल्ययौवनवार्धक्याद्यवस्थासु च कश्चन ॥ ३५ ॥

पाषण्डाश्च विमुच्यन्ते प्रसादेन महेशितुः[3] । वैदिकाश्च खरोष्ट्रादिजातयश्च तथैव च ॥ ३६ ॥

पांसवः पर्वतायन्ते पांसूयन्ते च पर्वताः । शिवप्रसादयुक्तानामाज्ञयैव तु केवलम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मनारायणाद्यास्तु देवता[4] अखिला अपि ।

विजायन्ते च नश्यन्ति ह्याज्ञयैव प्रसादिनः ॥ ३८ ॥

प्रसादस्य च माहात्म्यं शिवस्य परमात्मनः ।

अपि देवा न जानन्ति श्रुतयश्च न संशयः ॥ ३९ ॥

शंकरोऽपि महातेजाः शांकरी वा मुनीश्वराः ।

शिवप्रसादमाहात्म्यं किंतु जानाति वा न वा ॥ ४० ॥

॥ ३२–४० ॥

कोई पैदा होते ही मोक्ष पाता है तथा अन्य लोग बाल्य, यौवन या वृद्ध अवस्थाओं में मुक्त होते हैं ॥ ३५ ॥ पाखण्डी तथा वैदिक एवं खर, उष्ट्र आदि जातियाँ सबी महादेवप्रसाद से मोक्षलाभ करते हैं ॥ ३६ ॥ जिन पर शिव की कृपा है उनकी आज्ञा से पहाड़ तिल जितने और तिल पहाड़ जितने हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ ब्रह्मा, नारायण आदि सब देवता महेश्वर-आज्ञा से ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं ॥ ३८ ॥ देवता व श्रुतियाँ भी शिव की कृपा की महत्ता निःसन्देह नहीं जानते ॥ ३९ ॥ शिव व पार्वती भी शिवप्रसाद का पूरा माहात्म्य जानते हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता ॥ ४० ॥ आप लोग भी महादेव कृपा की प्राप्ति के लिये नित्य यथाशक्ति गुरुचरणों का पूजन कीजिये ॥ ४१ ॥ सब देवताओं से सेवित व्याघ्रपुर में केवल अपने स्वरूप के अनुसंधान की प्रसन्नता से ही परमशिव दभ्रसभा में नृत्य करते हैं । अम्बिका

---

१ घ. छ. पखण्डिनो । २ छ. °न्ते प्रसादेन शिवस्य तु ॥ ३४ ॥ ग° । ३. ग. °न शिवस्य तु । वै° । घ. °न विनेशि° । ४ छ. °वताः सकला ।

भवन्तोऽपि महादेवप्रसादाय मुनीश्वराः । गुरुपादाम्बुजं नित्यं पूजयध्वं यथाबलम् ॥ ४१ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे पुण्ये सर्वदेवसमावृते । स्वस्वरूपानुसंधानप्रमोदेनैव केवलम्[1] ॥ ४२ ॥

साक्षा[2]द्भ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम् । अम्बिकासहितं नित्यं भजध्वं परया मुदा ॥ ४३ ॥

श्रीकालहस्तिनाथस्य प्रणामालोकनादयः । अपि शंभोः प्रसादाय भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ ४४ ॥

वाराणस्यां महादेवप्रणामालोकनादयः । अपि शंभोः प्रसादाय भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ ४५ ॥

प्रसादलाभाय हि [3]धर्मसंचयः प्रसादलाभाय हि देवतार्चनम् ॥
प्रसादलाभाय हि देवतास्मृतिः प्रसादलाभाय हि सर्वमीरितम् ॥ ४६ ॥

शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः ।
शिवप्रसादेन विना न देवताः शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः ॥ ४७ ॥

शिवप्रसादेन समो न विद्यते शिवप्रसादादधिको न विद्यते ॥
शिवप्रसादेन शिवस्य संनिधिः शिवप्रसादेन विशुद्धताऽऽत्मनः ॥ ४८ ॥

शिवप्रसादेन युतस्य वैदिकं न विद्यते कर्म जनस्य सुव्रताः ।
शिवप्रसादेन युतस्य तान्त्रिकं न विद्यते कर्म तथैव किंचन ॥ ४९ ॥

तथाविधप्रसादलाभाय तत्साधनमुपदिशति–**भवन्तोऽपीत्यादिना** ॥ ४१–४५ ॥ न केवलं महादेवप्रसादलाभे गुरूपसत्तिपुरःसरं तदर्चनमेव कारणमपि तु वर्णाश्रमविहितं यज्ञदानादिकं देवतान्तरार्चनादिकं च यन्निष्कामेण क्रियते तत्सर्वमपि परम्परया शिवप्रसादसाधनमित्याह–**प्रसादलाभायेत्यादिना** ॥ ४६–४७ ॥

समेत उन देवनेता का आप लोग नित्य भजन कीजिये ॥ ४२–४३ ॥ श्रीकालहस्तीश्वर का दर्शन प्रणाम आदि भी शिवकृपा पाने का उपाय है ॥ ४४ ॥ वाराणसी में महादेव का दर्शन, प्रणाम आदि भी शिव-प्रसाद देता है ॥ ४५ ॥ महादेव का प्रसाद पाने के लिये ही धर्म एकत्र किया जाता है । देवाराधन, देवस्मृति आदि सबका उद्देश्य शिवकृपा पाना है ॥ ४६ ॥ शिवप्रसाद के बिना भोग व मोक्ष दोनों नहीं मिलते । देवता भी उसी से अनुकूल रहते हैं । सभी कुछ शिवकृपा से ही प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ शिवप्रसाद के समान या उससे अधिक कुछ नहीं है । शिवकृपा मिल गयी उसे कोई वैदिक तान्त्रिक आदि कर्म करने की आवश्यकता नहीं ॥ ४९ ॥ शिव के कृपापात्र का पुनः जन्म-मरण नहीं होता । वह तो

---

१ ङ. °म् ॥ ४२ ॥ तत्र साक्षादभ्रम° । २ ग. घ. छ. °क्षादभ्र° । ३ ग. च. छ. कर्मसंचय । घ. कार्यसंचयः ।

शिवप्रसादेन युतस्य सुव्रता न जन्मनाशौ भवतः सदैव तु ।

शिवप्रसादेन युतः स्वयं शिवः शिवप्रसादस्तु शिवप्रसादतः ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शंकरप्रसादक्रमवर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रसादस्य तु वैभवम् ।

अत्यन्तश्रद्धयोपेताः शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥

पुरा कश्चिन्महापापी दुर्घटो नाम नामतः ।

जात्या शूद्रो [1] महाक्रुद्धो महासाहसिकोत्तमः [2] ॥ २ ॥

अभूत्तेन महामोहाद् ब्राह्मणानां शतं हतम् । गवां शतं हतं तेन दग्धं गेहशतं तथा ॥ ३ ॥

अथ चौर्यं कृतं तेन नराणामविचारतः । बलात्परस्त्रियो भुक्ता बहुशो दृष्टिगोचराः ॥ ४ ॥

वापीकूपतडागादिजलं तेनैव दूषितम् । वर्णाश्रम [3] समाचारमर्यादा तेन भेदिता ॥ ५ ॥

सहस्रजन्मतः पूर्वं दुर्घटेन मुनीश्वराः । शिवयोगिकरे तेन सुवर्णं निष्कमुत्तमम् ॥ ६ ॥

॥ ४८–५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शंकरप्रसादक्रमवर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरादिस्थानेषु परमेश्वरमुपासीनानामुक्तप्रभावः परशिवप्रसादो जायत इत्युक्तम् । तत्रापि श्रीमद्व्याघ्रपुरे परमेश्वरोपासनं महापातकादिदोषदूषितस्यापि शिवप्रसादहेतुर्भवतीति दर्शयितुमध्याय आरभ्यते–**अथात** इति ॥ १ ॥

स्वयं शिव ही हो जाता है । शिवप्रसाद का अपूर्व वैशिष्ट्य यह है कि वह स्वयं शिवप्रसाद से ही होता है ॥ ५० ॥

प्रसादवैभव नामक चौबीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं प्रसाद का वैभव (माहात्म्य) सुनाता हूँ, श्रद्धासहित इस शुभ प्रसंग को सुनिये॥१॥

---

१ ज. महाक्रूरो । २ ङ. ⁰कोऽधमः । ३ च. "सदाचा⁰ ।

दत्तं तेन मतिस्तस्य जाता कालेन शोभना ।

अहो मोहेन पापनि कृतानि सुबहूनि च ॥ ७ ॥

मया तेषां न पश्यामि विनाशस्य तु कारणम् ॥

ब्राह्मणा वेदविद्वांसो वदन्ति नरकान्मम ॥ ८ ॥

इति व्यकुलचित्तस्य दुर्घटस्य दुरात्मनः ॥ मतिप्रदानं कृतावान्ब्राह्मणः कश्चिदा[१]स्तिकः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच–श्रीमद्व्याघ्रपुरं नाम स्थानमस्ति महीतले ।

यत्र नृत्यति विश्वात्मा[२] शिवः संसारमोचकः ॥ १० ॥

यस्य माहात्म्यविज्ञानाद्विष्णुर्विश्वजगन्मयः । ततापं परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ ११ ॥

यस्य माहात्म्यविज्ञानाद् ब्रह्मा विश्वामराधिपः । ततापं परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १२ ॥

यस्य माहात्म्यविज्ञानादिन्द्रः शस्त्रभृतां वरः । ततापं परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १३ ॥

यस्य माहात्म्यविज्ञानाद्देवा यक्षाश्च किंनराः । तप्तवन्तो महाघोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १४ ॥

यस्य माहात्म्यविज्ञानान्मुनयो मुनिसत्तमाः । तप्तवन्तो महाघोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १५ ॥

॥ २–२१ ॥ **नमोन्तं शिवमन्त्रमिति** । उक्तं हि शिवमाहात्म्यखण्डे चतुर्थेऽध्याये शिवपूजाविधौ–''नमोन्तेन शिवेनैव

प्राचीन काल में एक दुर्घट नाम का शूद्र था । वह महाक्रोधी था और डकैती आदि करने में परम निपुण था ॥ २ ॥ उसने अपने अपराधी जीवन में कम से कम सौ ब्राह्मण और सौ गायें अवश्य मारी थीं व सौ घर अवश्य जलाये थे ॥ ३ ॥ बिना विचरे उसने चोरियाँ की थी और पराई स्त्रियों से बलात्कार किया था ॥ ४ ॥ बावड़ी, कुए, तालाब आदि के जल को उसने दूषित किया था और वर्णाश्रम मर्यादा यथासंभव भंग की थी ॥ ५ ॥ एक हज़ार जन्म पूर्व उस दुर्घट ने किसी शिवयोगी को एक स्वर्णमुद्रा का दान किया था ॥ ६ ॥ उस पुण्य के फलस्वरूप इस जन्म में उसे अचानक विचार आया 'अहो ! खेद है कि मैंने धनादि के लोभ में बहुतेरे पाप कर लिये हैं, उनका प्रायश्चित्त क्या होगा, समझ नहीं आता । ब्राह्मण लोग, जो वेदादि के ज्ञाता हैं, मुझे नाना नरकों की प्राप्ति होगी यही बताते हैं ।' यो व्याकुल मन वाले उस दुर्घट को किसी आस्तिक ब्राह्मण ने यह उपदेश दिया ॥ ६–९ ॥

ब्राह्मण बोला–पृथ्वी पर श्रीमद् व्याघ्रपुर नामक स्थान है जहाँ संसार बंधन से छुड़ाने वाले साक्षाद्

---

१ घ. ज. दास्तिकाः । ३ ख. ग. घ. ज. सर्वात्मा ।

यत्र सर्वेश्वरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवान्हरिः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १६ ॥

यत्र सर्वेश्वरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवानजः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १७ ॥

यत्र वज्री हरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवान् द्विजाः ।
तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १८ ॥

यत्र दृष्ट्वा हरं देवा अशेषा आस्तिकोत्तमाः । यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धविद्याधरादयः ॥ १९ ॥

प्रसादं लब्धवन्तस्तु स्वाधिकारानुरूपतः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ २० ॥

सूत उवाच— इत्येवं ब्राह्मणेनोक्तो दुर्घटः पुण्यगौरवात् ।
श्रीमद्व्याघ्रपुरं गत्वा श्रद्धया परया सह ॥ २१ ॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्नात्वा नित्यमतन्द्रितः ।
नमोन्तं शिवमन्त्रं तु जपित्वाऽष्टोत्तरं शतम् ॥ २२ ॥

स्त्रीणां पूजा विधीयते । विरक्तानां च शूद्राणामेवं पूजा प्रकीर्तिता" इति । एवं चास्मिन्पुराणे शूद्रस्य शिवाय नम इत्येवं पञ्चाक्षरमन्त्रः पूजादौ प्रयोक्तव्यत्वेनाभिमतः । पुराणान्तरे तु षडक्षरमन्त्रेण प्रणवं विहायावशिष्टेन पञ्चाक्षरेण शूद्रादीनामपि पूजादि कार्यमित्युक्तम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । सदों नमः शिवायेति शिवमन्त्रं समाश्रयेत् ॥ पञ्चाक्षरः सप्रणवो द्विजराज्ञोर्विधीयते । विट्शूद्रजन्मनां वाऽपि स्त्रीणां निर्बीज एव हि ॥ सबीजः सस्वरः सौम्यो विप्रक्षत्रिययोर्द्वयोः । नेतरेषामितीशानः स्वयमेवाऽऽह शंकरः ॥ दुर्वृत्तो वृत्तहीनो वा पतितोऽप्यन्त्यजोऽपि वा । जपेत्पञ्चाक्षरीं विद्यां जपेनैवाऽऽप्नुयाच्छिवम्" इति ॥ २२–२६ ॥

महादेव आनन्दोल्लास से नृत्य किया करते हैं ॥ १० ॥ उस स्थान के माहात्म्य को समझने के कारण जगन्मय महाविष्णु ने वहाँ घोर तप किया था । उससे वे ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते थे ॥ ११ ॥ इसी प्रकार वहाँ की महत्ता समझकर भगवान् की प्रीति के लिये ब्रह्मा, इंद्र, देव, यक्ष, किन्नर व मुनियों ने वहाँ घोर तपस्या की ॥ १२–१५ ॥ वहीं नृत्य करते हुए उमापति का दर्शन कर परमेश्वरप्रसाद श्रीहरि ने पाया था । ब्रह्मा, इंद्र व सब तपोरत आस्तिकों ने अपने-अपने अधिकारानुसार वहीं भगवद्दर्शन और उनका प्रसाद प्राप्त किया था । वहीं जाकर तुम भगवान् की उपासना करो ॥ १६–२० ॥

सूत जी बोले—यों ब्राह्मण की बात सुनकर पुण्यवश दुर्घट को उस पर श्रद्धा हो गयी और वह व्याघ्रपुर चला गया ॥ २१ ॥ वह प्रतिदिन स्नान कर तीन प्रदक्षिणायें करता और एक सौ आठ बार 'शिवाय नमः' इस मंत्र का जप किया करता था ॥ २२ ॥ दभ्रसभा में नाचती शिवमूर्ति का दर्शन तथा उसे प्रणाम कर भस्मधारी रुद्रभक्त ब्राह्मण को धन-धान्य देता था ॥ २४ ॥ वह केवल सत्य बोलता, हर तरह की

श्रीमदभ्रसभामध्ये प्रनृत्यन्तमुमापतिम् । दृष्ट्वा भूमौ महाभक्त्या दण्डवत्प्रणिपत्य च ॥ २३ ॥

रुद्रभक्ताय विप्राय भस्मनोद्धूलिताय च । शिवज्ञानैकनिष्ठाय दत्त्वा धान्यं धनं मुदा ॥ २४ ॥

सत्यवाक् शौचसंपन्नः कामक्रोधादिवर्जितः । वत्सराणां त्रयं तत्र उवासातिप्रियेण सः ॥ २५ ॥

देवदेवो महादेवो महाकारुणिकोत्तमः । प्रसादमकरोत्तस्य दुर्घटस्य दुरात्मनः ॥ २६ ॥

शिवप्रसादेन स दुर्घटः पुनः समस्तलोकाधिपतिर्बभूव ।

विमुक्तिमप्याप महत्तरामिमां परप्रमातृप्रथनैकलक्षणाम् ॥ २७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

सूत उवाच–भूयोऽपि देवदेवस्य प्रसादस्य तु वैभवम् ।

प्रवक्ष्यामि समासेन शृणुत श्रद्धया सह ॥ १ ॥

परप्रमातृप्रथनैकलक्षणामिति । प्रमाताऽन्तःकरणोपहितः साक्षी, परं निरतिशयं प्रमातुरुपाधिविलयेन यत्प्रथनं ख्यापनं तदेकमेव लक्षणं यस्यास्तामित्यर्थः ॥ २७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

त्रयोविंशोऽध्याये–"संसारमोचकः साक्षाच्छिव एव न चापरः । अन्याश्च देवताः सर्वाः प्रणाड्यैव हि मोचिकाः ॥" इति यदुक्तं तद्विष्णुना स्ववचनेनैव प्रतिपादितमिति समर्थयितुमध्याय आरभ्यते–**भूयोऽपीति** ॥ १–१२ ॥

स्वच्छता रखता और काम क्रोध आदि नहीं करता था । इस तरह तीन साल वह प्रेमपूर्वक रहा ॥ २५ ॥ तदनंतर करुणामय महादेव ने उस पर कृपा की ॥ २६ ॥ भगवान् के प्रसाद से वह समस्त लोकों का अधिपति बन गया तथा उस कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुआ जहाँ जीव की निरतिशय ब्रह्मरूपता स्फुट रहती है ॥ २७ ॥

प्रसादवैभव नामक पचीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा–पुनः आप लोगों को महादेव के प्रसाद की महत्ता संक्षेप में बताता हूँ, श्रद्धा सहित सुनिये ॥ १ ॥

प्राचीन काल में एक सत्यसन्ध नाम का ब्राह्मण था । शुभ आचार व शुद्ध चित्त वाला वह उत्तम विप्र शास्त्रोक्त कर्म भक्तिभावसे करता था । उसने भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा की तथा प्रतिदिन पुष्पादि से उनकी आराधना किया करता था ॥ ३–४ ॥ नाना

पुरा कश्चिद् द्विजश्रेष्ठः सर्वलक्षणसंयुतः । सत्यसंधाभिधः शुद्धो विष्णुभक्तो विशेषतः ॥ २ ॥

अभूत्तेन कृतं सर्वं श्रुतिस्मृत्युदितं मुदा । प्रतिष्ठा च कृता विष्णोर्बहुशः पण्डितोत्तमाः ॥ ३ ॥

आराधितश्च भगवान्विष्णुर्विश्वजगन्मयः । दिने दिने महाभक्त्या सुगन्धकुसुमादिभिः ॥ ४ ॥

वैष्णवा विविधा मन्त्रास्तेन जप्ता दिने दिने ।

चिरंतनानि स्थानानि विष्णोर्दृष्टानि सादरम् ॥ ५ ॥

वैष्णवा मनुजास्तेन पूजिताश्च दिने दिने । सर्वस्वं वैष्णवे दत्तं सत्यसंधेन सादरम् ॥ ६ ॥

पुनर्नारायणः श्रीमाञ्शङ्खचक्रगदाधरः । प्रत्यक्षमभवत्तस्य प्रसन्नः पङ्कजेक्षणः ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा सत्यसन्धस्तु प्रसन्नेन्द्रियमानसः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह ॥ ८ ॥

गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः समाराध्य यथाबलम् । स्तोतुमारभते विष्णुं विश्वलोकैककारणम् ॥ ९ ॥

सत्यसंध उवाच--विष्णवे विश्वलोकानां हेतवे विविधात्मने ।

वेदवेदान्तनिष्ठानामात्मभूताय ते नमः ॥ १० ॥

कृष्णाय क्लेशहन्त्रे च मम केनापि हेतुना । प्रत्यक्षाय प्रबोधाय विदुषामात्मने नमः ॥ ११ ॥

केशवायातिशुद्धाय केवलाय परात्मने । केषांचिच्छुद्धचित्तानां प्रसन्नाय नमो नमः ॥ १२ ॥

वैष्णव मंत्रो का जप करता था । श्रद्धापूर्वक वैष्णव तीर्थों का दर्शन उसने किया था ॥ ५ ॥ वैष्णव मनुष्यों की पूजा वह करता था तथा उसने अपना सर्वस्व विष्णु के कार्य में ही समर्पित कर दिया था ॥ ६ ॥ उस प्रसन्न हो शंख-चक्र-गदाधारी नारायण ने उसे दर्शन दिया ॥ ७ ॥ उन्हें देख सत्यसन्ध परम आनन्दित हुआ । उन्हें प्रणाम किया व उनकी स्वसामर्थ्यानुसार पूजा कर सत्यसंध ने उनकी स्तुति की ॥ ८–९ ॥

सत्यसंध बोला–समस्त संसार के कारण, नान रूप धारण करने वाले, वेद-वेदान्तों में प्रतिपादित, आत्मरूप विष्णु को प्रणाम है ॥ १० ॥ क्लेशों को समाप्त करने वाले, ज्ञानरूप, विद्वानों के आत्मा, किसी कारण मेरे सामने प्रत्यक्ष हुए आप कृष्ण को प्रणाम है ॥ ११ ॥ अतिशुद्ध, अद्वितीय, परमात्मा, कुछेक शुद्ध चित्त वालों पर प्रसन्न होने वाले आप केशव को नमस्कार है ॥ १२ ॥ मूँज की तरह चमकदार बालों वाले, (अवतार विशेषों में) मुण्डित सिर वाले, संन्यासियों के दुःख समाप्त करने वाले, केवल मौन का अभ्यास करने वाले मूर्ख को भी मोक्ष प्रदान करने वाले आपको प्रणाम है ॥ १३ ॥ श्रीवत्स से चिह्नित, श्रेष्ट,

मुञ्जकेशाय[1] मुण्डाय[2] मुण्डिनामार्तिहारिणे ।

मौननिष्ठस्य मूर्खस्य मुक्तिदाय नमो नमः ॥ १३ ॥

श्रीवत्साङ्काय वर्याय वरदाय परात्मने । वञ्चकानामगम्याय वस्तुभूता[3]य ते नमः ॥ १४ ॥

श्रीपते भूपते तुभ्यं गोपते ममरूपिणे । ममकारमहामोहविनाशाय नमो नमः ॥ १५ ॥

पीतवासाय पीताय पापपञ्जरहारिणे । पापकर्मपराणां तु भञ्जकाय नमो नमः ॥ १६ ॥

विष्वक्सेनाय[4] विश्वाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।

विश्वविज्ञानरूपाय निर्मलाय नमो नमः ॥ १७ ॥

विश्वरूपाय विश्वासलभ्याय विदितात्मने ।

विश्वोत्तीर्णाय विश्वस्य साक्षिरूपाय ते नमः ॥ १८ ॥

मुरारिणे मुहूर्ताय मुहूर्तस्य विधायिने । मुहूर्तं भजतां नृणां मुक्तिदाय नमो नमः ॥ १९ ॥

शौरिणे[5] शार्ङ्गिणे तुभ्यं शङ्खकुन्देन्दुरूपिणे ।

शाकमूलपराणां तु शान्तिदाय नमो नमः ॥ २० ॥

पद्मनाभाय पद्मायाः पतये पद्मचक्षुषे । हृत्पद्मकर्णिकामध्ये समासीनाय ते नमः ॥ २१ ॥

मुकुन्दाय मुकुन्दस्य महामूर्खस्य रक्षसः । हर्त्रे भर्त्रे विशिष्टानामात्मने विदुषां नमः ॥ २२ ॥

मुञ्जा इवात्यायताः केशा यस्य स तथोक्तः । **मुण्डिनामिति** । यतीनामित्यर्थः ॥ १३–१५ ॥ **भञ्जकायेति** । हिंसकायेत्यर्थः । "भञ्ज नाशने" इति धातुः ॥ १६–२१ ॥ **मुकुन्दस्येति** । मुकुन्दो नाम कश्चिद्राक्षसोऽप्यपरस्ति । तस्य हन्त्र इत्यर्थः ॥ २२ ॥

वर-प्रदाता आप वास्तविक परमात्मा को नमस्कार है जो वंचकों को कभी प्राप्त नहीं होते । (विष्णु के वक्षस्थल पर बालों के घूंघट का नाम श्रीवत्स है ।) ॥ १४ ॥ श्रीदेवी व भूदेवी के पति, गोपालक, मेरे निजरूप आपको बारंवार प्रणाम है जो आप ममतारूप महामोह का विनाश कर देते हैं ॥ १५ ॥ पीताम्बर धारण करने वाले, हिरण्यवर्ण वाले, पाप-निवारक तथा पापियों के हिंसक आपको पुनःपुनः प्रणाम

---

१ मुंजतेश्चौरादिकस्य मार्जनमर्थः । मुज्ज्यते मृज्यतेऽनेनेति मुञ्जस्तृणविशेषः । मुञ्जाइव केशा यस्य इति विग्रहः । हैमे तु इन्यन्तो मुञ्जकेशी इति विष्णो र्नामोक्तम् । २ अवतारविशेषेष्वेवर्मिति योज्यम् । यद्वा मुण्डोपनिषदस्यास्ति तत्प्रतिपादकत्वयेति मुण्डोऽयं तस्मै–इत्यर्थः । ३ ङ. "तात्मने न०" । ४ विश्वगिति समन्ततोभावेऽव्ययम् । 'कयाचितौ विश्वगिवागजौ गजा' विति किराते (१.३६) । विश्वक् सेना अस्येति विश्वक्सेनो विष्णुः । ५ कृष्णपितामहस्य नाम शूर इति । अपत्यार्थ इञि शौरिः सिद्ध्यति । शूरस्यायं शौरः कृष्णः स रूपमस्येति शौरी विष्णुस्तस्मा इति व्याख्ययम् ।

गोविन्दाय गवां नित्यं पालकाय परात्मने । नन्दगोपाय गुप्ताय नमः सर्वस्य गुप्तये ॥ २३ ॥

भूधराय भुजंगस्य महाकोपच्छिदेऽचिरात् । भूतनाथाय भूतानामाधाराय नमो नमः ॥ २४ ॥

वैकुण्ठाय विशिष्टानां विशिष्टज्ञानदायिने । विशिष्टाय विरिञ्चादिदेवेभ्यश्च नमो नमः ॥ २५ ॥

क्षीरोदशायिने साक्षात्क्षीरोदस्यापि हेतवे । निराधाराय नित्याय नित्यानन्दाय ते नमः ॥ २६ ॥

यज्ञरूपाय यज्ञस्य फलप्राप्त्येकहेतवे । यज्ञानां पतये तुभ्यं यज्ञगम्याय ते नमः ॥ २७ ॥

जनार्दनाय दैत्यानां शत्रवे शक्तिदायिने । स्वभक्तानां विशुद्धानां विशेषेण नमो नमः ॥ २८ ॥

वासुदेवाय वस्वादिदायिने वासवादिभिः । पूजिताय पुराणाय पुंसे पूर्णात्मने नमः ॥ २९ ॥

दामोदराय[१] देवानां शत्रुनाशैकहेतवे । दान्तचित्तजनस्यास्य रक्षकाय नमो नमः ॥ ३० ॥

अच्युतायाखिलस्यास्य साक्षिणेऽच्युतवस्तुभिः ।
असक्ताय सुसक्ताय [२]स्वसंवेद्याय ते नमः ॥ ३१ ॥

हरये हारकेयूरकटकादिविभूषणैः । अलंकृताय कल्याणशरीराय नमो नमः ॥ ३२ ॥

हृषीकेशाय हेमादिधनधान्यप्रदायिने । हृदि चिन्तयतां नित्यं नमः सत्यपरात्मने ॥ ३३ ॥

नारायणाय नरकार्णवतारणाय नानाविधस्य जगतः स्थितिकारणाय ।
मोहावृतस्य निखिलस्य जनस्य सद्यः श्रेयस्कराय पुरुषाय नमः परस्मै ॥ ३४ ॥

नन्दगोपायेति । भीमसेनो भीम इति वत् नन्दगोप एव नन्दः, तं गोपायतीति नन्दगोपः श्रीकृष्णः ॥ २३ ॥ भुजङ्गस्येति । यमुनामध्यवर्तिनः कालियाख्यस्येत्यर्थः ॥ २४–४० ॥

है ॥ १६ ॥ चारों ओर जिनकी सेनायें उपस्थित हैं, सर्वरूप, जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण, सर्वज्ञान रूप उन निर्मल आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥ जगद्रूप से उपलब्ध होने वाले, विश्वास से मिलने वाले, अज्ञात स्वरूप वाले, संसार से अतीत, समस्त-साक्षी आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ मुहूर्त आदि काल रूप व मुहूर्तादि के कारण, मुहूर्त भर भी भजन करने वालों को मोक्ष देने वाले आप मुरारी को प्रणाम है ॥ १९ ॥ शूरसेन के वंश में अवतरित होने वाले, शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करने वाले, शंख, कुंद या इन्दु जैसे धवल वर्ण वाले, शाकाहार व्रत रखने वालों को मोक्ष देन वाले आपको नमस्कार है ॥ २० ॥ जिनकी नाभि से पद्म निकला है, जिनके नेत्र पद्मपत्र के समान हैं, जो हृदयपद्म की नोक पर विराजते

---

१ दमेन उदारा उत्कृष्टा मतिः दमोदारा तस्या विषयो दामोदरः । सहस्रनामभाष्ये तु 'दामानि लोकनामानि तानि यस्योदरान्तरे । तेन दामोदरो देवः श्रीधरस्तु रमाश्रितः ॥' इति दर्शितम् । हरिवंशादौ तु मात्रा दाम्ना बद्धत्वाद् दामोदर इत्युक्तम्, तत्र दाम रज्जुरुदरे यस्येति विग्रहः । २ ग. स्वयंवे" ।

सूत उवाच-एवं भक्त्या हरिं स्तुत्वा सत्यसंधो महाद्विजः ।
प्रसादं कुरु मे देव मुच्येयं येन बन्धनात् ॥ ३५ ॥
इति तं प्रार्थयामास सत्यसंधो जनार्दनम् । जनार्दनोऽपि भगवान्सर्वभूतहिते रतः ॥ ३६ ॥
सत्यवागनसूयश्च सम्यग्ज्ञानमहोदधिः । प्राह गम्भीरया वाचा सत्यसंधं प्रति द्विजाः ॥ ३७ ॥
सत्यसंध महाभक्त मम सत्यपरायण । श्रौतस्मार्तैकनिष्ठानामुत्तमोत्तम सुव्रत ॥ ३८ ॥
नाहं संसारमग्नानां साक्षात्संसारमोचकः । ब्रह्मादिदेवताश्चान्या नैव संसारमोच(चि)काः ॥ ३९ ॥

हैं उन आप पद्मापतिको (लक्ष्मीपतिको) प्रणाम है ॥ २१ ॥ मुकुन्द नामक महामूर्ख राक्षस का विनाश करने वाले, विशिष्ट भक्तों का स्वयं भरण-पोषण करने वाले तथा विद्वानों को आत्मतया ज्ञात आप मुकुन्द को प्रणाम है ॥ २२ ॥ सदा गायों का पालन करने वाले, नन्द-रक्षक, गुप्त, सबका बचाव करने वाले गोविंद को नमस्कार है ॥ २३ ॥ धरा को (शेषरूप से, या गोवर्द्धन को कृष्ण रूप से) धारण करने वाले, कालिय नाग के घोर क्रोध को तुरंत समाप्त करने वाले, भूतनाथ व भूतों के आधार आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥ सब कुण्ठाओं से रहित, विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान देने वाले, ब्रह्मा आदि देवताओं की अपेक्षा विशिष्ट आप महाविष्णु को प्रणाम है ॥ २५ ॥ क्षीरसागर में शयन करने वाले, क्षीरसागर के भी कारणरूप, निराधार, नित्य व नित्य-आनन्द रूप आपको प्रणाम है ॥ २६ ॥ यज्ञरूप, यज्ञ का फल देन वाले, यज्ञेश्वर व यज्ञप्राप्य आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ दैत्यों के शत्रु एवं अपने विशुद्ध भक्तों को विशेषतः शक्ति देने वाले आप जनार्दन को प्रणाम है ॥ २८ ॥ इन्द्र आदि द्वारा पूजित, धन आदि देन वाले पूर्णस्वरूप, पुराण पुरुष आप वासुदेव को नमस्कार है ॥ २९ ॥ देवताओं के शत्रुओं का नाश करने वाले तथा इस (सत्यसन्ध नामक) नियन्त्रित चित्त वाले की रक्षा करने वाले आप दामोदर को प्रणाम है ॥ ३० ॥ सर्वसाक्षी, अपने में सदा रहने वाले गुणों के कारण भी कहीं आसक्ति न रखने वाले, संसार की हर वस्तु में सद् आदि रूप से सदा संश्लिष्ट रहने वाले, स्वसंवेद्य आप अच्युत को प्रणाम है ॥ ३१ ॥ हार, केयूर (मुकुट), कटक (कड़ा) आदि भूषणों से विभूषित शुभ शरीर वाले आप श्रीहरि को प्रणाम है ॥ ३२ ॥ जो हृदय में नित्य आपका चिंतन करते हैं उन्हें सुवर्ण आदि धन-धान्य देने वाले हृषीकेश नामक परमात्मा को प्रणाम है ॥ ३३ ॥ नरक समुद्र से उबारने वाले, नाना प्रकार के संसार के एकमात्र स्थितिकारण, अज्ञान से आवृत सब लोगों का तुरंत कल्याण करने वाले परम पुरुष नारायण को नमस्कार है ॥ ३४ ॥

सूतजी बोले-सत्यसन्ध ने यों विष्णु की स्तुति कर उनसे प्रार्थना की, 'हे देव ! मुझ पर कृपा कर भवबन्धन से मुक्ति दिलाइये ।' ॥ ३५ ॥ भगवान् जनार्दन, जो मानो सम्यग्-ज्ञान के अथाह सागर हैं,

शि[1]व एव हि जन्तूनां महासंसारवर्तिनाम् ।
संसारमोचकः साक्षात्सर्वज्ञः साम्ब ईश्वरः ॥ ४० ॥
न तस्य कार्यं करणं वस्तुतो विद्यतेऽनघ ।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्चेतनो विद्यते क्वचित् ॥ ४१ ॥
तथाऽपि परमा शक्तिर्विविधा तस्य शूलिनः । श्रूयते सर्ववेदेषु स्व[2]ज्ञानं च बलं स्वकम् ।
स्वव्यापारश्च तस्यास्य स्वतःसिद्धो न चान्यतः ॥ ४२ ॥

एवं विष्णुः स्वस्य ब्रह्माद्यन्यदेवतानां च साक्षात्संसारमोचकत्वाभावं परमेश्वरस्य च साक्षात्संसारमोचकत्वमभिधाय तदुपपादयितुं परमेश्वरस्य स्वस्मादतिशयं दर्शयति–**न तस्य कार्यमित्यादिना** । **तस्य** परशिवस्य **वस्तुतः** परमार्थतो भूतारब्धत्वात्कार्यं शरीरं रूपग्रहणादौ **करणं** चक्षुरादीन्द्रियं तदुभयमपि नास्ति । एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयनिषेधेन तदुपादानभूतमूलाविद्याऽपि परमार्थतस्तस्मिन्नास्तीत्युक्तं भवति । किंच तत्सदृशस्तदधिको वा पुरुषः कुत्रापि परमार्थतो नैव विद्यते । यद्यप्येवमेव परमार्थदृष्टौ **तथाऽपि तस्य** परशिवस्य [3]परानिरतिशया सच्चिद्रूपिण्येकैव **शक्तिर्विविध**शक्यप्रतियोगिवशान्नानाविधैव सर्वेषु वेदेषु **श्रूयते** । अत एव त्रयोदशेऽध्याय एकस्याः परशक्तेरुपाधिवशान्नानाभावोऽधस्तात्प्रतिपादितः 'जगत्कारणमापन्नम्' इत्यादिना । तथा निरतिशयं ज्ञानं कृत्स्नजगन्निर्माणादिसामर्थ्यलक्षणं **बलं** तन्निष्पाद्याक्रिया चैतत्त्रितयमपि तस्य स्वभावसिद्धं न त्वन्यापेक्षमित्यर्थः । अयमेवार्थः श्वेताश्वतरशाखायामाम्नायते–"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ॥ इति ॥ ४१–४२ ॥

गंभीर वाणी में सत्यन्ध को मार्गनिर्देश करने के लिये बोले–॥ ३६–३७ ॥

विष्णु ने कहा–हे सत्यसन्ध ! तुम मेरे श्रेष्ठ भक्त हो, सत्यपरायण हो, श्रौत-स्मार्त धर्माचरण पर दृढ निष्ठा वाले हो तथा उत्तम निश्चय वाले हो ॥ ३८ ॥ यह समझ लो कि संसारसागर में डूबते हुए लोगों को मैं सीधे ही बचा नहीं सकता । ब्रह्मा आदि अन्य देवता भी अकेले ही यह कार्य कर नहीं सकते ॥ ३९ ॥ इसे करने के लिये हम सब को जिनका सहारा लेना पड़ता है वे शिव ही संसार के सब जन्तुओं को सीधे ही बिना किसी अन्य की अपेक्षा के–मुक्त करने वाले हैं ॥ ४० ॥ वस्तुतः उन साम्ब ईश्वर का स्थूल या सूक्ष्म कोई शरीर नहीं । न उनके समान कोई है और न उनसे अधिक ॥ ४१ ॥ एवमपि त्रिशूलधारी उन महादेव की शक्ति विविध आकार वाली है । उनका ज्ञान, बल और क्रिया तीनों सर्वथा स्वतंत्र हैं ॥ ४२ ॥ मेरा व ब्रह्मा आदि का ज्ञान आदि भी उन्हीं की कृपा से है । अतः वे ही भवमोचक हैं ॥ ४३ ॥ मैं व ब्रह्मा आदि देव उनकी कृपा-प्रापकतारूप द्वार से ही मोक्षप्रद हैं ॥ ४४ ॥ शिव से प्राप्त प्रसाद ही साक्षात् मोक्षहेतु है । वे सत्य

१ ख. शिवो हि सर्वज° । २ ग. °ज्ञानस्य व° । ३ परमा ।

मम ब्रह्मादिदेवानामपि तस्य प्रसादतः । विज्ञानादित्रयं यस्मात्स एव भवमोचकः ॥ ४३ ॥

अहं ब्रह्मादिदेवाश्च प्रसादात्तस्य शूलिनः । प्रणाड्यैव हि संसारमोचका नात्र संशयः ॥ ४४ ॥

प्रसादो मुक्तिदः साक्षाच्छिवात्सत्यादिलक्षणात् ॥ ४५ ॥

अप्रसक्तभवाच्छुद्धादसङ्गात्सर्वसाक्षिणः । अम्बिकासहितादस्मात्सर्वज्ञादेव नान्यतः ॥ ४६ ॥

मम ब्रह्मादिदेवानामपि साक्षाच्छिवेच्छया । भोगमोक्षप्रदः पुंसां प्रसादो जायतेऽनघ ॥ ४७ ॥

तस्मात्प्रसादश्चान्येषां मम चाऽऽश्रित्य शूलिनः ।

प्रसादं भोगमोक्षाय न स्वयं नात्र संशयः ॥ ४८ ॥

पुनः पूर्णप्रसादाय सत्यसंध मम प्रिय । महादेवं महात्मानं भज कारुणिकोत्तमम् ॥ ४९ ॥

महादेवं समाश्रित्य वाञ्छितं[1] नाऽऽप्नुयाद्यदि ॥

महादेवो महादेवं कथमन्यं समाश्रयेत् ॥ ५० ॥

नामतश्चार्थतश्चापि महादेवो महेश्वरः । तदन्ये केवलं देवा महादेवा न तेऽनघ ॥ ५१ ॥

एवं विष्णुः शिवस्य ज्ञानबलक्रियाणां स्वाभाविकत्वेनातिशयमुपपाद्य स्वस्यान्येषां च ज्ञानादित्रितयं तत्प्रसादलभ्यमिति दर्शयति– **मम ब्रह्मेति** । **स एवेति** । यस्माच्छिवस्य ज्ञानादित्रितयं स्वभावसिद्धं तस्मात्स एव साक्षात्संसारमोचकः । वयं तु परम्परयैवेत्यर्थः ॥ ४३–४४ ॥ यदीयप्रसादः साक्षान्मुक्तिप्रदस्तस्य परशिवस्य नैजं रूपमाह–**शिवात्सत्यादिलक्षणादित्यादिना** । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्युक्तस्वरूपादित्यर्थः । **अप्रसक्तभवादिति** । अप्रसक्तोऽप्राप्त एव संसारो यस्मिन्स तथोक्तः । अत एव शुद्धः । एतदुभयमपि कुत इत्यत आह–**असङ्गादिति** । मायातत्कार्येषु क्वचिदपि न सज्जत इत्यत आह–**असङ्गादिति** । मायातत्कार्येषु क्वचिदपि न सज्जत इत्यसङ्गः "असङ्गो न हि सज्जते" इति श्रुतेः । असङ्गत्वमपि कुत इत्यत आह–**सर्वसाक्षिण** इति । यस्मात्सर्वस्य मायातत्कार्यप्रपञ्चस्यासौ साक्षी ताटस्थ्येन द्रष्टा, ततस्तत्स्वरूपानुप्रवेशादसङ्ग इत्यर्थः ॥ ४५–४७ ॥ **तस्मात्प्रसाद** इति । अन्येषां ब्रह्मादीनां मम च यः प्रसादोऽसौ परमेश्वरस्य प्रसादमाश्रित्यैव पुंसां भोगमोक्षप्रदो न स्वतन्त्र इत्यर्थः ॥ ४८–४९ ॥ **महादेवं समाश्रित्येति** । **महादेवमाश्रि**तेनेष्टफलानवाप्तौ तस्य साधकस्य तत्फलप्रापणाय स **महादेवः कथमन्यं महादेवं समाश्रयेत्** । स्वस्मादन्यस्य महतो देवस्याभावादित्यर्थः ॥ ५० ॥

आदि स्वरूप वाले हैं । संसार का उनसे कभी संस्पर्श नहीं हुआ । अतः वे शुद्ध हैं, आसक्तिरहित हैं व सबके साक्षिमात्र हैं । अम्बिका समेत इन सर्वज्ञ देव से मिला प्रसाद ही मोचक है, अन्य का प्रसाद नहीं ॥ ४५–४६ ॥ मेरा व ब्रह्मा आदि का भी प्रसाद जो भोग या मोक्ष देता है वह भी इन्हीं की इच्छा

---

१ घ. °तं प्राप्नु° ।

महादेवं विना यो मां भजते श्रद्धया सह ।

नास्ति तस्य विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ५२ ॥

सर्वमुक्तं समासेन मम भक्तस्य तेऽनघ ।

शिवादन्यं परित्यज्य शिवं साम्बं सदा भज ॥ ५३ ॥

सूत उवाच—एवमुक्त्वा हरिः श्रीमान्किरीटी गरुडध्वजः ।

सर्वविज्ञानसंपन्नस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ५४ ॥

सत्यसंधो महाधीमान्महाविष्णोः प्रसादतः । परित्यज्याखिलान्देवानाश्रितोऽभवदीश्वरम् ॥ ५५ ॥

ईश्वरस्य प्रसादेन सत्यसंधो महाद्विजः ।

ज्ञानं वेदान्तजं लब्ध्वा विमुक्तो भवबन्धनात् ॥ ५६ ॥

भवन्तोऽपि द्विजश्रेष्ठाः शिवादन्यत्तु दैवतम् । परित्यज्य प्रसादाय भजध्वं शिवमव्ययम् ॥ ५७ ॥

एतदेवोपपादयति—**नामत** इति । महांश्चासौ देवश्चेतियो महादेवशब्दार्थस्तदर्थपर्यालोचनादपि परमेश्वर एव महादेवस्तथा नामतोऽपि स एव महादेवस्तदन्ये तु केवलं देवा एव । अतः परमेश्वरादन्यो महादेवो नास्तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ **महादेवं विनेति** । महादेवेन सहैव मम विष्णोर्मूर्तिराराधनीयेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ५२–५४ ॥

से ॥ ४७ ॥ अतः मुझ समेत अन्य सबकी कृपा शिवकृपा के आधार पर ही भोग या मोक्ष देने में समर्थ है ॥ ४८ ॥ अतः प्रिय सत्यसन्ध ! शिव की पूरी कृपा पाने के लिये तुम करुणामय महादेव का भजन करो ॥ ४–९ ॥ महादेव का सहारा लेने पर तुम्हारा इष्ट अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें मेरी तरह किसी अन्य के आलंबन की आवश्यकता नहीं ॥ ५० ॥ महेश्वर नामतः और अर्थतः, दोनों तरह महान् देव हैं । अन्य हम सब देव तो हैं पर महान् नहीं ॥ ५१ ॥ जो महादेव की आराधना बिना किये केवल मेरी उपासना करता है उसे करोड़ों जन्मों में भी संसार से मोक्ष नहीं मिल सकता ॥ ५२ ॥ यों मैंने तुम्हारे मोक्ष का उपाय बता दिया । अब तुम अन्य सब छोड़कर साम्ब सदाशिव का ही भजन करो ॥ ५३ ॥

सूतजी बोले—इस प्रकार सत्यसन्ध को मार्गनिर्देश कर सर्वज्ञ गरुडध्वज हरि वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५४ ॥ विष्णुकृपा से सत्यसंध ने भी अन्य देवताओं को छोड़ ईश्वर की शरण ली ॥ ५५ ॥ ईश्वरप्रसाद

सर्वमुक्तं समासेन युष्माकं मुनिपुंगवाः ।
मम वाक्येऽतिविश्वासं कुरुध्वं यत्नतो द्विजाः ॥ ५८ ॥
अतिरहस्यमिदं कथितं मया श्रुतिपरम्परया च समागतम् ।
मुनिपरम्परया च समागतं न कथितव्यमशिष्टजनस्य तु ॥ ५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवभक्तिं समासतः ।
यया भुक्तिर्विमुक्तिश्च मुनीन्द्राः सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥
भक्तिर्बहुविधा ज्ञेया भवानीसहितस्य तु । एका शंकरसायुज्यश्रद्धा सारतरा परा ॥ २ ॥
अन्या शंकरसारूप्यश्रद्धाऽतीव शिवप्रिया । अपरा शिवसामीप्यश्रद्धा वेदविदां वराः ।
इतरा शिवसालोक्यश्रद्धाऽभीष्टफलप्रदा ॥ ३ ॥

॥ ५६–५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथास्य परशिवप्रसादस्य हेतुभूता भक्तिविशेषाः प्रदर्श्यन्ते– **अथात** इति । **यया भुक्तिर्विमुक्तिरि**ति । **यया** शिवभक्त्या ईश्वरप्रसाद[1] हेतुभूतयेत्यर्थः ॥ १ ॥ **शंकरसायुज्ये**ति । सायुज्यसारूप्यसामीप्यसालोक्यरूपा मुक्तिविशेषाः । तत्र सायुज्यं नाम प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण[2] तदात्मनाऽवस्थानम् । अतस्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्तद्विषया श्रद्धा मुख्या शिवभक्तिः । सारूप्यं नाम रुद्रलोकादौ शिवसमानरूपतयाऽवस्थानम् । विभिन्नरूपस्यैव जीवस्य समीपदेशवर्तित्वं सामीप्यम् । तल्लोकमात्रे वर्तनं सालोक्यम् । एते चोत्तरोत्तरं निकृष्टाः । एतद्विषया श्रद्धा च शिवभक्तिरित्यर्थः ॥ २–३ ॥

से उसे वेदान्त-ज्ञान प्राप्त हुआ और वह भवबंधन से मुक्त हो गया ॥ ५६ ॥ आप लोग भी अन्य देवताओं को छोड़ अव्यय शिव का ही प्रसाद-प्राप्ति के लिये भजन करिये ॥ ५७ ॥ प्रसाद के सम्बन्ध में सार्थवाद सभी कुछ बता दिया है । आप मेरी बात पर विश्वास कीजिये और शिवप्रसाद पाने का प्रयत्न कीजिये ॥ ५८ ॥ श्रुति व मुनियों की परम्परा से प्राप्त यह अतिगुप्त विषय आज मैंने आपको स्पष्ट किया है । किसी अशिष्ट व्यक्ति को इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ ५९ ॥

शिवभक्तिविचार नामक छब्बीसवाँ अध्याय

अब मैं संक्षेप में शिवभक्ति के सम्बन्ध में बताऊँगा । सभी देहधारियों को शिवभक्ति से ही भोग

---

१ क. ध. °दभू° । २ घ. °ण तादात्म्येना° ।

अपरा च शिवज्ञानश्रद्धा पाशनिकृन्तनी ॥ ४ ॥

अन्या वेदशिरःश्रद्धा साक्षाद्विज्ञानदायिनी । अपरा श्रवणश्रद्धा प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ ५ ॥

इतरा मननश्रद्धा नृणां संभावनाप्रदा । अन्या देवेश्वरध्यानश्रद्धारूपा महत्तरा ॥ ६ ॥

अपरोद्धूलनश्रद्धा भस्मना पापनाशिनी । त्रिपुण्ड्रधारणश्रद्धा तदन्या तत्त्वदायिनी ॥ ७ ॥

रुद्राक्षधारणश्रद्धा चापि भक्तिरुदीरिता । षडक्षरजपश्रद्धा चापि भक्तिर्महत्तरा ॥ ८ ॥

शिवलिङ्गार्चनश्रद्धा चापि भक्तिरनुत्तमा । लिङ्गार्चनदिदृक्षा च महाभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

अनुमोदनमीशस्य पूजायां भक्तिरुच्यते । पूजोपकरणश्रद्धा चापि भक्तिरुदीर्यते ॥ १० ॥

शिवोत्सवदिदृक्षा च शिवभक्तिर्महत्तरा । तथैवोत्सवसेवा च भक्तिरुक्ताऽतिशोभना ॥ ११ ॥

तथैवोत्सवसेवार्थमागतानां महात्मनाम् । अन्नपानप्रदानं च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ १२ ॥

शिवज्ञानश्रद्धेति । शिवस्वरूपविषयं यद्वेदान्तजनितं ज्ञानं तच्छ्रद्धेत्यर्थः ॥ ४–५ ॥ **संभावनाप्रदेति** । गुरुशास्त्रेणानुमतेऽपि परतत्त्वेऽसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां संदेहो जायते । ते [१]चानुकूलयुक्त्यनुसंधानात्मके मननेन निरस्येते । अतो मननश्रद्धा संभावनाप्रदेत्यर्थः ॥ ६–९ ॥

व मोक्ष प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (शरीर, मन और वाणी से सेव्य के सन्तोष के लिये जो कुछ किया जाये वह भक्ति है : 'भक्ति भंजनं कायेन मनसा वाचा वा निष्पाद्यो भजनीयस्य तुष्टिहेतुर्व्यापारः भजव्यामानपुरुषनिष्ठः' (न्या. रत्न. पृ ३१३ प्र. द्वा.) । कुछ संप्रदाय प्रेम को ही भक्ति कहते हैं । किंतु प्रेम भक्ति का फल है । कोटिरुद्रसंहिता में कहा है 'भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तम्' (४३.३४)–भक्ति से प्रेम होता है । एवं च प्रेम भक्ति नहीं उसका कार्य है । अतः पूर्वोक्त व्यापार जव प्रेमलाभार्थ हो तब भक्ति कहा जायेगा । भक्ति के ही साधन व साध्य दो रूप मानना व्यर्थ है । साधन भक्ति और साध्य प्रेम है ।) भवानी समेत शंकर की भक्ति बहुत प्रकार की है । शंकर के सायुज्य में श्रद्धा सारिष्ठ भक्ति है (यहाँ श्रद्धा का अर्थ तादृश उपासना है) । शंकर के सारूप्य में श्रद्धा अन्य भक्ति है । ऐसे ही शिवसामीप्य और शिवसालोक्य में श्रद्धा (अर्थात् तत्तन्मोक्षफलक उपासनायें) भी शिवभक्ति के प्रकार हैं ॥ २–३ ॥ सब पाशों को काटने वाली शिवज्ञानश्रद्धा भी शिवभक्ति है (शिवविषयक उपनिषज्जनित ज्ञान में निष्ठा रखना या उसे पाने की कोशिश करना शिवज्ञानश्रद्धा है) ॥ ४ ॥ वेदान्तश्रद्धा ज्ञानप्रद भक्ति है । (वेदान्त सत्यबोधक हैं इस निश्चय से उनका अभ्यास वेदांतश्रद्धा है) । श्रवणश्रद्धा, मननश्रद्धा और निदिध्यासनश्रद्धा भी शिवभक्ति के भेद हैं ॥ ५–६ ॥ भस्मोद्धूलन में श्रद्धा पापों को नष्ट करती है । (सर्वत्र श्रद्धा अनुष्ठान पर्यंत समझनी चाहिये) ।

---

१ अनुकूलेति सन्देहानुकूलेत्यर्थः ।

महादेव[1] कथादीनां श्रवणेच्छा महर्षयः । महाभक्तिरिति प्रोक्ता महामाहेश्वरैर्जनैः ॥ १३ ॥

कथाश्रवणकाले तु शिवस्य परमात्मनः । विकारः स्वरनेत्रादेर्भक्तिरुक्ता महात्मभिः ॥ १४ ॥

उद्यानकरणं शंभोः शिवभक्तिरुदाहृता[2] । वापीकूपत[3] डागादिकरणं च मनीषिभिः ॥ १५ ॥

प्राकारगोपुरादीनां शिवस्यामिततेजसः । इष्टकाद्यैश्च निर्माणं शिवभक्तिरु[4] दीरिता ॥ १६ ॥

शिवशासनयुक्तस्य पूजा श्रद्धापुरःसरम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवभक्तिपरायणैः ॥ १७ ॥

शिवाराधनबुद्धयैव नित्यानामपि कर्मणाम् ।
नैमित्तिकानां करणमपि भक्तिः शिवस्य तु ॥ १८ ॥

अभ्यासः शिवविद्यायास्तस्या अध्यापनं तथा ।
शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिव[5] दृष्टिपरायणैः ॥ १९ ॥

लेखनं शिवविद्यायाः प्रदानं पुस्तकस्य तु । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवशास्त्रविशारदैः ॥ २० ॥
॥ १०-२० ॥

त्रिपुण्ड्रधारण करने में श्रद्धा तत्त्वप्रदायिका है ॥ ७ ॥ रुद्राक्षधारण में श्रद्धा भी भक्ति कही जाती है । षडक्षरमंत्र के जप में श्रद्धा बहुत महान् भक्ति है ॥ ८ ॥ शिवलिंग के पूजन में श्रद्धा श्रेष्ठ भक्ति है । लिंग की पूजा का दर्शन करने की इच्छा भी महान् भक्ति है ॥ ९ ॥ ईश्वरपूजा का अनुमोदन करना भी भक्ति है । (कोई पूछे 'पूजा कर लें ?' तो यह उत्तर देना 'हाँ, अवश्य करो ।' अनुमोदन कहलाता है । अथवा शिवपूजा से प्रसन्न होना अनुमोदन है) । पूजा के साधनों में श्रद्धा को भी भक्ति कह दिया जाता है ॥ १० ॥ शिवसम्बन्धी उत्सव देखने की इच्छा भक्ति कही जाती है । उन उत्सवों में सेवा करना भी अतिशोभन भक्ति है ॥ ११ ॥ उत्सवार्थ आये महात्माओं को अन्न-पान प्रदान करना शिवभक्ति है ॥ १२ ॥ महादेव की कथा आदि सुनने की इच्छा महान् भक्ति है ॥ १३ ॥ परमात्मा शिव की कथा सुनते हुए गद्गद, पुलकित आदि हो जाना भी भक्ति है ॥ १४ ॥ शिव के निमित्त बगीचा बनाना भक्ति है । उनके उद्देश्य से बावडी, कुआ, तालाब आदि बनाना भक्ति है ॥ १५ ॥ मंदिर आदि की दीवारों को, गोपुरों को तथा अन्य अंगों को ईंट आदि से बनाना भी भक्ति है ॥ १६ ॥ जो शिवोक्त नियमों का पालन करते हैं उनकी सेवा करना शिवभक्ति है ॥ १७ ॥ नित्य व नैमित्तिक कर्मों को इस निश्चय से करना कि उनसे महादेव प्रसन्न हों, शिवभक्ति है ॥ १८ ॥ शिवविद्या का अभ्यास व अध्यापन शिवभक्ति

---

१ ख. घ. °वपदा दी । २ छ. °रुदीरिता । ३ ग. °तटाकादि° । ४ ज. °रुदाहृता । ५ ज. °वभक्तिप° ।

शिवपुस्तकनिक्षेपस्थाननिर्माणमास्तिकाः । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवदृष्टिपरायणैः ॥ २१ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य मठिकादानमेव च । अन्नपानादिदानं च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ २२ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य शुश्रूषा श्रद्धया सह । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवभक्तिपरायणैः ॥ २३ ॥

जापिनां शिवमन्त्रस्य शुश्रूषा च महात्मनाम् ।
शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवतत्त्वविचिन्तकैः ॥ २४ ॥

शिवयात्रापराणां तु शुश्रूषा च तथैव च ।
शिवयात्रा च विद्वद्भिः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ २५ ॥

शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवयात्रापरायणैः ॥ २६ ॥

शिवापराधनिष्ठानां छेदनं परया मुदा । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवाराधनतत्परैः ॥ २७ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठानां शिवज्ञानस्य सुव्रताः । दूषकस्य शिरश्छेदः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ २८ ॥

भस्मसाधननिष्ठानां दूषकस्य मुनीश्वराः । छेदनं शिरसः साक्षाच्छिवभक्तिरुदीरिता ॥ २९ ॥

विष्ण्वादीनां तु देवानां दूषकस्य दुरात्मनः ।
बाधनं शिवभक्तिस्तु प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ ३० ॥

विष्ण्वादिदेवताभक्तस्यैव दूषणकारिणः । बाधनं च महाप्राज्ञैः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३१ ॥

॥ २१–३१ ॥

है ॥ १९ ॥ शिवविद्या के ग्रंथ को लिखना (रचना या नकल करना, छापना इत्यादि) तथा पुस्तक का दान करना भी शिवभक्ति है ॥ २० ॥ शिवसम्बन्धी ग्रंथों के लिये पुस्तकालय बनाना शिवभक्ति है ॥ २१ ॥ जो केवल शिवज्ञान में निष्ठा वाला संत हो उसे मठ बनवा कर देना या अन्न-पान आदि देना शिवभक्ति है ॥ २२॥ तादृश सन्त की सेवा करना भी शिवभक्ति है ॥ २३ ॥ शिवमंत्र का जप करने वाले महात्माओं की सेवा को एवं जो शिवतीर्थादि यात्रायें कर रहे हों उनकी सेवा करना तथा विद्वानों सहित स्वयं शिवसम्बन्धी यात्रायें करना शिवभक्ति है ॥ २४–२५ ॥ शिवयात्रियों को बाधा पहुँचाने वाले डाकू आदि को दण्डित करना भी शिवभक्ति है ॥ २६ ॥ शिव के प्रति अनुचित भाषण आदि द्वारा अपराध करने वालों को पूर्ण उत्साह से दण्डित करना शिवभक्ति है ॥ २७ ॥ एकमात्र शिवज्ञान में निष्ठा वाले पर या शिवज्ञान पर ही जो दोषारोपण करे उसका सिर काट देना शिवभक्ति है ॥ २८ ॥ भस्मनामक शिवप्रसादसाधन में तत्पर रहने वालों को दोषारोपण आदि से पीडित करने वाले का सिर काट देना शिवभक्ति है ॥ २९ ॥ जो दुष्ट

देवद्रव्यस्य भोक्तुश्च ब्राह्मणद्रव्यहारिणः । बाधनं च महाप्राज्ञैः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥

आतुराणां नृणां रक्षा रक्षकाणां च रक्षणम् ।

भीतस्याभयदानं च शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३३ ॥

सर्वभूतेषु कारुण्यं प्रियभाषणमेव च । सर्वभूतहिते[1] श्रद्धा साक्षाद्भक्तिः शिवस्य तु[2] ॥ ३४ ॥

सर्वभूतेषु दोषस्यादर्शनं गुणदर्शनम् । सर्वभूतेषु मैत्री च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ ३५ ॥

महादेवेऽतिविश्वासो विश्वासः शिववेदने । वेदान्तेषु च विश्वासः शिवभक्तिरुदीरिता ॥ ३६ ॥

गुरूक्तार्थेषु विश्वासो गुरुशुश्रूणं तथा । साऽपि भक्तिरिति प्रोक्ता वेदवेदान्तवेदिभिः ॥ ३७ ॥

भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव भवरोगनाशिनी ।

भक्तिरेव परवेदनप्रदा भक्तिरेव परमुक्तिकारिणी ॥ ३८ ॥

भक्तियुक्तजनचित्तपङ्कजे भुक्तिमुक्तिफलदः पुरातनः ।

शक्तियुक्तपरविग्रहः शिवः सत्यमेव सततं प्रकाशते ॥ ३९ ॥

भक्तियुक्तजनपरितुष्टः परमेशः सत्यसुखबोधपरमं वपुरनन्तम् । स्वस्य मुनयः परमकारुणिक ईशः शक्तिसहितस्त्रिनयनः खलु ददाति ॥ ४० ॥

॥ ३२–३४ ॥ **सर्वभूतेषु मैत्री चेति** । तथाच पातञ्जलं सूत्रम्– 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इति ॥ ३५–३८ ॥ **सत्यमेव प्रकाशत** इति । श्रूयते हि– 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥ इति ॥ ३९–४० ॥

हृदय वाला व्यक्ति विष्णु आदि अन्य देवताओं पर दोषारोपण करता हो उसे वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है । (शैव या स्मार्त सम्प्रदाय तथा माध्ववैष्णव सम्प्रदाय में कितना भेद है इसका यह एक उदाहरण है । माध्व मानते हैं कि अन्य देवताओं की निंदा करना विष्णुभक्ति का अंग है जबकि हमारी भक्ति में अन्य देवताओं की निंदा सुनना भी असह्य है !) ॥ ३० ॥ विष्णु आदि देवतान्तरभक्तों को किसी तरह कष्ट पहुँचाने वालों को दण्डादिद्वारा वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है ॥ ३१ ॥ देवताओं के धन का स्वयं उपभोग करने वालों को तथा ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वालों को वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है । (जो पुजारी आदि देवाश्रित हैं उन्हें अपने निर्वाह मात्र के लिये धन लेकर बाकी सारे देवधन को देवकार्य में ही विनियुक्त करना चाहिये ।) ॥ ३२ ॥ आतुर लोगों की रक्षा करना, अन्यों की रक्षा करने वालों की रक्षा करना तथा डरे हुए को अभयदान करना शिवभक्ति है ॥ ३३ ॥ सब प्राणियों पर करुणा

---

१ च. छ. ज. "हितश्र" । २ वायुसंहितायामुत्तरभागे (३.३०) परमेश्वराराधनमेवमुक्तम्–'सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणन्तथा । सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ।' एवं च ये मूर्त्तिपूजादावश्रद्धालवोऽथ चेश्वरमारिराधयिषवस्तेपि यथा शिवभक्तिं कर्तुं शक्नुवन्ति तथेहान्यत्र च प्रतिपादितमिति ज्ञेयम् ।

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवभक्तिविचारो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि परात्परतरं पदम् ।

यत्सत्तायोगतः सर्वं सत्यवद्भवति द्विजाः ॥ १ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवभक्तिविचारो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

करना मीठा बोलना तथा सब के हित को ही उचित मानते हुए उसके लिये प्रयास करना शिवभक्ति है ॥ ३४ ॥ किसी भी व्यक्ति में दोषदर्शन न कर गुणदर्शन ही करना और सबसे मित्रता रखना शिवभक्ति है ॥ ३५ ॥ महादेव में, महादेव के ज्ञान में और वेदान्त में विश्वास शिवभक्ति है ॥ ३६ ॥ गुरु द्वारा उपदिष्ट विषयों पर विश्वास और गुरु की सेवा करना भी शिवभक्ति कही जाती है ॥ ३७ ॥ पारमार्थिक मोक्ष भक्ति ही देती है । संसाररोग की निवृत्ति भक्ति से ही होती है । परमेश्वर का ज्ञान भक्ति ही देती है । परम मोक्ष (कैवल्य) भक्ति से ही प्राप्य है ॥ ३८ ॥ भक्ति वाले व्यक्ति के हृदयकमल में अव्यय शिव प्रकाशित होते हैं । भोग व मोक्ष, दोनों फल वे ही देते हैं । शिव ही सबसे प्राचीन हैं । शक्ति से सम्बद्ध श्रेष्ट शरीर (अर्धनारीश्वर देह) उन्हीं का है ॥ ३९ ॥ भक्तियुक्त साधक पर संतुष्ट हुए परमेश्वर उसे अपना सच्चिदानंद रूप परम अनंत शरीर प्रदान करते हैं क्योंकि त्रिनेत्रधारी, शक्तिसमेत ईश्वर परमकरुणामय हैं ॥ ४० ॥

परम पद के स्वरूप का विचार नामक सत्ताइसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–इस प्रकार उपायों का सांगोपांग वर्णन समाप्त कर अब मैं निरुपाधिक परम पद के विषय में बताता हूँ । उसकी स्वरूपभूतसत्ता के अध्यासात्मक सम्बन्ध से सभी कुछ सत्य की तरह प्रतीत होता है ॥ १ ॥ सारा जगत् उस परतत्त्व के स्वरूपभूत ज्ञानात्मक प्रकाश से ही भासित होता है तथा उसके स्वरूपभूत आनन्द के सम्बन्ध से सब कुछ प्रेम का विषय बनता है । (परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है । उस पर कल्पित जगत् भी सद् आदि रूप प्रतीत होता है । जैसे कल्पित सर्प की लम्बाई अपनी नहीं होती, रस्सी की लम्बाई ही सर्प की लम्बाई के रूप में प्रतीत होती है, वैसे जगत् की अपनी कोई सत्ता नहीं, ब्रह्मसत्ता ही जगत्सत्ता के रूप में प्रतीत होती है । पृथक् सत्ता में प्रमाण नहीं और गौरव दोष भी है । इसी प्रकार संसार में सब चीजें ज्ञान से सम्बद्ध मिलती हैं । वह ज्ञान भी परमात्मरूप ज्ञान ही है, पूर्ववत् पार्थक्य निष्प्रामाणिक है तथा प्रपंच की हर वस्तु किसी न किसी को प्रिय लगती है । प्रिय वही होता है जो सुख हो । अतः हर वस्तु किसी न किसी को प्रिय लगती है । प्रिय वही होता है

यस्यैव चित्प्रकाशेन सर्वं चेतयते जगत् । यस्याऽऽनन्दाभिसंबन्धात्सर्वं प्रेमास्पदं भवेत् ॥ २ ॥

प्रतीताद्भौतिकादस्माद्भूतानि मुनिपुंगवाः ।

[1]उत्कृष्टानि तथा तेभ्यो जीवात्मा चेतनः प्रभुः ॥ ३ ॥

समष्टिव्यष्टिभावेन सोऽपि भिन्नः परस्परम् ।

व्यष्टयश्च तथा भिन्नाः स्वस्वभावानुरूपतः ॥ ४ ॥

एवं परतत्त्वज्ञानोपायत्वेन शिवप्रसादतद्भक्ती प्रपञ्च्यैकं परशिवस्वरूपमुपदिशति–**परात्परतरमिति** । प्रागुदीरितशक्तितत्त्वोपाधिकः परस्ततोऽपि परः शिवतत्त्वोपाधिकस्ततोऽपि परं निरुपाधिकं सच्चिदानन्दलक्षणं स्वप्रतिष्ठं परशिवस्वरूपं **तत्परात्परतरम्** । अथास्य तत्त्वस्य सर्वप्रमाणाविषयत्वाच्छशविषाणवद[2]वस्तुत्वमाशङ्क्य निरस्यति–**यत्सत्तायोगत** इत्यादिना । यथैकस्मिन्नेव रज्ज्वा इदमंशे सर्पधारादयो बहव अकारा अविद्यावशादारोप्यन्ते तथैवाद्वितीये सच्चिदानन्दरूपे परशिवस्वरूपे स्वमायावशेन भूतभौतिकात्मकं नानाविधं जगदारोप्यते, यथा सर्पधारादिष्वारोप्येष्वयं सर्प इयं धारेत्यधिष्ठान[3] इदमाकारानुवृत्तिरेवमारोपिते जगत्यधिष्ठानसच्चिदानन्दरूपत्वमनुवृत्तं भासते । तथा चायमर्थः–यस्याधिष्ठानभूतस्य परतत्त्वस्य स्वरूपभूतसत्तासंबन्धवशात्तत्स्वरूपे परिकल्पितं सर्वं जगत्स्वतो मायामयत्वेन सदसद्विलक्षणमपि सन्घटः सन्पट इत्यादिव्यवहाररूपेण सत्यवदवभासते, तथा यस्यैवाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः स्वरूपभूतचित्प्रकाशेन तत्स्वरूपे परिकल्पितं सर्वं जडं जगच्चेतयते चैतन्यविशिष्टं भासते, तथा यस्यैवाधिष्ठानस्य स्वरूपभूतानन्दसम्बन्धवशादनानन्दमप्यानन्दरूप आरोपितं सर्वं जगत्प्रेमास्पदमनुकूलवेदनीयं भवति । तथाविधं सच्चिदानन्दरूपं परतत्त्वं संप्रवक्ष्यामीति संबन्धः ॥ १–२ ॥ अस्य च तत्त्वस्य परात्परतरत्वोपपादनाय निरतिशयोत्कर्षावधित्वं वक्तुमारभते–**प्रतीतादित्यादिना** । भूतकार्यं जगद्भौतिकं तस्मात्तत्कारणान्याकाशादि**भूतान्युत्कृष्टानि** । तदायत्तत्वाद्भौतिकस्वरूपलाभस्येत्यर्थः । भूतेभ्योऽपि तदुपादानत्वेन तत्स्वरूपानुप्रविष्टमायासत्त्वगुणोपाधिकश्चेतनो **जीवात्मोत्कृष्टः** आविर्भूतचैतन्यत्वात् ॥ ३ ॥ **समष्टिव्यष्टिभावेनेति** ।

जो सुख हो । अतः हर वस्तु में सुखरूपता भी प्रेम की अन्यथानुपपत्ति से स्वीकार्य है । वह सुखरूपता भी ब्रह्मस्वरूप ही है, पृथक् नहीं । जिसकी स्वरूपभूत सत्ता, चित्ता और आनन्दरूपता प्रपंच में प्रतीत होती है वह पर ब्रह्म है ।) ॥ २ ॥ प्रतीयमान भौतिक जगत् से इसके कारण महाभूत उत्कृष्ट हैं और उनसे भी जीवात्मा उत्कृष्ट है क्योंकि वह चेतन और वस्तुतः प्रभुरूप है ॥ ३ ॥ जीव भी समष्टि और व्यष्टि रूप से विभिन्न है । ('सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अश' व्याप्तौ धातु से कर्ता अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर समष्टि शब्द बना है जिसका अर्थ है 'पूरी तरह व्याप्त करने वाला' । तथा 'वि' उपसर्ग पूर्वक उक्त प्रक्रिया से व्यष्टिशब्द बना है । क्षीरस्वामी ने 'वि' उपसर्ग के कई अर्थ बताये हैं जिनमें वण्टन और नानात्व भी है । वण्टन विभाग को कहते हैं । 'विभजति' आदि में 'वि' के कारण ही विभाजन अर्थ प्रतीत होता है । ऐसे ही 'विचित्र' आदि में 'वि' के कारण ही नानात्व प्रतीत होता है । एवं च 'नाना उपाधियों में बँटे हुए किसी एक विभाग को ही व्याप्त करने वाला'–यह व्यष्टि शब्द का अर्थ है । इसी तात्पर्य से तत्त्वविवेकप्रकरण में (श्लो. २५) पंचदशीकार ने कहा है 'समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् । तदभावात्ततोऽन्ये

---

१ छ. प्रकृष्टानि । २ ङ. च. छ. °दव्यक्तत्व° । ३ अधिष्ठाने य इदमाकारस्तस्यानुवृत्तिरित्यर्थः ।

देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरं प्राप्नुवन्ति च । आसां समष्टिभूतस्तु श्रेष्ठः सर्वात्मना बुधाः ॥ ५ ॥

ततो विशिष्टाः सकला ब्रह्मणस्तु विभूतयः ।
ताश्चान्योन्यं विशिष्टाः स्युर्यथा जीवा मुनीश्वराः ॥ ६ ॥
तासां ब्रह्माऽधिकस्तस्माद्विष्णुर्मुख्यः प्रकीर्तितः ।
सोऽपि स्वव्यष्टिभूतेभ्यो वरिष्ठः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
ततो रुद्रोऽधिकः सोऽपि स्वव्यष्टिभ्योऽधिकः स्मृतः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च परतत्त्वविभूतयः[1] ॥ ८ ॥

तत्र निर्मलसत्त्वोपाधेरप्रतिहतज्ञानत्वात्स्वात्मानं स्वेतरसकलं च समश्नुते व्याप्नोतीति समष्टिर्हिरण्यगर्भः । मलिनसत्त्वोपाधेः परिच्छिन्नज्ञानत्वान्मालिन्यतारतम्येन नानाविधत्वात्तदुपाधिका जीवा विभक्तं स्वात्ममात्रमेवाश्नुवते व्याप्नुवन्तीति व्यष्टयः । **स्वस्वभावानुरूपत** इति । उत्क्रान्तिसमये परिपक्वपुण्यपापजनितो भाविजन्मगोचरः संकल्पविशेषो भावस्तदनुसारेणेत्यर्थः । **आसां** समष्टिव्यष्टीनां मध्ये **समष्टिभूतो** हिरण्यगर्भः **श्रेष्ठो**ऽप्रतिहतज्ञानत्वात् ॥ ४–६ ॥ **ततो विशिष्टा** इति । तस्माद्धिरण्यगर्भादपि रजोगुणोपाधिकस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रसिद्धा या **विभूतयो**ऽवतारविशेषास्ता विभूतय उत्कृष्टाः । अन्योन्यं **विशिष्टाः स्युरि**ति । संकल्पस्योच्चावचत्वात्तन्मात्रसिद्धानां विभूतीनामपि परस्परमुत्कर्षापकर्षौ विद्येते इत्यर्थः ॥ ६ ॥ **तासां ब्रह्माऽधिक** इति । तथाविधसंकल्पाश्रयो ब्रह्मा स्वविभूतिभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । **तस्माद्विष्णुरि**ति । रजोगुणोपाधिकाद्ब्रह्मणोऽपि सत्त्वगुणोपाधिर्विष्णुः श्रेष्ठः । सत्त्वस्य सुखप्रकाशात्मकत्वेन रजोगुणादुत्कृष्टत्वात् । स्वव्यष्टि**भूतेभ्यो वरिष्ठ इति** । तस्य विष्णोरपि संकल्पमात्रसिद्धा व्यष्टिभूता येऽवतारविशेषास्तेभ्योऽपि समष्टिभूतो विष्णुरुत्कृष्टः ॥ ७ ॥ **ततो रुद्रोऽधिक** इति विष्णोरुपाधिर्हि बहिःसत्त्वविशिष्टं तमः । रुद्रस्य तु बहिस्तमोयुक्तं सत्त्वम् । एतच्चाग्रे स्वयमेव सूतगीतायां प्रतिपादयिष्यति । तथा च तस्माद्विष्णोरपि **रुद्रोऽधिकः** । तथा तस्य रुद्रस्यापि संकल्पमात्रसिद्धा या व्यष्टयस्ताभ्योऽपियस एवोत्कृष्टः । **परतत्त्वविभूतय** इति । यद्वक्ष्यमाणं सच्चिदानन्दैकरसं निर्गुणं परं तत्त्वं तदेव स्वीकृतमायागुणोपाधिवशेन ब्रह्मविष्ण्वादिरूपेणावस्थितमिति भवन्ति ब्रह्माद्यास्तस्य विभूतय इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तु कथ्यन्ते व्यष्टि संज्ञया ॥' हिरण्यगर्भ आदि जीव होने पर भी समष्टि हैं क्योंकि सब सूक्ष्मदेहों को अपना समझते हैं । हम लोग जीव होने पर भी व्यष्टि हैं क्योंकि एक ही शरीर को अपना समझते हैं ।) व्यष्टि जीव भी नाना होने से आपस में भिन्न-भिन्न हैं । वे अपने कर्म और संस्कारों के अनुसार देव, पशु, मनुष्य आदि योनियाँ प्राप्त करते रहते हैं । समष्टि और व्यष्टि उभयविध जीवों में समष्टि जीव ही श्रेष्ठ है ॥ ४–५ ॥ उससे भी उत्कृष्ट वे अवतार हैं जो ब्रह्म के संकल्पमात्र से सिद्ध हुए हैं । उन अवतारों में भी तारतम्य है जैसे जीवों में होता है ॥ ६ ॥ उक्त अवतारों में ब्रह्मा उत्तम हैं । उनसे भू मुख्य

---

१ अतएव 'एकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः श्रीभारतीभवान्याद्याश्च स्त्र्याकाराअन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थम्' इत्येकस्यैवेश्वरस्य सर्वाणीमानि रूपाणि इति विन्दावष्टमपद्ये सरस्वत्युक्तिः ।

एषां त्रयाणामधिकः सर्वकारणमीश्वरः । ततोऽधिकं परं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
इयमेव हि सर्वेषां काष्ठा प्रोक्ता श्रुतौ स्मृतौ ॥ ९ ॥
योऽयं मानुष आनन्दस्ततः शतगुणोत्तरः । मनुष्यगन्धर्वादीनामानन्द इति गम्यते ॥ १० ॥

एषामिति । गुणविभागरहितमायोपाधिकं तदेव परतत्त्वं जगत्कारणं सदीश्वरः । सोऽपि प्रविभक्तगुणोपाधिकानामेषां ब्रह्मादीनामुत्कृष्टस्तत्समष्ट्यात्मकत्वादित्यर्थः । यस्य निरतिशयोत्कर्षप्रतिपादनायैतदुत्कर्षतारतम्यमनुक्रान्तं तद्दर्शयति–**ततोऽधिकमिति** । कारणत्वोपलक्ष्यं सच्चिदानन्दाखण्डैकरसं यत्परं तत्त्वं तत्सोपाधिकाज्जगत्कारणादधिकमुत्कृष्टम् । एतदीयोत्कर्षस्य निरतिशयत्वमुपपादयति–**इयमेवेति** । यदेतदुक्तं परतत्त्वमेतदेव सर्वेषां पूर्वोक्तानां सातिशयोत्कर्षभाजां विश्रान्तिभूमित्वेन श्रुतिस्मृत्या प्रतिपादितम् । **हि**शब्दो हेत्वर्थः । यस्मादेवं तस्मादितरदुत्कृष्टं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्र श्रुतिस्तावत्सर्वस्यापि भोक्तृभोग्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि विश्रान्तिं प्रतिपादयति "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण" इत्यादि । स्मृतिश्च–"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इत्यादिका सर्वस्य जगतः कारणे ब्रह्मणि विश्रान्तिमवगमयति । युक्तं चैतत् । सच्चिदानन्दरूपेऽधिष्ठाने मायावशात्प्रतीतं जगदधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन शुक्तौ रजतवत्तत्रैव लीयते । अधिष्ठानादन्यत्राऽऽरोप्यस्य लयासंभवात् । अतोऽधिष्ठानस्य परब्रह्मणो यो निरतिशयोत्कर्षः स एव परिकल्पिते जगति सच्चिदानन्दरूपादनुगतः संस्तत्तदुपाधितारतम्यात्सातिशयो नानाविध इव प्रतिभासत इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवमीश्वरस्वरूपमेव परमार्थं सदन्यत्सर्वं परिकल्पितमित्युपपाद्य तत्स्वरूपभूतयोर्ज्ञानानन्दयोरपि निरवधित्वं प्रतिपादयति–**योऽयं मानुष** इत्यादिना । सार्वभौमस्य भोक्तृशक्तिसंपन्नस्य धनधान्यादिसमृद्धपृथिव्युपभोगाद्योऽयं **मानुष आनन्दस्तस्माच्छतगुणोत्तर** आनन्दो मनुष्यगन्धर्वाणाम् । तथाच श्रूयते–'युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ।' इति । अत्र श्रुतौ मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दादनन्तरं देवगन्धर्वादीनां ब्रह्मान्तानां योऽयमुत्तरोत्तरंशतगुणित आनन्दस्तत्सर्वस्य संग्रहायाऽऽदिशब्दं प्रयुङ्क्ते–**मनुष्यगन्धर्वादीनामिति** ॥ १० ॥

हैं विष्णु । विष्णु । के भी जो व्यष्टि अवतार हैं उनसे समष्टि विष्णु (जिनके वे सब अवतार हैं) श्रेष्ठ हैं ॥ ७ ॥ विष्णु से भी रुद्र उत्कृष्ट हैं ॥ रुद्र के भी व्यष्टि रूपों से उनका समष्टि रूप श्रेष्ठ है । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र परमतत्त्व की ही विभूतियाँ हैं । (परमतत्त्व ही मायिक गुणरूप उपाधियों से ब्रह्मा आदि रूप धारण किये हुए है । श्रुति, स्मृति व पुराण बार बार इस रहस्य को स्पष्ट करते हैं कि परमात्मा एक है, उपाधिभेद से नाम रूप का भेद है । ब्रह्मा, विष्णु आदि व्यक्ति विभिन्न नहीं । एक ही के ये नाम रूप हैं । जैसे एक ही व्यक्ति किसी उपाधि से चाचा व किसी उपाधि से पति होता है वैसे ही एक परमशिव किसी उपाधि से ब्रह्मा और किसी से विष्णु आदि हैं । पाश्चात्य प्रचार से यह भ्रम कभी नहीं करना चाहिये कि हम नाना-देव-वादी हैं । व्यवहार में भी याद रखना चाहिये कि उपाधिभेद से पूजन, ध्यान, लीला, तारतम्य आदि का भेद होने पर भी तत्त्व एक ही है ।) ॥ ८ ॥ सबका कारण ईश्वर इन तीनों से भी उत्कृष्ट है । (गुणक्षोभ से रहित माया उपाधि वाला चैतन्य ईश्वर है) । उससे भी उत्कृष्ट अद्वितीय ज्ञान व आनंदरूप परम तत्त्व है । इसे ही श्रुति व स्मृति में सबकी चरम सीमा बताया है । (इससे

ब्रह्मानन्दशतं विष्णोरेक आनन्द उच्यते ॥ ११ ॥

तस्याऽऽनन्दशतं रुद्रस्यैक आनन्द एव हि ।

रुद्रानन्दशतं सर्वकारणस्य शिवस्य तु ॥ १२ ॥

कारणत्वोपलक्ष्यस्य शिवस्य परमात्मनः ।

सत्यचिन्मात्ररूपस्य भूमाऽऽनन्द उदाहृतः ॥ १३ ॥

एवं क्रमेण सर्वेषां ज्ञानाधिक्यमपीष्यते ।

स्कन्धशाखादिभेदेन यथा वृक्षो व्यवस्थितः ॥ १४ ॥

तथा रुद्रादिभेदेन शिव एको व्यवस्थितः । उत्कर्षश्चापकर्षश्च स्कन्धशाखादिवस्तुषु ॥ १५ ॥

'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति रजोगुणोपाधिकस्य ब्रह्मणो य आनन्द आम्नातस्तमारभ्योत्तरोत्तरं शतगुणित आनन्दो विष्णुरुद्रजगत्कारणानामधिगन्तव्य इत्याह–**ब्रह्मानन्दशतमित्यादिना** ॥ ११–१२ ॥ **सत्यचिन्मात्ररूपस्येति** । मात्रशब्देन सकलोपाधिविरहो विवक्षितः । **सत्यचिन्मात्ररूपस्य कारणत्वोपलक्ष्यस्य** परशिवस्वरूपत्वेन **भूमाऽऽनन्द उदाहृतः** श्रुत्या दर्शितः । परिच्छेदकोपाध्यभावात्परशिवस्वरूपभूत आनन्दोनऽवच्छिन्नो निरतिशय इत्यर्थः । सा च श्रुतिः–'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यो यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्यादिका ॥ १३ ॥ एवं परशिवस्वरूपानन्दस्य निरतिशयत्वमुपपाद्य

उत्कृष्ट कुछ नहीं है) ॥ ९ ॥ मनुष्यों के आनन्द से सौ गुणा अधिक मनुष्यगंधर्व आदि देवयोनियों का आनन्द है । (उनसे सैकड़ों गुणा अधिक ब्रह्मा का आनन्द है) ॥ १० ॥ ब्रह्मा के आनन्द से सौ गुणा अधिक सर्वकारण शिव का आनन्द है ॥ १२॥ कारणत्व से उपलक्षित सत्यचिन्मात्ररूप परमात्मा शिव का अनवच्छिन्न आनन्द है । (स्वरूप के अंदर निविष्ट हुआ तथा कार्य पर्यंत रहने वाला भेदक विशेषण कहलाता है । कार्यपद स्वान्वितविशेष्य समझना चाहिये और 'स्व' से भेदक जानना चाहिये । विशेषणत्व के प्रयोजक जो दो रूप हैं–स्वरूप में निविष्ट होना और कार्यपर्यंत रहना, वे दोनों न हों तो भेदक को उपलक्षण कहते हैं । यदि उनमें से एक न हो दूसरा हो तो भेदक को उपाधि कहते हैं । दृष्टांत के लिये, घर के स्वरूप में प्रविष्ट न होने वाला और कार्यपर्यन्त न रहने वाला कउआ घर का उपलक्षण या उपलक्षक होता है । 'कर्णच्छिद्र से अवच्छिन्न नभ श्रोत्र है'–इस स्थल में कर्णच्छिद्र उपाधि है । माया कारणब्रह्म

तथोत्कर्षोपकर्षश्च रुद्रविष्ण्वादिषु स्थितः । तरङ्गबुद्बुदादीनां यथा लोके व्यवस्थितः

उत्कर्षश्चापकर्षश्च तथा रुद्रादिषु स्थितः ॥ १६ ॥

विश्वाधिकत्वं रुद्रस्य कारणस्य शिवस्य च ।

न वदन्ति जना ये ते राक्षसाः स्युर्न संशयः ॥ १७ ॥

व्यावहारिकदृष्ट्याऽयं विभागः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

प्रमाणदृष्ट्या वस्त्वेकमेव नित्यं न संशयः ।

अनादृत्य महामोहात्प्रमाणं भुवि मानवाः ॥ १९ ॥

अयं परस्त्वयं नेति विवदन्ते परस्परम् । महापापवतां नृणां रुद्राधिक्यं न भासते ॥ २० ॥

अनेकजन्मसिद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् । रुद्राधिक्यं स्वतो भाति प्रमाणैरपि तर्कतः ॥ २१ ॥

तत्स्वरूपभूतज्ञानस्याप्यनेनैव न्यायेन निरतिशयत्वमवगन्तव्यमित्यतिदिशति–**एवमिति** । एकस्यैव परशिवस्य रुद्रविष्ण्वादिनानाविधजगदाकारेणावस्थानं सदृष्टान्तमुपपादयति–**स्कन्धशाखेति** ॥ १४–१६ ॥ **विश्वाधिकत्वमिति** । उक्तरीत्या सर्वस्मादप्युत्कृष्टत्वात्परशिवो विश्वाधिकः । 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिरि'ति श्रुतेश्च शिवस्यैव विश्वाधिकत्वम् ॥ १७ ॥

की उपाधि है क्योंकि स्वरूपान्तर्निविष्ट न होने पर भी यावत्कार्यावस्थायी है किन्तु परतत्त्व का तो उपलक्षण मात्र है ।) ॥ १३ ॥ जैसे पूर्वोक्त क्रम से आनन्द की अधिकता है ऐसे ही इनमें क्रमशः ज्ञान की भी अधिकता है ॥ १३½ ॥ जैसे एक ही पेड़ तना, शाखा आदि विभिन्न रुपों में स्थित रहता है वैसे रुद्र आदि भेदों से एक ही शिव विद्यमान हैं । तने आदि में ऊँचा-नीचापन होता है । इसी तरह रुद्र, विष्णु आदि में उच्चावचता है । लहर, बुद्बुदा आदि में जैसे बड़प्पन आदि है वैसे ही रुद्र आदि में उत्कर्ष व अपकर्ष हैं ॥ १४–१६ ॥ जो लोग रुद्र की और कारण शिव की सबसे उत्तमता नहीं बताते वे निश्चय ही राक्षस हैं ॥ १७ ॥ यह सारा विभाग व्यावहारिक दृष्टि से है । प्रमाण की दृष्टि से परमार्थतः एक ही नित्य निरंतर वस्तु है ॥ १८½ ॥ महामोह के कारण प्रामाणिकता का अनादर कर लोग व्यर्थ विवाद करते हैं कि अमुक परम है अमकु नहीं (लहर श्रेष्ठ है या बुद्बुदा ? –इस झगड़े में कोई तत्त्व नहीं । हाँ लहर बड़ी होती है, बुद्बुदा छोटा । लहर जहाज को पलट सकती है, बुद्बुदा पत्ते से ही फूट जाता है । यों नाम-रूप-कर्म में भेद व तारतम्य रहे किन्तु तत्त्वदृष्टि से वे सब जलमात्र ही हैं । ऐसे ही ब्रह्मा, विष्णु आदि के नाम-रूप-कर्म विभिन्न हैं अतः उस दृष्टि से उच्चावचता हो किन्तु तत्त्वदृष्टि से परमशिवमात्र रूप हैं । अतः उनमें से किसी को परम मानना या अन्य किसी की परमता का निषेध करना मूर्खता ही है । ॥ १९½ ॥ जो लोग महापापी होते हैं उन्हें रुद्र की श्रेष्टता जँचती ही नहीं । अनेक

[1]सोपानक्रमतो देवा नृणां संसारमोचकाः । रुद्रः संसारमग्नानां साक्षात्संसारमोचकः ॥ २२ ॥
अतः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् । शिव एकः सदा ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥ २३ ॥
वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा । शिवध्यानेन देवाश्च तथा तृप्ता भवन्ति हि ॥ २४ ॥
विकल्परहितं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमव्ययम् । ये पश्यन्ति विमुक्तास्ते जीवन्तोऽपि न संशयः ॥ २५ ॥
निर्विकल्पं परं तत्त्वं तर्कतो यस्य भासते । सोऽपि मुच्येत संसाराद्यथा स्वप्नप्रपञ्चतः ॥ २६ ॥
निर्विकल्पं परं तत्त्वं प्रमाणेनैव केवलम् । यस्य भति स मुच्येत स्वसंसारमहोदधेः ॥ २७ ॥

ननु यथा वृक्षः स्कन्धशाखादिभेदेन नानाकारोऽवतिष्ठत एवं परशिवोऽपि रुद्रविष्ण्वादिजगदाकारेणावतिष्ठते चेत्तर्ह्यद्वैतव्याकोप इत्यत आह–**व्यावहारिकदृष्ट्येति** । निर्विकार एव परशिवस्वरूपे मायावशाद्विचित्रं जगदारोप्यते न परतत्त्वं स्कन्धशाखाद्यात्मना वृक्षवत्परिणमते । अतो नानाविधभावमात्रसाम्येनैव दृष्टान्तोपादानमित्यर्थः ॥ १८–२४ ॥ **विकल्परहितमिति** । निर्विशेषे ब्रह्मणि विकल्पहेतूनां विशेषणानाम् अभावात् तत्स्वरूपभूतं ज्ञानं विकल्परहितम् अत्यन्तनिर्विकल्पम् इत्यर्थः । सर्वदा बाधवैधुर्यात्तदेव तत्त्वं परमार्थम् । अपराधीनप्रकाशत्वाज्ज्ञानम् । अत्यन्तानुकूलवेदनीयत्वाद**ानन्दम्** । **अव्ययम्** । व्ययोऽपगमोऽन्तवत्त्वं, तद्रहितम् । देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितमित्यर्थः ॥ २५ ॥ **तर्कत** इति । प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्या दृश्यप्रपञ्चमिथ्यात्वेऽवगते प्रतीत्यधिष्ठानत्वेन च किंचित्पारमार्थिकं वस्त्वङ्गीकर्तव्यम् । इतरथा निरधिष्ठानभ्रमस्य निरवधिकबाधस्य च प्रसक्तेरित्यादिरूपस्तर्कः । श्रुतिरपि तर्कं दर्शयति–'असन्नेव स भवति' 'असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' 'को ह्येवान्यात्कः

जन्मों तक श्रौत-स्मार्त कर्म करते रहने पर प्रमाण और युक्ति से रुद्र की उत्तमता का स्वयं भान होता है ॥ २०–२१ ॥ अन्य देव भी जीवों को संसार-बंधन से मुक्त करते हैं किन्तु उन्हें क्रमशः शिवकृपा की अपेक्षा रहती है अर्थात् वे यथाक्रम शिवकृपा तक ले जा सकते हैं । बिना किसी की अपेक्षा से स्वयं स्वतंत्र हो मुक्त करने वाले तो रुद्र ही हैं ॥ २२ ॥ अतः शिवभिन्न सब देवताओं को छोड़ एकमात्र शिव का ही ध्यान करना चाहिये ॥ २३ ॥ जैसे वृक्ष की जड में पानी देने से शाखा आदि सब अवयव पुष्ट हो जाते हैं । ऐसे शिवध्यान से सभी देवता संतुष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥ अव्यय ज्ञान आनंदमय निर्विकल्प तत्त्व का जो दर्शन कर लेते हैं वे निश्चित ही जीवित रहते हुए भी मुक्त ही हैं ॥ २५ ॥ युक्ति से भी जिसने इस तत्त्व को समझ लिया वह भी संसार से वैसे ही मुक्त हो जाता है जैसे स्वप्न प्रपंच से । (स्वप्नदृष्ट वस्तु का निश्चय कुछ काल तक तदनुरूप प्रेरणा देता है किन्तु विचार से उसका बाध हो जाने पर प्रेरणा समाप्त हो जाती है । जैसे स्वप्न में चोर भागा हो और आँख खुल जाये तो एक बार उठकर भगाने की इच्छा होती है, पर फिर दरवाजा आदि देखने पर पता चलता है कि वह तो सपना था, और तब भागने आदि की इच्छा समाप्त हो जाती है । ऐसे ही युक्तितः परतत्त्व को समझ लेने पर संसार से छूट जाते हैं) ॥ २६ ॥ जिसे निर्विशेष परमात्मतत्त्व का प्रमाण से साक्षात्कार होता है वह स्वकीय संसरणप्रवाह से मुक्त हो ही जाता है ॥ २७ ॥ परमात्मा शिव के वस्तुतः कोई नाम या

---

१ ननु 'तत्त्वं नारायणः पर' 'ईश्वरीं सर्वदेवानाम्' 'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाये' त्यादिवचांसीतरेषां परत्वं ख्यापयन्तीति किमिति शिव एव पर इत्युच्यत इत्याशंक्य मोचकत्वेऽव्यवधानमिह तारतम्यनियामकं विवक्षितं, न नामरूपयोरभिनिवेश उक्तय-चसां चैक एव प्रतिपाद्यो बहूनां परत्वासंभवाच्छ्रुतौ च विरोधासंगते र्वस्तुनिविकल्पायोगात्स च प्रतिपाद्यइह शिव उच्यत इत्याह–सोपानेति ।

न च नामानि रूपाणि शिवस्य परमात्मनः । तथाऽपि मायया तस्य नामरूपे प्रकल्पिते ॥ २८ ॥

शिवो रुद्रो महादेवः शंकरो ब्रह्म सत्परम् ।

एवमादीनि नामानि विशिष्टानि परस्य तु ॥ २९ ॥

विष्णुनारायणादीनि नामानि परमेश्वरे । कथंचिद्योगवृत्त्या तु वर्तन्ते न तु मुख्यया ॥ ३० ॥

अरूपस्य शिवस्यापि मूर्तिर्ध्येया ह्युपासकैः । उमार्धविग्रहा शुक्ला त्रिनेत्रा चन्द्रशेखरा ॥ ३१ ॥

नीलग्रीवा परानन्दप्रमोदा ताण्डवप्रिया । ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्या गुणमूर्तिभिः ॥ ३२ ॥

सर्वमूर्तिविहीनस्य सर्वमूर्तेः शिवस्य तु ।

तथाऽप्येषा परा मूर्तिरित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ ३३ ॥

प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इति ॥ २६ ॥ **प्रमाणेनैवेति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवेदान्तवाक्यं प्रमाणम् ॥ २७ ॥ **न च नामानीति** । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' इति श्रुतेः परमार्थतो नामरूपे न स्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥ **शिवो रुद्र इति** । मायापरिकल्पितनाम्नां मध्ये शिवरुद्रादिनामानि परशिवस्वरूपे रूढितो वर्णनान्मुख्यानि । शिवो रुद्र इत्यादि नामचतुष्टयं रुद्रमूर्तेरभिधायकम् । **ब्रह्म सत्परमिति** त्रितयं परशिवस्य साक्षाद्वाचकम् । परशिवमूर्त्या सह रुद्रमूर्तेस्तप्तायःपिण्डवदविभागापत्तिं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति । अतो मूर्तिद्वयस्यैकीभूतत्वात्तथाविधे तान्युभयविधनामानि रूढ्यैव वर्तन्त इति मुख्यानि ॥ २९ ॥ **विष्णुनारायणादीनीति** । विष्ण्वादिमूर्तीनां परशिवमूर्त्या वैलक्षण्याद्विविक्तत्वमपि वक्ष्यति । अतो विष्ण्वादिमूर्तिषु रूढा विष्ण्वादयः शब्दास्तस्मिन्परतत्त्वे न रूढ्या वर्तन्तेऽपि तु व्याप्नोतीति विष्णुरित्येवमाद्यवयवव्युत्पत्त्या वर्तन्ते ॥ ३० ॥ एवं मायापरिकल्पितनामानि दर्शयित्वा परिकल्पितं मूर्त्यात्मकं रूपमपि परशिवस्य ध्यानार्थं दर्शयति–**अरूपस्येत्यादिना** ॥ ३१ ॥ **गुणमूर्तिभिरिति** । सत्त्वरजस्तमोगुणोपाधिकैरित्यर्थः ॥ ३२ ॥ सर्वमूर्तेरिति परमार्थतः सर्वप्रकारमूर्तिरहितस्यापि मायापरिकल्पितं सर्वं जगदस्यास्या मूर्तिरित्यर्थः । **शाश्वती श्रुतिरिति** । परमार्थतो विग्रहरहितस्य शिवस्य तत्सद्भावं श्रुतिरपि दर्शयतीत्यर्थः । श्रूयते हि कैवल्योपनिषदि–'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इति ॥ ३३ ॥

रूप नहीं हैं । माया से ही उनके नाम-रूप कल्पित हैं ॥ २८ ॥ शिव, रुद्र, महादेव, शंकर, ब्रह्म, सत्, पर इत्यादि परमात्मा के विशिष्ट नाम हैं ॥ २९ ॥ विष्णु, नारायणादि नाम योगवृत्ति से परमेश्वर को विषय कर लेते हैं, मुख्यतः नहीं । (विष्णु आदि नाम उद्रिक्तगुणावस्थ मायोपाधि वाले स्वरूप को ही शक्ति से विषय करते हैं । निर्विशेष को वे कहते तो हैं किन्तु स्वरसतः नहीं । स्वारस्य उनका विशिष्टद्योतन में ही है ।) ॥ ३० ॥ यद्यपि शिव नीरूप हैं तथापि उपासकों को उनकी मायिक अर्धनारीश्वर मूर्ति का ध्यान करना चाहिये । वह मूर्ति कर्पूर-गौर है, उसमें तीन नेत्र हैं, मस्तक पर चंद्रकला है, कण्ठ में नीलिमा है तथा परमानंद के प्रमोद वाली हुई वह मूर्ति उपास्य है । (गुणमूर्ति अर्थात् सत्त्वादि गुणों वाली मूर्तियाँ) ॥ ३१–३२ ॥ सब मूर्त वस्तुएँ जिन पर अध्यस्त हैं वे शिव यद्यपि किसी मूर्ति वाले नहीं हैं तथापि शाश्वत श्रुति ने उनकी इस परामूर्ति का उपासनार्थ उपदेश दिया है ॥ ३३॥ विष्णु आदि अन्य

तप्तायः पिण्डवद्विप्रा रुद्रमूर्तिं परस्य तु । मूर्त्या तुल्याऽन्यमूर्तिभ्यो लक्षणैर्मुनिसत्तमाः ॥ ३४ ॥

विष्ण्वादीनां तु सर्वेषां मूर्तयो व्यवधानतः ।

न तुल्याः परतत्त्वस्य मूर्त्यां वेदान्तपारगाः ॥ ३५ ॥

परतत्त्वस्य नामानि प्रत्यासत्त्या मुनीश्वराः । त्रिमूर्तीनां तु रुद्रस्याव्यवधानानि सुव्रताः ॥ ३६ ॥

रुद्रमूर्तेः परशिवमूर्त्या सहैकत्वं वक्ष्यतीति यदवादिष्म (श्लो. २९) तदाह–**तप्तायःपिण्डवदि**त्यादिना । विशुद्धसत्त्वगुणो हि रुद्रस्योपाधिस्तमस्तु संहरणाय तत्स्वरूपाद्बहिरेव वर्तते । अतो रुद्रमूर्तिर्विशुद्धत्त्वात्मकत्वात्सत्त्वस्य च सुखप्रकाशस्वरूपत्वात्साक्षिचित्प्रकाशरूपया परशिवमूर्त्या प्रकाशसुखादिलक्षणैः सदृशी । अतो विष्ण्वादिमूर्तिभ्यो विलक्षणा च तप्तायःपिण्डवत्परशिवमूर्त्याऽविभागापन्नैवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ **न तुल्याः परतत्त्वस्ये**ति । विष्ण्वादिमूर्तिषु रजस्तमसोः प्राचुर्यलक्षणेन व्यवधानेन सच्चिदानन्दरूपायाः परशिवमूर्तेः साकल्येन प्रतिफलनायोगात्परशिवमूर्त्या व तास्तुल्याः । अतस्तद्विविक्ततयैव तासामुपलम्भात्तथाविधमूर्त्यभिधायकानि विष्ण्वादिनामानि परशिवस्वरूपमूर्तावयवप्रसिद्धिसव्यपेक्षत्वेन विलम्बितप्रतीतिजनकत्वान्न मुख्यानि । शिवरुद्रनामानि तूक्तरीत्या परशिवरुद्रमूर्त्योरेकीभूतत्वात्तदुभयात्मिकायां मूर्त्यामवयवप्रसिद्धिमन्तरेण समुदायप्रसिद्धैव वर्तन्त इति शीघ्रप्रतीतिजनकत्वान्मुख्यानीत्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥ एवं रुद्रमूर्त्यभिधायकानां शिवरुद्रादिनाम्नां परतत्त्वविषये मुख्यत्वमुपपाद्य निरुपाधिकपरशिवस्वरूपप्रतिपादकानां ब्रह्म सत्परमित्यादिनाम्नामपि रुद्रमूर्तौ मुख्यत्वं प्रतिपादयति–**परतत्त्वस्ये**त्यादिना । ब्रह्म सत्परमित्यादीनि यानि निरुपाधिकतत्त्वस्य नामानि तानि त्रिमूर्तीनां मध्ये रुद्रस्य प्रत्यासत्त्याऽव्यवधानानि[1] नामानि, निरुपाधिकस्वरूपप्रतिपादनेन सोपाधिकाद्रुद्रात्परतत्त्वं व्यवधीयत एभिरिति करणव्युत्पत्त्या तानि नामानि व्यवधाननिमित्तानि; रुद्रस्योपाधेर्निरतिशयसत्त्वोत्कर्षवत्कात्स्न्ये बिम्बग्रहलक्षणा प्रत्यासत्तिरस्ति, तया प्रत्यासत्त्याऽव्यवधायकानि तानि नामानीदृग्व्यवधानसद्भावबलादेव तयोर्मूर्त्योर्भेदेन व्यवहारः ॥ ३६ ॥

मूर्तियों की अपेक्षा रुद्रमूर्ति में परा मूर्ति की अधिक समानता है । जैसे तपे लोहे के पिण्ड का आकार ही अग्नि लिये रहती है वैसे परामूर्ति और रुद्रमूर्ति समान आकार वाली होती हैं । (रुद्र की उपाधि विशुद्ध सत्त्वगुण है अतः सबसे कम विकार उसी मूर्ति में होना स्वाभाविक है) ॥ ३४ ॥ विष्णु आदि सभी मूर्तियाँ परामूर्ति की क्रमशः कम समानता वाली हैं ॥ ३५ ॥ ऐसे ही परतत्त्व के ब्रह्म, सत् आदि नाम भी त्रिमूर्ति में रुद्र को स्वारस्य से विषय कर पाते हैं । (यद्यपि वे नाम निरुपाधिक के हैं तथापि उनसे यदि सोपाधिक को समझना हो तो रुद्र को सरलता से समझा जा सकता है ।) ॥ ३६ ॥ वे नाम आदि अन्य मूर्तियों को केवल इसलिये विषय कर पाते हैं कि विष्णु आदि भी वस्तुतः परम तत्त्व ही हैं । (उनके उपहित रूपों को ये नाम कह नहीं सकते । रुद्रात्मक उपहित रूप को इसलिये कह लेते हैं कि

[1] ख. "धानेन ना" ।

विष्ण्वादीनां च देवानां तानि नामानि सुव्रताः ।
तत्त्वान्वयेन नामानि भवन्ति ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३७ ॥
तथाऽपि रुद्रे तान्येव प्रत्यासत्त्या परेण तु ।
मुख्यानि न तथाऽन्येषु व्यवधानात्परेण तु ॥ ३८ ॥
परतत्त्वपरिज्ञानं तस्य मूर्तिप्रसादतः । तत्प्रसादश्च तद्ध्यानपूजाभ्यामेव नान्यथा ॥ ३९ ॥
अन्नादिभोजनान्नृणां यथा क्षुद्विनिवर्तते । तथा मूर्तिप्रसादेन तत्तत्त्वं च प्रकाशते ॥ ४० ॥
परतत्त्वं तु सर्वेषां स्वरूपमपि सर्वदा । तस्य मूर्तिप्रसादेन विना नैव प्रकाशते ॥ ४१ ॥

विष्ण्वादीनामिति । विष्णुब्रह्महिरण्यगर्भादीनां तानि परतत्त्वनामानि परतत्त्वान्वयसद्भावमात्रेण प्रतिपादकानि । अयमर्थः– सच्चिदानन्दैकलक्षणोऽद्वितीयः सर्वगतः परशिव एव नानाविधोपाधिसंबन्धवशाद् ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपेण नानेवावभासते । तत्र ब्रह्मविष्णुरुद्रहिरण्यगर्भसूत्रात्मादीनां स्वस्वव्यापारविषयेष्वप्रतिहतज्ञानत्वात्तेषां सर्वेषामुपाधिषु सत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्ष एष्टव्यः । इतरथाऽस्मदादिजीववत्किंचिज्ज्ञत्वप्रसङ्गेन सकलसृष्टिस्थित्यादिव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । ननूपधेयवदुपाधीनामप्यैकरूप्ये ब्रह्मविष्ण्वादिभेदव्यवहारो नोपपद्यत इति चेत् ? मैवम् । ब्रह्माद्युपाधिषु वस्तुतः सत्त्वोत्कर्षस्यैकरूप्ये सत्यपि रुद्रोपाधिव्यतिरिक्तेषु तेष्वाहार्यरजस्तमःप्रयुक्तो नानाविधोऽपकर्षोऽप्यस्ति । अतस्तत्प्रयुक्तो ब्रह्मविष्ण्वादिभेदव्यपदेशो, न सोऽपकर्षस्तेषां वास्तव इति मन्तव्यम् । तथा सत्यस्मदादिवत्तेषामपि जीवत्वप्रसङ्गात् । एवं ब्रह्मविष्ण्वादिमूर्तिष्वाहार्यापकर्षसद्भावात्परतत्त्वप्रत्यासत्तिर्नास्तीति भवन्ति तानि व्यवधायकान्यमुख्यानीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ नन्वेवमुभयत्राप्युपाधिव्यवधानेन साम्ये सत्यपि परतत्त्वनाम्नां क्वचिन्मुख्यत्वं क्वचिन्नेति वैलक्षण्यं कुतः ? इत्यत आह–**तथाऽपीति** । यद्यप्युक्तरीत्या रुद्रमूर्तावपि परतत्त्वाद् व्यवधानमस्ति, तथाऽपि परशिवस्वरूपेण रुद्रमूर्तेः पूर्वोक्ता या प्रत्यासत्तिस्तद्भावेन तत्र परतत्त्वनामानि मुख्यानीत्युच्यन्ते । अन्येषां तु ब्रह्मविष्ण्वाद्युपाधीनां च न तथा प्रत्यासत्तिरस्ति । आहार्यापकर्षसद्भावात् । अतो व्यवधानात्परतत्त्वनामानि तेषां न मुख्यानीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ एवं विष्ण्वादिमूर्तिभ्यो विलक्षणा 'उमार्धविग्रहा' इत्यादिना

उसमें ईषद्विकार है तथा सात्त्विक होने से परम तत्त्व से अत्यधिक समानता है) ॥ ३० ॥ यद्यपि देवतांतरों को पूर्वोक्त रीति से ही ये नाम विषय करते हैं तथापि रुद्रमूर्ति में परतत्त्व की निकटता–समानता– होने से उसे मुख्यरूप से भी कह देते हैं । (शिवनाम परतत्त्व तथा रुद्रमूर्ति दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है । विष्णु आदि नामों से ऐसे प्रयोग दुर्लभ हैं) ॥३८ ॥ परामूर्ति की कृपा से परमतत्त्व का ज्ञान होता है । उसकी कृपा भी उसका ध्यान, पूजन आदि करने से होती है ॥ ३९ ॥ जैसे अन्न आदि भोजन से लोगों की भूख मिटती है ऐसे परामूर्ति की कृपा से परतत्त्व प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥ यद्यपि वह तत्त्व सदा सबका स्वरूप है तथापि मूर्ति की कृपा के बिना उसका ज्ञान नहीं होता ॥ ४१ ॥ अतः यह मूर्ति ही भोग-मोक्ष देने वाली है । इसलिये पूर्ण भक्ति से उसका भजन कीजिये ॥ ४२ ॥

तस्मान्मूर्तिर्हि सर्वेषां भोगमोक्षफलप्रदा । अतो मूर्तिं महाभक्त्या भजध्वं मुनिपुंगवाः ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परपदस्वरूपविचारो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवलिङ्गं समासतः ।
यस्य विज्ञानमात्रेण विमुक्तो मानवो भवेत् ॥ १ ॥
शिव एव स्वयं लिङ्गं लिङ्गं गमकमेव हि ।
शिवेन गम्यते सर्वं शिवो नान्येन गम्यते ॥ २ ॥
जडं हि गम्यतेऽन्येन नाजडं मुनिपुंगवाः । शिवो नैव जडः साक्षात्स्वप्रकाशैकलक्षणः ॥ ३ ॥

या परतत्त्वमूर्तिरभिहिता तत्प्रसादादेव भोगमोक्षरूपफलप्राप्तिरिति सा सर्वैः सर्वदा सेव्येत्युपसंहरति–**परतत्त्वपरिज्ञानमित्यादिना** ॥ ३९–४२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परपदस्वरूपविचारो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

एवं परशिवस्य ध्यानपूजाद्यर्थं परिकल्पितां विशिष्टां मूर्तिं प्रतिपाद्य शिवलिङ्गस्वरूपमपि निर्णेतुं प्रतिजानीते–**अथात इति** ॥ १ ॥ शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमिति भ्रमं व्युदसितुमाह–**शिव एव स्वयं लिङ्गमिति** । तदुपपादयति–**लिङ्गं गमकमित्यादिना** । लोके हि वह्न्यादिलक्षणस्यार्थान्तरस्य यद्गमकं ज्ञापकं धूमादि लिङ्गमित्युच्य । शिवोऽपि स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन सर्वस्य[1] जडवर्गस्य गमको न त्वन्येन गम्यः । अतो गमकत्वात्स्वयमेव लिङ्गम् ॥ २ ॥ एतदेव गमकत्वमुपपादयति–**जडं हीत्यादिना** । घटपटाद्यात्मकं जडं जगदेव स्वव्यतिरिक्तेन चित्प्रकाशेन ज्ञाप्यते । जडविलक्षणं चैतन्यं नान्येन गम्यते किन्तु स्वयं प्रकाशते । अतः स्वप्रकाशचिद्रूपः परशिवो नैव जडः । यतो न जडोऽतो न गम्यः । अपि तु स्वप्रकाश[2] चिद्रूपत्वाद्गमकः । अतः स्वयमेव लिङ्गमित्यर्थः ॥ ३ ॥ भवेदेवं यदि शिवः

शिवलिंग के स्वरूप का कथन नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं संक्षेप में शिवलिंग के सन्दर्भ में बताता हूँ । शिवलिंग को सही तरह से समझ लेने से मनुष्य मुक्ति पा जाता है ॥ १ ॥ शिव स्वयं ही लिंग है । ज्ञापक को ही लिंग कहते हैं । शिव से ही सब ज्ञात होता है । शिव किसी अन्य से ज्ञात होते नहीं । (अतः शिव का लिंग, ज्ञापक, शिवलिंग नहीं । मेदिनी में लिंगशब्द का अर्थ 'शिवमूर्तिविशेषेऽपि' भी दिया है । हैमकोश में भी 'शिवमूर्तौ' अर्थ कहा है । विश्वकोष भी बताता है 'शिवमूर्तिविशेषेऽपि' । त्रिकाण्डशेष 'लिंग स्थाणौ' इस प्रकार लिंग शब्द महादेवपरक बताता है । एवं च लिंग शब्द शक्तिवश ही शिवके मूर्तामूर्त प्रतीक का वाचक है । अतः इसे मेहनपरक ही मुख्य मानना भाषा के अज्ञान से ही कुछ आधुनिकों का आग्रह बना हुआ है । किन्तु प्रकृत प्रसंग तो शिवलिंग शब्द का यह अर्थ ही उचित नहीं मान रहा है कि शिव के ज्ञापक प्रतीकादि को शिवलिंग कहा जाये । यह अर्थ तो समझाने मात्र के लिये है ऐसा आगे स्पष्ट होगा । मुख्य अर्थ में तो शिव स्वयं अपने तथा बाकी सबके लिंग–ज्ञापक हैं । अन्यों के लिंग हैं प्रकाशक होने से व अपने लिंग हैं प्रकाश होने से ।) ॥ २ ॥ जड़ वस्तु ही किसी स्वभिन्न चेतन द्वारा जानी जाती है चेतन कभी किसी अन्य द्वारा जाना नहीं जाता । स्वप्रकाशरूप साक्षात् शिव जड़ तो हैं नहीं कि उन्हें किसी अन्य से जाना जाये । (अतः शिव का कोई लिंग नहीं, वे स्वय ही लिंग हैं) ॥ ३ ॥ यदि शिव स्वप्रकाश न हो तो वे शिव ही नहीं रह जायेंगे क्योंकि दीवाल इत्यादि जो कुछ भी अस्वप्रकाश होता है वह शिव नहीं है यह निश्चित है ॥ ४ ॥ यदि शिव स्वप्रकाशस्वरूप न हों तो किसी भी वस्तु की प्रतीति न हो और

---

१ घ. °र्वजडाज° । २ ङ. °शरूप° ।

अस्वप्रकाशश्चेत्साक्षाच्छिवो नैव शिवो भवेत् ।
अस्वप्रकाशं कुड्यादि न शिवः संमतं खलु ॥ ४ ॥
शिवेऽसति मुनिश्रेष्ठाः स्वप्रकाशैकलक्षणे । अप्रतीतं भवेत्सर्वं ततः शून्यमशेषतः ॥ ५ ॥
शून्यसिद्धिरपि श्रेष्ठाः शून्येनैव न सिध्यति ।
खलु सर्वात्मना भानविहीनं शून्यलक्षणम् ॥ ६ ॥

स्वप्रकाशचिद्रूपः स्यात्तथात्वे तु सर्वदा सर्वथा भावत्वेन तद्गोचरप्रमाणनैरपेक्ष्यादुपनिषदेकसमधिगम्यत्वभङ्गप्रसक्तेरस्वप्रकाश एव स इत्यत आह–अस्वप्रकाशश्चेदिति । यदि शिवः स्वप्रकाशचिदात्मको न स्यात्तर्हि तस्य शिवत्वमेव हीयेत । पराधीनप्रकाशानां घटकुड्यादीनामशिवत्वदर्शनात् । विमतः शिवः स्वप्रकाशो भवितुमर्हति शिवत्वात्, यो न स्वप्रकाशो नासौ शिवो यथा घटपटादिः शिवश्चायं तस्मात् स्वप्रकाश एवेत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ विपक्षे बाधकमाह–शिव इति । जडं सर्वं जगत्तावच्छिवस्वरूपचैतन्यबलादेव प्रतीयते तदपि चैतन्यं प्रतीयमानमेवार्थं प्रत्याययतीत्यङ्गीकार्यम् । दीपादौ तथा दृष्टत्वात् । तच्चेज्ज्ञानान्तरेण प्रतीयेत तदप्येवमिति तस्यापि स्वप्रकाश एष्टव्यः । तथाच तज्ज्ञानान्तरं स्वयं प्रकाशते चेत्प्रथमज्ञानमेव तथा भवतु पराधीनप्रकाशं चेत्किं तत्परं प्रथमज्ञानमेव, तदाऽन्योन्याश्रयादेकमपि न सिध्येत् । अथ तृतीयं ज्ञानान्तरं तस्यापि प्रकाशावश्यंभावाज्ज्ञानान्तरं वक्तव्यं स्यात्तथाऽप्येवमित्यनवस्था मूलक्षयकरी स्यात् । एवं च परशिवस्वरूपस्य स्वप्रकाशतानङ्गीकारे ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वमप्रतिभातं सच्छून्यमेव भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥ सिद्धं नः समीहितमिति यदि शून्यवादी प्रत्यवतिष्ठेत तं प्रत्याह–शून्यसिद्धिरिति । शून्यवादिनाऽपि सर्वशून्यत्वं केनचित्प्रमाणज्ञानेनैव प्रतिपादनीयं न तु शून्येनैव । मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वात् । तथाच तज्ज्ञानस्य सत्त्वात्सर्वशून्यत्वं न सिध्येत् । सर्वप्रकारेणापि प्रतिभानराहित्यस्यैव शून्यलक्षणत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सब कुछ शून्य रूप हो जाये । (स्वप्रकाश का तात्पर्य उस वस्तु से है जो स्वयं प्रकाश का (ज्ञान का) विषय न बने तथा स्वभिन्न को प्रकाशित कर दे । क्षणिक विज्ञान यद्यपि प्रकाश का विषय नहीं बनता तथापि स्वभिन्न को प्रकाशित भी नहीं करता–क्योंकि क्षणिकविज्ञानातिरिक्त प्रकाश्य विषय है ही नहीं, अतः सिद्धान्ताभिप्रेत स्वप्रकाशता उसमें नहीं है । स्वभिन्न वास्तविक होना चाहिये ऐसी बात नहीं तथा स्वभिन्न को प्रकाशित किया हो इतना ही आवश्यक है, प्रकाशित करता रहे यह जरूरी नहीं । अतः प्रकाशकत्वोपलक्षित होते हुए अप्रकाश्य होना स्वप्रकाश होना है । न्यायरत्नावली के अनुसार तो ऐसी विद्यमान वस्तु जो न ज्ञान का और न संशय आदि का विषय बने, स्वप्रकाश कही जाती है : 'ज्ञानविषयत्वं विनैव संशयादिविषयत्वाऽयोग्य विद्यमानस्वरूपकत्वम्' (पृ. २२९ प्र. द्वा.) । ज्ञानात्मक शिव यदि स्वप्रकाश न हों तो निरन्तर परप्रकाश अपेक्षित होने से मूलहानि करने वाली अनवस्था हो जायेगी और प्राथमिक घट ज्ञान ही अनंत काल तक हो न पायेगा जिससे अन्य कोई व्यवहार होगा नहीं । एवं च जब कुछ ज्ञात न होगा तो अप्रामाणिक होने से कुछ भी वास्तविक नहीं सिद्ध होगा । फलतः कुछ वास्तविक नहीं है ऐसा शून्यवाद स्वीकारना पड़ेगा ।) ॥ ५ ॥ किन्तु शून्य भी स्वयं तो सिद्ध होता नहीं (क्योंकि वैसा होने पर वही स्वप्रकाश शिव

अतः साक्षी शिवः साम्बः स्वप्रकाशैकलक्षणः ।
तेन सर्वमिद गम्यं गम्यतेऽसौ न गम्यते ॥ ७ ॥
स्वयं ज्योतिरिति प्राह श्रुतिः साध्वी महेश्वरम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यपि चाऽऽह हि ॥ ८ ॥
अतः शिवः सर्वजगद्विभासकः स्वयंप्रकाशः स्वयमेव केवलम् ।
मयोदितं[1] लिङ्गमिति द्विजर्षभास्तदेव पूज्यं श्रुतिमस्तकस्थितम् ॥ ९ ॥
शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमन्ये मुनीश्वरा वेदविदो वदन्ति ।
स्वयम्प्रकाशस्य न युज्यते तत् ततश्च शम्भुः स्वयमेव लिङ्गम् ॥ १० ॥
विवेकहीनमर्त्यस्य चित्तवृत्त्याद्यपेक्षया
शिवस्य लिङ्गमित्ययं रवः समस्तजन्तुभिः ।
निगद्यते शिवः स्वतः प्रसिद्ध एव सर्वदा । ततः शिवस्य लिङ्गमित्ययं रवो न सङ्गतः ॥ ११ ॥
स्वत एव प्रगमोऽपि शङ्करो न विभातीव विभाति मायया ।
स्वत एव श्रुतिकोविदाः शिवः स्वकलिङ्गेन निगम्यते स्फुटम् ॥ १२ ॥

एवं सर्वशून्यमतेऽपि ज्ञानसद्भावावश्यंभावात्तस्य च पराधीनप्रकाशत्वाङ्गीकारेऽनवस्थायां ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभावेन सर्वजगदान्ध्यप्रसङ्गात्स्वप्रकाशमेव तदित्यङ्गीकर्तव्यम् । घटज्ञानं पटज्ञानमिति नानात्वप्रतीतेरप्युपाधिकृतत्वादद्वितीयं स्वप्रकाशचैतन्यमेव परशिवस्वरूपमिति निगमयति–**अत** इति । तेन स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपचैतन्येन सर्वमिदं परागभूतं जगद्गम्यते । अतस्तत्स्वरूपं गमकम् । यतः स्वप्रकाशत्वादन्येन न गम्यतेऽतो न गम्यत इत्यर्थः । अयमभिप्रायः । यद्यपि परशिवस्वरूपचैतन्यं स्वप्रकाशं तथाऽप्यनाद्यविद्याविलासवशेनाऽऽवृतमिव भवति । तच्चाऽऽवरणमुपनिषद्वाक्यजनितया परशिवस्वरूपविषयान्तःकरणवृत्त्याऽपनीयते । तस्मिंश्चापनीते तत्तत्त्वं स्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशते न तु घटादिवत्स्वातिरिक्तचैतन्यमपेक्षते ।' अतः फलव्याप्यत्वाभावात्स्वयंप्रकाशत्वं वृत्तिव्याप्यत्वसद्भावाच्चोपनिषदेकसमधिगम्यत्वं च न विरुध्यते ॥ ७ ॥ इत्थं स्वप्रकाशत्वं तर्कतो निरूप्य तदनुग्राह्यं स्वप्रकाशत्वगमकं प्रमाणमप्युपन्यस्यति–**स्वयंज्योतिरिति** । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्येतद्वाक्यमित्यर्थः । तथा शिवस्वरूपातिरिक्तस्य सर्वस्य मायापरिकल्पितस्य तदधीनप्रकाशत्वमित्यत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति–**तस्य भासा सर्वमिति** । श्रूयते हि– 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति ॥ ८ ॥ शिव एव लिङ्गमिति प्रतिज्ञातं सिद्धमिति निगमयति–**अत** इति । **श्रुतिमस्तकस्थितमिति** । वेदान्तैः प्रतिपादितं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं परशिवस्वरूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥ स्वयंप्रकाशस्य न युज्यत इति । स्वप्रकाशचैतन्यस्य गमकान्तरनैरपेक्ष्येणावस्थितस्य लिङ्ग गमक मित्येतन्नोपपद्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गम् इति लोके पूज्यत्वेन प्रसिद्धम्, तत् कथं शिव एव लिङ्गम् ? इत्यत आह–**विवेकेति** । परशिवस्वरूपं विविच्य ज्ञातुमशक्तस्य मर्त्यस्य चित्तवृत्तिम् अपेक्ष्य तदनुसारेणैव शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमिति लोकव्यपदेशः । विवेकदृष्ट्या तु स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपस्य गमकाभावाच्चासौ न युक्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु विवेकरहितस्यापि परशिवः स्वप्रकाश एव, न हि वस्तु पुरुषविशेषमपेक्ष्य अन्यथा भवति, अतः तच्चित्तानुसारेणापि शिवस्य लिङ्गमित्येतद् न युज्यत इति ? अत आह–**स्वत एवेति** । प्रगमयति प्रकर्षेण सर्वं प्रकाशयतीति प्रगमः । गमयतेः पचाद्यच् । सर्वस्य गमकत्वेन स्वयं प्रकाशमानोऽपि शिवो, 'न भाति, न प्रकाशत' इत्यज्ञानत्वेन मायावशाद् अविवेकिनां न प्रकाशते । अतः तैः मायावद्धदृष्टिभिः अज्ञायमानः स्वयं प्रकाशमानः शिवः स्वरूपावगमकेन अन्येन लिङ्गेन स्पष्टं तैर्ज्ञायत इति भवति विवेकहीन चित्तवृत्त्यपेक्षयैव 'शिवस्य लिङ्गम्' इत्यपि व्यवहार इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हो जायेगा) । शून्य का परिचय ही यह है कि उसका कैसा भी भान होता नहीं ॥ ६ ॥ इसलिये स्वप्रकाश साम्ब सदाशिव रूप साक्षी ही हैं जिनसे यह सारा जगत् भासता है जबकि वे किसी के विषय बनते नहीं ॥ ७ ॥ वेद ने महेश्वर को 'स्वयं ज्योति' शब्द से कहा ही है । यह भी बताया है कि उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित है ॥ ८ ॥ वेदान्तप्रसिद्ध इस शिवरूप लिंग का ही मैंने प्रतिपादन किया, वही आप लोगों के लिए पूज्य है ॥ ९ ॥ कुछ लोग 'शिव का लिंग' यह व्याख्या करते हैं किन्तु स्वयंप्रकाश का उनसे अन्य गमक होना संभव नहीं अतः वह व्याख्या मुख्य नहीं है ॥ १० ॥ अविवेकी की बुद्धि मुख्य अर्थ नहीं समझ सकती इसीलिये 'शिव का लिंग' यों प्रारंभ में समझाते हैं लेकिन हमेशा खुद ही प्रकाशमान शिव का उनसे भिन्न लिंग हो यह युक्ति व प्रमाण से विरुद्ध है ॥ ११ ॥ यद्यपि शंकर स्वयं ही सबको प्रकाशित करते हैं तथापि मायावश लगता है मानो वे भास न रहे हों ! हे वेदवेत्ताओ ! शिव स्वयं स्वरूपभूत लिङ्ग रूप से स्पष्ट समझे जाते हैं । (या शिव का समझा जाने वाला लिंग ही आराधना आदि द्वारा शिवस्वरूप के स्पष्ट ज्ञान का उपाय बनता है) ॥ १२ ॥

---

१ ग. घ. च. छ. ज. मयोदितो ।

शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति केचिद् बहुप्रकारं व्यवहारदृष्ट्या ।
न तत्त्वदृष्ट्या परमेश्वरस्य स्वयंप्रभस्यास्य न चास्ति लिङ्गम् ॥ १३ ॥
वेदान्तवाक्योत्थपरात्मविद्यां शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति केचिद् ।
विचारजन्यामपि सत्यविद्यां ब्रुवन्ति चान्ये परमस्य लिङ्गम् ॥ १४ ॥
स्मृतिजामितिहासजामिमां परविद्यामपि लिङ्गमीशितुः ।
अतिशुद्धामपि तां पुराणजां प्रवदन्ति श्रुतिवित्तमोत्तमाः ॥ १५ ॥
शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति मायां शिवस्य दृश्यां शिववस्तुनिष्ठाम् ।
वदन्ति केचिज्जनचित्तमन्ये[1] त्वहंकृतिं चापि मनश्च बुद्धिम् ॥ १६ ॥

एवं स्वप्रकाशस्यापि शिवस्य मायावशादज्ञायमानस्य गमकानि लिङ्गानि व्यवहारदशायां विद्वद्भिः प्रतिपाद्यन्त इति दर्शयति-**शिवस्य लिङ्गमिति** । तत्सर्वं व्यवहारदृष्ट्यैव लिङ्गं न तु परमार्थविषयया दृष्ट्या परशिवस्वरूपस्य स्वयंप्रभत्वेन गमकान्तरनिरपेक्षत्वात्स्वयमेव सर्वस्य गमकत्वाच्छिवस्वरूपमेव लिङ्गं न तु शिवस्य लिङ्गं किंचिदित्यर्थः ॥ १३ ॥ तान्येव वहुविधानि लिङ्गानि क्रमेणाऽऽचष्टे-**वेदान्तेत्यादिना** । वेदान्तवाक्यजनिता या परशिवस्वरूपविषया मनोवृत्तिः सा तत्स्वरूपावरणाविद्यापनयनद्वारा स्वयंप्रकाशस्यापि तस्य व्यवहारदृष्ट्या गमकत्वाल्लिङ्गमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । **विचारजन्यामिति** । विचारो मीमांसा सा चात्रोपनिषद्वाक्यनिर्णायकवेदान्तशास्त्रं तत्परिशीलनजन्यामित्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ एवं शास्त्रस्मृतीतिहासपुराणजन्याद्वितीयपरशिवस्वरूपविषया मनोवृत्तयो लिङ्गत्वेनोक्ताः । अथ तत्स्वरूपे परिकल्पितं मायातत्कार्यं सर्वमपि स्वाधिष्ठानस्य परशिवस्वरूपस्य गमकत्वाल्लिङ्गत्वेन व्यवह्रियत इति दर्शयति-**शिवस्येति** । **शिवस्य दृश्यामिति** । शिवेन प्रकाश्याम् । **शिववस्तुनिष्ठां** वस्तुभूते परशिवस्वरूपे समाश्रितामित्यर्थः । ईदृशी माया हि प्रत्यगात्मनः कारणशरीरं तदुपाधिवशादुपहितं प्रत्यग्भूतं परशिवस्वरूपमवगम्यत इति मायाया लिङ्गत्वम् । **जनचित्तमिति** । जनानां प्राणिनां मायासत्त्वपरिणामरूपमन्तःकरणं तद्वृत्तयोऽहंकारादयः पूर्वोक्तस्वरूपाः ॥ १६ ॥

व्यवहारदृष्टि से ही कुछ विचारक शिव के बहुत तरह के लिंगों का वर्णन करते हैं । यद्यपि स्वयंप्रभ परमेश्वर का वस्तुतः कोई लिंग नहीं है तथापि साधकानुग्रहार्थ विभिन्न लिंगों का वर्णन किया जाता है ॥ १३ ॥ कुछ लोग वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न परशिवस्वरूपविषयक वृत्ति को शिव का लिंग (बोधक) बताते हैं । शारीरकीय मीमांसा के परिशीलन से उत्पन्न तादृश वृत्ति को अन्य लोग शिव का लिंग बताते हैं ॥ १४ ॥ स्मृति से, इतिहास से या पुराण से उत्पादित परमेश्वरविषयक अतिशुद्ध वृत्ति को भी शिव का लिंग बताया जाता है ॥ १५ ॥ शिव के द्वारा प्रकाश्य तथा शिव में ही आश्रित माया को शिव का लिंग कुछ विचारक कहते हैं । (माया से मायी का पता चलने से वह उसका लिंग है ।) अन्य विचारक

---

१ तदस्य रूपं प्रतिचक्षणायेति बार्हदारण्यकं वचनमिह मूलमनुसन्धातव्यम् ।

प्राणं च लिङ्गं प्रवदन्ति केचिच्छरीरमन्ये प्रवदन्ति लिङ्गम् ।
त्वगादिखानि प्रवदन्ति केचित्समूहमन्ये परमेश्वरस्य ॥ १७ ॥
शब्दादिभूतानि महेश्वरस्य स्थूलानि भूतानि च संगिरन्ते ।
पाताललोकादि समस्तमेतल्लिङ्गं महेशस्य वदन्ति केचित् ॥ १८ ॥
यदस्ति यन्नास्ति महेश्वरस्य समस्तमेतत्प्रवदन्ति लिङ्गम् ।
विशुद्धविद्याः परयोगिणोऽस्य स्वयंप्रभस्यैव न लिङ्गमूचुः ॥ १९ ॥
यद्यल्लिङ्गतया शिवस्य कथितं तत्तज्जडं वस्तुतो लिङ्गं नैव भवेद्विशुद्धमतयो ज्ञानं हि लिङ्गं भवेत्।
तस्मादेव महेश्वरः परतरस्तत्तज्जडोपाधिकश्चिद्रूपः प्रथितः प्रभोर्गमकमित्यर्थस्थितिः स्वस्य तु ॥ २०॥

प्राणस्य च लिङ्गत्वं श्रुतौ दर्शितम्–'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति 'स प्राणमसृजत' इति श्रुतत्वात् । **शरीरमन्य** इति । मनोबुद्धिप्राणादिसमुदायरूपं यत्सूक्ष्मशरीरं तदपि स्वोपहितस्य गमकत्वाल्लिङ्गमित्यर्थः । **त्वगादिखानीति** । त्वगसृङ्मांसाद्या ये सप्त धातवस्तेऽपि प्रत्येकं चेतनस्य गमकत्वाल्लिङ्गम । **समूहमन्य** इति । त्वगादीनां समुदायरूपं स्थूलशरीरमित्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं शरीरत्रयात्मकस्य[1]. दृश्यस्य लिङ्गत्वमभिधाय भूतभौतिकस्यापि दृश्यवर्गस्य तल्लिङ्गत्वमाचष्टे–**शब्दादीत्यादिना** । शब्दतन्मात्राद्यात्मकानि सूक्ष्मभूतानि **शब्दादिभूतानि** । **पाताललोकादीति** । आदिशब्देनान्ये त्रयोदश लोका गृह्यन्ते ॥ १८ ॥ इत्थं व्यवहारदृष्टिमाश्रित्य वादिभिर्बहुधाऽभिधीयमानं लिङ्गजातमभिधाय परमार्थदर्शिनां मतमाह–**विशुद्धविद्या** इति । विशुद्धा संशयविपर्[2]यासादिरहिता वेदान्तमहावाक्यजनिता प्रत्यग्ब्रह्मैक्यविषया विद्या येषां ते तथोक्ताः । अत एव **परयोगिणस्तेऽस्य** परशिवस्य स्वरूपातिरिक्तं किमपि लिङ्गं **न** प्रतिपादयन्ति । अपि[3] तु स्वयमेव लिङ्गं भवतीति ब्रुवते ॥ १९ ॥ किंचोक्तेषु सर्वेष्वपि लिङ्गेषु स्वरूपेण ज्ञायमानस्यैव परशिवस्वरूपगमकत्वात्प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सोपाधिकश्चिद्रूपः शिव एव निरुपाधिकस्य स्वस्य गमक इति स्वयमेव लिङ्गमित्येतदेव युक्तमित्याह–**यद्यल्लिङ्गतयेति** । अतीतेन ग्रन्थसंदर्भेण **यद्यज्जडं** वस्तु **शिवस्य** लिङ्गत्वेनानुक्रान्तं **तत्तद्वस्तुतः** स्वसत्तामात्रेण न लिङ्गम्, अपि तु ज्ञायमानमेव । यतः पण्डिता लोके ज्ञातमेव धूमादिकं लिङ्गमिति ब्रुवते । तस्मात्कारणात्तत्तज्जडाधिष्ठानत्वेन तत्तद्भासकस्तदुपाधिपरिच्छिन्नश्चिद्रूपः शिव एव **प्रभोर्व्यापकस्यानवच्छिन्नस्य** स्वस्वरूपस्य **गमकं** लिङ्गं भवतीत्येवा**र्थस्थिति**र्वस्तुस्थितिः । अतः परशिवः स्वयमेव लिङ्गमित्यस्मिन्नेवार्थे सर्वेषां पर्यवसानमित्यर्थः ॥ २० ॥

जीवों के चित्तों को (अंतःकरणों को) या उनकी अहंकारादिवृत्तियों को शिव का लिंग कहते हैं । ॥ १६ ॥ कुछ आचार्य प्राण को ही शिव का लिंग मानते हैं । अन्यों ने शरीर को ही लिंग कहा है । त्वग् आदि इंद्रियों को तथा इनके समूह को कुछेक ने लिंग माना है ॥ १७ ॥ सूक्ष्म महाभूतों को, स्थूल महाभूतों को तथा पातालादि सब लोकों को अन्यान्य विचारकों ने शिव का लिंग बताया है ॥ १८ ॥ व्यक्त तथा अव्यक्त इस सारे प्रपंच को शिव का लिंग तत्तत् लोगों ने माना है । किंतु अत्यंत शुद्ध विद्या वाले परमार्थदर्शी योगी कहते हैं कि स्वप्रकाश शिव का कोई लिंग नहीं है ॥ १९ ॥ जो कोई भी वस्तु शिव का लिंग समझी जा सकती है वह जड है तथा स्वसत्तामात्र से (केवल है इसलिये) तो लिंग वनती नहीं किंतु ज्ञायमान (जानी जाती हुई) ही लिंग बनती है । उन-उन वस्तुओं का जब हमें ज्ञान होता है तभी वे शिव का बोध कराती हुई उनका लिंग बनती हैं । अतः वस्तुस्थिति तो यह है कि तत्तत् जड वस्तु का प्रकाशक ज्ञानरूप चेतन ही शिव का लिंग है । चेतन स्वयं शिव है । एवं च सोपाधिक शिव ही निरुपाधिक स्वस्वरूप का लिंग होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शिव ही शिव का लिंग है अर्थात् शिव ही लिंग है, तदतिरिक्त कुछ उसका लिंग नहीं ॥ २० ॥ कुछ लोग आलय को (लिंगमूर्ति आदि को) शिव का लिंग मानते हैं । तब भी साक्षात् शंकर ही लिंग सिद्ध होते हैं अन्य शिलाखण्ड आदि नहीं ॥ २१ ॥

---

१ ग. घ. "स्यं लि" । २ छ. "पर्ययादि" । ३. छ. किंतु ।

आलयं लिङ्गमित्याहुरपरे वेदवित्तमाः । तदाऽपि शंकरः साक्षाल्लिङ्गं नान्यन्मुनीश्वराः ॥ २१ ॥

आलयो नाम चाऽऽधारः सर्वाधारः शिवः खलु ।

सदा सत्यस्वभावत्वात्सत्य एव शिवः खलु ॥ २२ ॥

चिद्रूपं हि सदा सत्यं नाचिद्रूपं कथंचन । असत्यत्वस्य दृष्टत्वादचिद्रूपस्य वस्तुनः ॥ २३ ॥

एवं गमकं लिङ्गमिति पक्षे शिवस्वरूपस्यैव सर्वगमकत्वाल्लिङ्गत्वमुपपाद्य मतान्तरेऽपि तथात्वमुपपादयितुमनुभाषते–**आलयमिति** । स्वस्वरूपस्य शिवस्य ध्यानपूजाद्यर्थं लिङ्गप्रतिमादिकं यदालम्बनं तल्लिङ्गमित्यर्थः । तस्मिन्नपि मते शिव एव लिङ्गमित्ययमेवार्थः पर्यवस्यतीत्याह–**तदाऽपीति** ॥ २१ ॥ तदेवमुपपादयितुमालयशब्दार्थमाह–**आलयो नामेति** । आधारोऽधिकरणमधिष्ठानमिति यावत् । तच्चाऽऽधारत्वं निरूप्यमाणे परशिवस्यैव घटते नान्यस्येत्युपपादयति–**सर्वाधार इति** । सच्चिदानन्दलक्षणेऽद्वितीये परशिवस्वरूपे हि मायावशाद्भूतभौतिकात्मकं सर्वं जगत्परिकल्पितमित्याधारत्वं शिवस्यैव पारमार्थिकं न तु मायाकार्यस्यान्यस्येत्यर्थः । कुत इत्यत आह–**सदेति** । सत्यरूपे हि वस्तुनि शुक्तिकाशकलादौ मायामयरजतादिकं परिकल्पितं दृष्टं, शिवश्च सत्यस्वभावः, अतस्तत्स्वरूपे मिथ्याभूतस्य [1]दृश्यप्रपञ्चस्य परिकल्पितत्वमङ्गीकार्यमिति भवत्यस्य सर्वाधारत्वमित्यर्थः । भवेदेवं यद्यसौ शिवः सत्यः स्यात्, सत्तायोगि हि सत्यं, निर्धर्मकस्य सत्तासंबन्धलक्षणधर्माङ्गीकारानुपपत्तेरित्यत आह–**सत्य एवेति** ॥ २२ ॥ यदि घटपटादेरपि सत्तायोगात्सत्त्वमङ्गी कुर्मस्तदा स्यादयमप्यु[2]पालम्भः । सद्रूपे ब्रह्मणि परिकल्पितत्वादधिष्ठानसत्त्वमेवाऽऽरोप्येषु प्रतीयते, स[3]र्पधारादौ रज्ज्वा इदमंशवत् । अस्त्वेवमारोप्येषु सत्त्वप्रतीतिः; अधिष्ठानभूतस्य निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः कथं सत्यत्वम् ? सर्वदा बाधवैधुर्यादिति ब्रूमः । तदपि कुत इत्यत आह–**चिद्रूपं हीति** । नानाविधेषु चेत्यरूपेषु व्यावर्तमानेषु तद्भावाभावसाक्षितयाऽनुवर्तमानं चिद्रूपमेव सत्यं जडरूपं तु मायामयत्वादनृतमतश्चिद्रूपत्वाच्छिवः[4] सत्यः । ननु जडस्यापि सत्यत्वं कस्मान्न भवतीत्यत आह–**असत्यत्वस्येति** ॥ २३ ॥

आलय कहते हैं आधार को । (मूर्ति को भी आलय इसलिये कहते हैं कि उसमें शिव का आवाहन आदि किया जाता है अतः वह उनका आधार बनती है ।) सबका आधार तो शिव ही है । सदा सत्य स्वभाव वाला होने से शिवस्वरूप ही सबका आधार है । शिव ही एकमात्र सत्यरूप है । (मूर्ति भी सत्ता में टिकी है। अतः उसका भी आधार शिव ही है ।) ॥ २२ ॥ सदा सत्य रहने वाली चेतनवस्तु ही है, जड नहीं क्योंकि जड वस्तु की असत्यता देखी गयी है । (जिसका जिस रूप से प्रमाणतः निर्णय हो जाये वह उस रूप को कभी न छोड़े तभी उस वस्तु को सत्य कहते हैं । जड वस्तुओं का है रूप से प्रामाणिक निश्चय होने पर भी कालान्तर में वे उस रूप का परित्याग कर 'नहीं है' रूप की हो जाती हैं अतः असत्य हैं ।) ॥ २३ ॥ सीप में दीखने वाली जड चाँदी असत्य

---

१ छ. जडप्रपञ्चस्य । २ ख. ङ. च. "प्युपल" । ३ ग. सर्पाधारादौ । ४ ख. "च्छिव एव स" ।

शुक्तिकारजतादीनामसत्यत्वं हि संमतम् । अचेतनानामन्येषामसत्यत्वे निदर्शनम् ॥ २४ ॥

शुक्तिकारजतं[1], विप्राः सत्य एव ततः शिवः ।

अतः कल्पितरूपाणामाधारो भगवाञ्शिवः ॥ २५ ॥

अनाधारो महादेवः सत्यचैतन्यलक्षणः । सर्वाधारस्य नाऽऽधारो विद्यते हि द्विजोत्तमाः ।

आकाशस्य यथा कश्चिन्नाऽऽधारो विद्यते द्विजाः ॥ २६ ॥

जडस्यासत्यत्वं कुत्र दृष्टमित्यत आह–**शुक्तिकेति** । शुक्तिरज्ज्वाद्यधिष्ठानेषु ये रजतसर्पादय आरोप्या जडास्तेषामसत्यत्वं तावदुभयवादिसंमतमित्यर्थः । अस्त्वेवमसत्येव प्रमातरि वाध्यमानत्वात्; सति प्रमातर्यवाध्यमानानां घटपटादीनां तु कुतोऽसत्यत्वमित्यत आह–**अचेतनानामिति** । अचेतनत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्येतद्दृष्टान्तवलेन सर्वस्याप्यसत्यत्वं सेत्स्यतीत्यर्थः । एवं मायापरिकल्पितस्य दृश्यप्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्यत्वे सत्यपि 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिका श्रुतिरपि पारमार्थिकसत्यत्वं निवारयति । तस्मात्परशिव एव परमार्थतः सत्यः । इत्थं परशिवस्य सत्यत्वं तदतिरिक्तस्यासत्यत्वं चोपपाद्योक्तं सर्वाधारत्वं निगमयति–**अत** इति ॥ २४-२५ ॥ ननु यथा [2]रजताद्यधिष्ठानस्य शुक्तिशकलादेरप्यन्यद्भूम्यादिकमधिकरणं दृश्यत एवं मायापरिकल्पितजगदधिष्ठानस्यापि शिवस्यान्यदधिष्ठानं किं न स्यादित्यत आह–**अनाधार** इति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति हि परशिवस्य स्वरूपलक्षणम् । प्रत्यस्तमितसकलविशेषं तत्स्वरूपं सर्वथा वाधरहितत्वात्सत्यमित्युच्यते; स्वपरव्यवहारे तु प्रकाशत्वाज्ज्ञानम्[3] । ईदृग्रूपो यः परशिवः स महादेवः । ब्रह्मविष्ण्वादीनां सोपाधिकानां परिच्छिन्नत्वादस्य च तथाविधोपाधिपरिच्छेदाभावान्महत्त्वम् । ईदृग्विधस्य तस्याऽऽधारान्तरं नोपपद्यत इत्यर्थः । एतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति–**सर्वाधारस्येति** । सर्वाधारो हि परशिवः स्वातिरिक्तस्य सर्वस्य मायया तत्स्वरूपे परिकल्पितत्वात्तस्य चाधिष्ठानादन्यत्रासंभवादधिष्ठानभूतस्य सर्वगतस्य परशिवस्याऽऽकाशस्येवाधिष्ठानान्तरं नोपपद्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

देखी गयी है । जडता सामान्य से अन्य सभी जड वस्तुओं को असत्य समझा जा सकता है ॥ २४ ॥ अतः शिव ही सत्य होने से सब कल्पित रूपों का वही आधार हो सकता है ॥ २५ ॥ स्वयं श्रीमहेश्वर निराधार हैं–उनका कोई आधार नहीं । जैसे सब चीजें किसी न किसी जगह में–आकाश में–रहती हैं किन्तु जगह कहाँ रहती है ? अनवस्थादि से बचने के लिए यही स्वीकारना पड़ता है कि जगह कहीं–किसी में–नहीं रहती । ऐसे ही सबके आधार महादेव हैं । आगे उनका आधार क्या हो ? वह भी तो सब में आ गया अतः उसका तो आधार स्वयं शिव हैं ।

१ शुक्तिकारजतमन्येषामचेतनानामसत्यत्वे निदर्शनं दृष्टान्त इति पूर्वेण सम्बन्धः । २ ग. रज्ज्वाद्य° । ३ ङ. च. छ. °ज्ज्ञातम् ।

व्यावर्तयति चाऽऽधारं शिवस्य परमात्मनः ॥ २७ ॥

स्वे महिम्नीति वेदान्तः सत्यवादी स्वतः प्रमा ।

वेदान्तवाक्यं मानानामतिमानमिति स्थितिः ॥ २८ ॥

अतः सत्यचिदानन्दलक्षणः परमेश्वरः । स्वयमेव सदा लिङ्गं न लिङ्गं तस्य विद्यते ॥ २९ ॥

संसारार्णवमग्नानामज्ञानान्धीकृतात्मनाम् । चित्तपाकानुगुण्येन भावनार्थं द्विजर्षभाः ॥ ३० ॥

अनाधारस्य देवस्य शिवस्य परमात्मनः । आधारो मन्त्रसंस्कारात्कल्पितः सत्यवद् बुधाः ॥ ३१ ॥

एवं परशिवस्याऽऽधारान्तरराहित्यं प्रतिपाद्य तत्र श्रुतिं प्रमाणयति–**व्यावर्तयतीति** । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इत्यादिकः स **वेदान्त**स्तस्य चार्थान्यथात्वशङ्कां निवर्तयति–**सत्यवादीति** । सत्यमबाधितं तत्स्वरूपं वदितुं शीलमस्येति तथोक्तः । ननु श्रुतिजन्यज्ञानमपि स्वार्थनिश्चयाय प्रमाणान्तरसंवादमपेक्षतेऽतः सापेक्षत्वादप्रामाण्यमित्यत आह–**स्वतःप्रमेति** । श्रुतिजन्या धीः स्वत एव प्रमा । अपौरुषेये वेदे पुरुषबुद्धिप्रभवाणां दोषाणामसंभवेन तज्जन्यप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वलक्षणस्य स्वतःप्रामाण्यस्य विद्यमानत्वात् । अबाधितार्थविषयत्वादपि वेदान्तस्यैव तत्त्वावेदकलक्षणं प्रामाण्यमित्याह–**वेदान्तेति** । उक्तं हि 'प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रामाण्यं व्यावहारिकम् । आश्रित्यायं प्रपञ्चः स्यादलीकोऽपि प्रमाणवान् ॥ अद्वैतागमवाक्यं तु तत्त्वावेदनलक्षणम् । प्रमाणभावं भजतां बाधवैधुर्यहेतुतः' इति ॥ २७-२८ ॥ शिवः स्वयमेव लिङ्गमिति यत्प्रतिज्ञातं तत्सुस्थमित्युपसंहरति–**अत** इति । उक्तरीत्या सदानन्दरूपः परशिव एव सर्वस्याऽऽधार इति स एव लिङ्गमित्यर्थः ॥ २९ ॥ नन्वेवं ध्यानपूजार्थं शिवस्याऽऽधारतया प्रतिष्ठादिसंस्कारैः संस्कृतं वाणलिङ्गादिकं न पूजनीयमेवेत्यत आह–**संसारेति** । **अज्ञानान्धीकृतात्मनामिति** । अज्ञानं मूलाविद्या तया कलुषीकृतचित्तानामित्यर्थः । उक्तलक्षणाद्वितीयपरशिवस्वरूपज्ञानरहितानां संसारिणां तच्चित्तपरिपाकानुसारेण प्रतिबन्धकपापक्षयार्थं ध्यानपूजादिकं कर्तव्यम् । अतस्तदर्थं निराधारस्यापि परशिवस्य वाणलिङ्गादिलक्षण आधारः[1] प्रासादपञ्चब्रह्मादिमन्त्रयुक्तसंस्कारैः प्रतिष्ठाद्यात्मकैः परमार्थवदागमैः परिकल्पित इत्यर्थः । अतः पूर्वोक्तपरशिवस्वरूपज्ञानवतां शिवस्वरूपमेव लिङ्गं तदनुसंधानमेव तस्य यजनम् । तद्रहितानां तु मृच्छिला[2]दिकृतं शिवस्याऽऽधारत्वेन परिकल्पितं बाह्यलिङ्गं पूजनीयमित्यर्थः । तदुक्तमागमिकैः– 'यतीनां योगिनां चैव बाह्योपरतिसक्तिषु । अन्तर्यागस्तु विहितो बाह्यपूजापरेषु च' ॥ अन्यत्रापि ज्ञानमधिकृत्योक्तम्– 'सर्वमन्यत्परित्यज्य चित्तमत्र निवेशय । मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्' इति ॥ ३०-३१ ॥

इसलिये शिव का कोई आधार नहीं ॥ २६ ॥ श्रुति यह कहकर कि यदि परमेश्वर का कोई आधार बताना ही हो तो उसका स्वरूप ही उसका आधार है यही बताया जा सकता है, यह स्पष्ट करती है कि शिव का शिव से अतिरिक्त कोई आधार नहीं है । श्रुति सत्य का ही ख्यापन करने वाली और स्वतः प्रमाण है । उसमें भी उपनिषद्-वाक्य सर्वप्रबल प्रमाण हैं ॥ २७-२८ ॥ अतः सच्चिदानंद परमेश्वर स्वयं ही लिंग हैं, अन्य कोई लिंग उनका नहीं है ॥ २९ ॥ संसार समुद्र में डूबते लोगों की मनोवस्था के अनुसार ध्यानादि के लिये निराधार महादेव के भी आधारों की कल्पना की गयी है । उन आधारों को मंत्रादि से संस्कृत कर उन्हें शिव का आलय या आधार समझा जाता है जिससे उसके द्वारा शिव को समझने का

---

१ ग. छ. ज. °रः प्रसा° । २ ख. छ. ज. °दिमयं शि° ।

लयनाल्लिङ्गमित्याहुरपरे वेदवित्तमाः । तदाऽपि लिङ्गं भगवान्स्वयमेव महेश्वरः ॥ ३२ ॥

लीयमानमिदं सर्वं ब्रह्मण्येव हि लीयते । न लीयते परं ब्रह्म सदा सत्यस्वभावतः ॥ ३३ ॥

शुक्तिकारजतादीनामसत्यानां द्विजर्षभाः ।
लयो दृष्टो न सत्यस्य शुक्तिकाशकलस्य च ॥ ३४ ॥

लीयते हि शिवादन्यदशेषमशिवं शिवे ।
अतो लिङ्गं द्विजश्रेष्ठा अविनाशी हरः[१] स्वयम् ॥ ३५ ॥

अन्ये च योगिनो विप्रा आमनन्ति शिवस्य तु ।
आधारेषु शरीरेऽस्मिल्लिँङ्गानि परमात्मनः ॥ ३६ ॥

एवं तावल्लिगि गत्यर्थ इत्यस्माद्धातोर्णिजन्तात्पचाद्यचि लिङ्गयति गमयतीति लिङ्गमिति व्युत्पादयतां मते परशिवस्यैव लिङ्गतामुक्त्वा लीयतेऽस्मिल्लिँङ्गमिति लीङ् संश्लेषण इत्यस्माद्धातोर्व्युत्पादयतामपि मते तथात्वमाह–**लयनादिति** ॥ ३२ ॥ तत्र हेतुः– **लीयमानमिति** । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः । यथाऽन्यद् ब्रह्मणि लीयत इति ब्रह्म लिङ्गमेव । ब्रह्म यत्र यत्र लीयते तदपि कुतो न तल्लिङ्गमिति भ्रमं वारयति–**न लीयत** इति ॥ ३३-३४ ॥ शुक्तिकाशकल इव लयो न दृष्टश्चेत्सोऽपि तर्हि ब्रह्मवदपरं लिङ्गमित्यत आह–**लीयते हीति** । व्यवहारदशायां कल्पितं रजतं यथा ज्ञानेन शुक्तिकाशकले लीयते नैवं शुक्तिकाशकलमन्यत्र, तत्त्वदृष्ट्या तु शुक्त्यादिशकलं ब्रह्मण्येव लीयते, न ब्रह्मान्यत्रेति ब्रह्मैव लिङ्गमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वाधिष्ठानत्वेन वा परशिव एव मुख्यं लिङ्गमित्युक्तं, तस्य परशिवस्योपासनार्थमौपाधिकानि रूपाणि श्रुत्यनुसारादागमानुसाराद्वा लिङ्गतया व्यवहरतां मतमाह–**अन्ये चेति** । मूलाधारो मणिपूरकोऽनाहत आज्ञा द्वादशान्तः षोडशान्तश्चेत्यस्मिञ्शरीरे षडाधाराः शिवस्योपासनास्थानानि । अष्टवितस्तिपरिमितस्य शरीरस्य वितस्तिचतुष्टयानन्तरं मूलाधारस्तत्र गुणसामान्योपाधिकं परतत्त्वं लिङ्गमुपासनीयम् । नाभौ मणिपूरकस्तत्र तदेव परतत्त्वं जगत्सर्गव्यापारं ब्रह्मसंज्ञितं लिङ्गमुपासनीयम् । हृदयेऽनाहतं तत्र सत्त्वगुणोपाधिकं तदेव तत्त्वं जगत्पालनव्यापारं विष्णुसंज्ञितम् । भ्रूमध्य आज्ञा तत्र तमोगुणोपाधिकं तदेव तत्त्वं संहारव्यापारं रुद्रसंज्ञितम् । ब्रह्मरन्ध्रे द्वादशान्ते तदेव तत्त्वं साक्षिरूपम् । ततः पश्चाच्चतुरङ्गुलानन्तरं षोडशान्तं तदेव तत्त्वं स्वप्रतिष्ठं लिङ्गरूपमुपासनीयमिति । उक्तमुत्तरतापनीयोपनिषदि–'मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं संदध्यात्' इत्यादि 'लिङ्गरूपानेव च संपूज्य' इत्यन्तम् । अतस्तामुपनिषदमनुसरन्तस्तच्छायानुसारिण आगमाननुसरन्तश्च योगिनोऽस्मिञ्शरीर उक्तेष्वाधारेषु यथोदीरितलिङ्गान्यामनन्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

प्रयास तथा पूजा आदि साधनों का अनुष्ठान किया जा सके ॥ ३०–३१ ॥

अन्य विचारक कहते हैं कि सब कुछ जिसमें लीन होता है वह लिंग है । इस अर्थ में भी शिव ही लिंग हैं क्योंकि सारा प्रपंच उन्हीं में लीन होता है ॥ ३२ ॥ लीन होता हुआ सारा जगत् परब्रह्म में विलीन होता है । परब्रह्म क्योंकि सत्य स्वभाव वाला है, इसलिये कभी लीन नहीं होता ॥ ३३ ॥ शुक्तिका में कल्पित रजत का ही लय देखा गया है, सत्य शुक्ति का तो लय व्यावहारिक रूप में देखा नहीं गया । अतः अधिष्ठान का कहीं लय नहीं होता ॥ ३४ ॥ शिव से भिन्न जो कुछ भी अशिव है वह सब शिव में लीन होता है, अतः अविनाशी हर ही अपना लिंग स्वयं ही हैं ॥ ३५ ॥

कुछ अन्य योगी लोग इस शरीर में ही कुछ स्थानों पर शिव के लिंग हैं ऐसा मानते हैं ॥ ३६ ॥

---

१ ख. शिवः ।

अधोमुखमनाद्यन्तमपिण्डं पिण्डसंज्ञितम् । ज्वलत्कालानलप्रख्यं स्वयंभु ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ ३७ ॥

मध्यमस्थं महामन्त्रैरर्चनीयं तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं लिङ्गमेकं प्रकीर्तितम् ॥ ३८ ॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोमलं द्विजपुंगवाः ॥ ३९ ॥

अपदं पदमव्यक्तमबाणं बाणमद्भुतम् । तृतीयस्थं सदैवोर्ध्वमुखं संसारनाशकम् ॥ ४० ॥

मणिपूरक उपासनीयस्य ब्रह्मलिङ्गस्य स्वरूपमाह–**अधोमुखमिति । यदनाद्यन्तं स्वयंभु** स्वप्रतिष्ठम**पिण्ड**मशरीरं **ब्रह्मसंज्ञितं** परं तत्त्वं तदेव **पिण्डसंज्ञितं** पिण्डेन स्थूलशरीरेण समष्टिरूपेणोपाधिना संबन्धात्प्राप्तप्राजापत्यादिनामकम् । संज्ञा जाता अस्येति संज्ञितम् । तारकादित्वादितच् । अत एवोपाधिसंबन्धाज्ज्वल**त्कालानलप्रख्यं** सुवर्णवर्णम् । **अधोमुखं** स्रष्टव्यजगल्लक्षणकार्याभिमुखम् । कारणकार्ययोरूर्ध्वाधःशब्दौ प्रसिद्धौ गीतासु–'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' इति ॥ ३७ ॥ **मध्यमस्थ**मुदरमध्ये हि नाभिस्थाने स्थितं मणिपूरकं चक्रं मध्यमं तत्र स्थितमित्यर्थः । **महामन्त्रैः** । प्रणवप्रथमावयवभूतोऽकार एको महामन्त्रः । स ह्येकाक्षरमात्रत्वेन परिमाणतोऽल्पोऽपि परापरपुरुषार्थप्राप्तिसाधनत्वेन फलतो महत्त्वान्महामन्त्रः । श्रूयते ह्यकारस्य महाफलत्वम् 'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा । आप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद' इति । प्रणवसमानार्थस्य हृल्लेखाप्रणवस्य प्रथमावयवो हकारोऽप्यकारसमानरीत्या द्वितीयो महामन्त्रः । अपरे बहवो मन्त्रा उत्तरतापनीयोपनिषद्भाष्ये प्रपञ्चिताः । अकारादिमन्त्राणां ब्रह्मात्मकता च श्रुत्यैवोक्ता–'अकारं ब्रह्माणं नाभौ । उकारं विष्णुं हृदये । मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये । ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते' इति । बाह्योपकरणनिरपेक्ष-मनोमात्रसाधन उक्तलिङ्गार्चने योगिनामेवाधिकार इत्याशयेनोक्तं **योगिभिरिति । ब्रह्मलिङ्गस्य** सरस्वतीशक्तिसाहित्यं परिवारान्महामन्त्रांश्च सांप्रदायिकानाभिसंधायोक्तं **गुरूपदेशत** इति ॥ ३८ ॥

जगद्रूप कार्य की उत्पत्ति के लिये अभिमुख अनादि अनंत परमात्मा, जो निर्देह होने पर भी ब्रह्माण्डसम्बन्ध से प्रजापति आदि नाम पा जाते हैं, वे ब्रह्म नामक स्वप्रतिष्ठ महादेव उदरस्थित मणिपूर चक्र में स्वर्ण वर्ण के होकर स्थित हैं । योगियों को चाहिये कि श्रेष्ठमंत्रों से उनकी अर्चना करें । इसके बारे में अन्य जानकारी गुरु से प्राप्त करनी चाहिये । यह एक लिंग है ॥ ३७–३८ ॥ अन्य लिंग तीसरे अर्थात् अनाहत चक्र में स्थित है । यह करोड़ों सूर्यों की चमक वाला किन्तु शीतल है । सूक्ष्म व स्थूल शरीर वाले न होने पर भी इन्द्रियातीत परमात्मा ने यह शरीर (इस लिंग का रूप) धारण किया है यह आश्चर्य है । क्योंकि यह लिंग कारण परमात्मा के स्वरूप का बोधक है इसलिये संसार को निवृत्त करता है । इसकी अर्चना भी महामंत्रों से योगियों को करनी चाहिये । इसकी विशेषतायें गुरु से जाननी चाहिये ॥ ३९–४१ ॥

---

१ ख. शिवः ।

अर्चनीयं महामन्त्रैरात्मनिष्ठैस्तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं द्वितीयं लिङ्गमीरितम् ॥ ४१ ॥

चन्द्रकोटिप्रतीकाशं शांकरं शक्तिवल्लभम् ॥ ४२ ॥

अरूपं[1] रूपमव्यक्तमपरं परमाद्भुतम् । विसर्गाधिष्ठितं विश्वं[2] विश्वविज्ञानसाधकम् ॥ ४३ ॥

अर्चनीयं महामन्त्रैरतिशुद्धैस्तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं तृतीयं लिङ्गमीरितम् ॥ ४४ ॥

अथ हृदयस्थेऽनाहत उपास्यस्यापि द्वितीयस्य विष्णुलिङ्गस्य स्वरूपमाह–**कोटिसूर्येति** । आत्मा नानायोनिषु कर्मफलभोगाय पद्यते गच्छत्यनेन करणेनेति पदं लिङ्गशरीरम् । श्रूयते हि–'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति । तेन पदेन रहितं परं तत्त्वम् । बाणमिति स्थूलशरीरम् । तथा हि प्रश्नोपनिषदि वागादीन्प्रति मुख्यस्य प्राणस्य वाक्यम्–'मा मोहमापद्यथा-हमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति । तेन स्थूलशरीरेण रहितमबाणम् । श्रूयते हि पदस्य शरीरद्वयराहित्यं काठके–'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति । अत एव सकलकरणागोचरत्वाद**व्यक्तम्** । तथाऽप्युपासनाय पदं बाणं सूक्ष्मस्थूलशरीरद्वयात्मकम् । अशरीरस्यैव शरीरद्वयात्मकत्वाद**द्भुतम्** । **कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोमलम्** । यतो रूपेणैवात्र सूर्यसादृश्यं न स्पर्शेनातः कोमलता । तृतीयमनाहतम् । यद्यप्युक्तमणिपूरकापेक्षया तदनाहतं द्वितीयं तथाऽपि मूलाधारापेक्षया तस्य तृतीयत्वमुक्तम् । मूलाधारेऽपि हि गुणसामान्योपाधिविशिष्टं परं तत्त्वं लिङ्गमुपास्यत्वेनोक्तमुत्तरतापनीये । इह चानाहतस्य तृतीयत्वाभिधानेन मूलाधारलिङ्गस्यापि संग्रहः सूचितः । यद्यपि तदपेक्षया विष्णुलिङ्गं तृतीयं तथाऽपि तस्येह साक्षा[3]दनुपन्यासादुपन्यस्तब्रह्मलिङ्गापेक्षया द्वितीयत्वमुक्तम् । एतच्च विष्णुलिङ्गमुपासकस्य मोक्षप्रदम् । यदाहुः–'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' इति । तदुक्तं **संसारनाशकमिति** । तथात्वं च प्रागुक्तकारणा-भिमुख्यात्तदाह–**ऊर्ध्वमुखमिति** । **महामन्त्रैरिति** । प्रणवद्वितीयमात्रोकारोऽत्र महामन्त्रः । अस्यापि हि महाफलत्वं श्रूयते 'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीय मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद' इति । हृल्लेखाद्वितीयाक्षरं रेफो द्वितीयो महामन्त्रः । पूर्ववदन्ये महामन्त्राः । अत्र **गुरूपदेशत** इति लक्ष्मीसाहित्यं परिवारयोगश्च ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

विसर्ग अर्थात् भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र में) स्थित एक और लिंग है । यह करोड़ों चंद्रों की तरह चमकदार है । उमाशक्ति सहित शंकर का यह लिंग है । वस्तुतः नीरूप होते हुए भी कृपा कर यह रूप महादेव ने लिया है । वे कभी व्यक्त नहीं होते किंतु भक्तों पर अनुग्रह कर व्यक्त हुए से प्रतीत हो जाते हैं । उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं, वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं । उनका वास्तव और प्रातीतिक रूप इतना भिन्न है, यह अद्भुतता है । यह सर्वात्मक रुद्र का वह लिंग है जो शिवज्ञान देता है । अतिशुद्ध योगियों को चाहिये कि महामंत्रों

---

१ ग. ङ. च. छ. ज. °रूपरू° । २ ङ. विश्वविज्ञानं ज्ञा° । ३ ग. ङ. च. छ. ज. °क्षात्तदुप° । घ. क्षादुपं° ।

एतेषु लिङ्गेषु शिवः पुराणः स्वशक्तियुक्तः स्वजनप्रियाय ।
प्रकाशते संततमात्मविद्याप्लवाभिलाषैरभिपूजनीयः ॥ ४५ ॥
अन्तर्लिङ्गं यो विजानाति शश्वद्बन्धच्छेदं शंकरस्य प्रसादात् ।
कुर्यादाशु ब्रह्मविद्ब्रह्मनिष्ठाः सत्यं प्रोक्तं सर्वलोकप्रियाय ॥ ४६ ॥
निस्तरङ्गशिवे परमात्मनि प्रत्ययस्य लयः परयोगिणः ।
मुख्यमर्चनमित्यभिपद्यते पुष्पतोयफलप्रमुखाः कृशाः ॥ ४७ ॥
मन्त्रेण पूजा मतिमत्तमानामबोधमूलस्य महाद्रुमस्य ।
संसारसंज्ञस्य मुनीन्द्रमुख्या नालं सदा मूलविमूलनाय ॥ ४८ ॥

अथ भ्रूमध्य आज्ञायामुपास्यस्य रुद्रलिङ्गस्य स्वरूपमाह–**चन्द्रकोटीति** । शिवस्य वास्तवस्वरूपं हि सर्वा[1]तिशायित्वात्**परम्**[2] । 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इति श्रुतत्वेन रूपादिविरहा**दरूपम्** । अत एवा**व्यक्तं** सदपि **रूप**मुपासकानुग्रहेण स्वीकृतदिव्यावतारं सगुणं ब्रह्म । अरूपस्य परस्यैव रूपत्वापरत्वसत्त्वाद**द्भुतत्वम्** । किं तदुपासनीयं रूपमिति तदाह–**चन्द्रकोटिप्रतीकाशमिति** । आज्ञायामुपासनीयस्य रुद्रात्मकतामाह–**शांकरमिति** । उमाशक्तिसाहित्यं **शक्तिवल्लभमिति** । **विसर्गाधिष्ठितमिति** । सर्गः संसारश्च व्यपयात्यस्मिन्स्थान इति विसर्गः । अविमुक्तोपासनेन संसारनिवृत्तिर्जाबालोपनिषदादिषु प्रसिद्धा तस्मिन्विसर्गे भ्रूमध्येऽधिष्ठितम् । **विश्वं** सर्वात्मकम् । 'सर्वो वै रुद्रः' इति श्रुतेः । **विश्वविज्ञानसाधकं** तमेव विश्वात्मकं रुद्रं गोचरयति यज्ज्ञानं तद्विश्वविज्ञानं तत्साधयतीदं लिङ्गम् 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत्' इति श्रुतेः । **महामन्त्रैरिति** । प्रणवस्य तृतीया मात्रा मकार एको महामन्त्रः । तस्यापि महाफलत्वं श्रूयते–'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद' इति । हृल्लेखातृतीयाक्षरमोंकारो द्वितीयो[3] महामन्त्रः । अन्येऽपि बहवो महामन्त्राः पूर्ववत्तत्रैव द्रष्टव्याः । तृतीयस्य पदसूचितस्य मूलाधारस्थस्य गुणसामान्योपाधिकलिङ्गस्य तु कृत्स्नः प्रणव एको महामन्त्रः । तस्य च महाफलत्वम् । श्रूयते हि–'एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽमानं य एवं वेद' इति । द्वितीयः सर्वो हृल्लेखामन्त्रः । अन्ये तु पूर्ववत् ॥ ४२–४४ ॥ उक्तलिङ्गोपासनस्य फलमाह–**एतेष्विति** । उक्तरूपः शिव एतेषु प्रकाशत इति कृत्वा संसारसागरोत्तरणायाऽऽत्मविद्यालक्षणं प्लवमपेक्षमाणैः पूजनीय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ उक्ततत्तल्लिङ्गपूजनाद् ब्रह्मविद्भूत्वा बन्धच्छेदं करोत्यतस्तत्कर्तव्यमित्याह–**अन्तर्लिङ्गमिति** ॥ ४६–४८ ॥

से इसकी अर्चना करें और गुरु के उपदेश से इसके बारे में समझें ॥ ४२–४४ ॥ जो लोग सदा आत्मज्ञान के इच्छुक हैं उन्हें इन लिंगों में सनातन शिव की पूजा करनी चाहिये । अपनी शक्ति उमादेवी समेत महादेव अपने प्रिय भक्तों पर प्रसन्न होकर उनके सम्मुख आविर्भूत हो जाते हैं ॥ ४५ ॥ शरीर के अंदर स्थित लिंगों की जो उपासना करता है वह शिवकृपा से अनादिकाल से स्थित संसार-बंधन को काट देता है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन जाता है । सब लोगों के कल्याण के लिये यह सच्ची बात शास्त्र में बतायी है ॥ ४६ ॥ निर्विशेष परमात्मा शिव के रहते बुद्धिवृत्ति का विलीन हो जाना श्रेष्ठ योगी द्वारा किया मुख्य अर्चन है । फूल, जल, फल आदि तो तुच्छ वस्तुएँ हैं । (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय समझने

१ घ. ङ. ज. °तिशायि° । २ 'परमद्भुतम्' इति टीकासंमतः पाठः । ३ तृतीय इत्यर्थः ।

ज्ञानमेव शिवार्चनमिष्यते स्थूलमेव बहिर्भजनं नृणाम् ।
वेद एव सदा मितिकारणं बोध एव परमं पदमास्तिकाः ॥ ४९ ॥
गुह्यमेव तु वः कथितं मया मह्यमाह महेश्वरवल्लभः ।
व्यास आमरणान्तिकमास्तिकाः पूजयध्वमसत्यनिवृत्तये ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवलिङ्गस्वरूपकथनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवस्थानं समासतः ।
यत्र संचिन्त्य देवेशं कैवल्यं लभते नरः ॥ १ ॥
पुरा नारायणः श्रीमान्किरीटी गरुडध्वजः । श्रीमत्कैलासपर्यन्ते ततप परमं तपः ॥ २ ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गस्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकः । रुद्राक्षमालाभरणो जटावल्कलसंयुतः ॥ ३ ॥

ज्ञानमेवेति । मानसोपासनाज्ज्ञानरूपमर्चनं प्रशस्तम् । केवलविशुद्धसत्त्वस्य सकलवेदसारः प्रणवस्तत्साक्षात्कारलक्षणस्य बोधस्य हेतुरित्यर्थः ॥ ४९–५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवलिङ्गस्वरूपकथनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

उक्तलिङ्गोपासकानां प्रतिबन्धक[1]पापकलापनिरासने सत्त्वशोधने चोपकारकाणि स्थानानि वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥

के लिए गीताभाष्य (१८.५०) दर्शनीय है ।) ॥ ४७ ॥ अज्ञान जिसका मूल है उस संसार नामक महान् वृक्ष के उन्मूलन के लिए बुद्धिमान् द्वारा भी किया मंत्रजपमात्र पर्याप्त नहीं है (पूर्वश्लोकोक्त मुख्य अर्चना ही वह कर सकती है) ॥ ४८ ॥ ज्ञान ही वस्तुतः शिवपूजा है । बाह्य भजन तो स्थूल अर्चना है । वेद ही प्रमा का अव्यभिचारी कारण है । आत्मज्ञान ही परम पद—मोक्ष है ॥ ४९ ॥ यह गुह्य रहस्य मैंने आप लोगों को बताया है । इसे मुझे शिवप्रिय व्यासदेव ने बताया था । मरणपर्यन्त आप सब आस्तिकों को एतदनुसार पूजा करनी चाहिये । उसी से असत्य संसार की निवृत्ति होगी ॥ ५० ॥

शिवस्थानविचार नामक उन्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं संक्षेप से शिवस्थान बताऊँगा जहाँ महादेव का चिंतन कर मनुष्य कैवल्य प्राप्त करता है ॥ १ ॥ प्राचीन काल में गरुडध्वज नारायण ने कैलास पर तप किया था ॥ २ ॥ सारे शरीर

---

१ ख. घ. "कला" ।

तपसा तस्य देवस्य केशवस्य महात्मनः । प्रादुरासीन्महादेवः शंकरः करुणाकरः ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षो महादेवं घृणानिधिम् ।

अम्बिकासहितं रुद्रं चन्द्रमौलिं सनातनम् ॥ ५ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह । [1]स्तोत्रमारभते विष्णुः सर्वभूतहितावहम् ॥ ६ ॥

अकाराय नमः साक्षादनन्तानन्दमूर्तये । आत्मभूताय सर्वेषामतिशुद्धाय शूलिने ॥ ७ ॥

महद्भिरपि महता प्रयासेन ज्ञातानीति कथ्यमानस्थानविशेषेष्वादरातिशयजननाय नारायणकथोपन्यासः ॥ २–६ ॥ **अकारायेत्यादि**स्तोत्रे मातृकापञ्चाशदक्षररूपमन्त्रतादात्म्येन शिवमनुसंधत्ते विष्णुः । शिवोऽनन्तानन्दमू[2]र्तिशब्दार्थात्मकः । स चार्थः स्ववाचकशब्दानु[3]वेधेनैव प्रतिभासनात्तद्विवर्ततया तच्छब्दात्मकः । यदाहुः—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते' इति ॥ आहुश्च शब्दविवर्तितत्वमर्थस्य—'शब्दब्रह्म यदेकं यच्चैतन्यं च सर्वभूतानाम् । यत्परि[4]णामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी' इति । हरिरप्याह वाक्यपदीयादौ—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्तते[5]ऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' इति । अत्रानन्तानन्दमूर्तिशब्दस्यावर्णः प्रथमावयव इति तदनुसंधानजनितसंस्कारसंस्कृतायां बुद्धौ भासमानः स शब्दः सर्वोऽप्यवर्णात्मकः । यदाहुः—'नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दो व्यवस्थितः' इति ॥ इत्थमकारात्मकशब्दप्रतिपादितार्थात्मकतया शिवस्याकारमन्त्रात्मकत्वमिति तादात्म्यमनुसंधेयम् । यदाहुः—'गुरुदेवतात्म[6]नूनामैक्यं संभावयेत्समाहितधीः' इति । इत्थं मन्त्रस्तोत्रे[7] सर्वेषु तत्तदक्षरादिशब्दान्प्रयुञ्जानस्य विष्णोरभिप्रायो द्रष्टव्यः[8] । अकारवाच्यतया वाऽकारादिशब्दवाच्यतया वोपचारादकार[9]मन्त्ररूपतयाऽभिधानमिह न भवति किन्तु प्रागुक्तरीत्याऽकारमन्त्रतादात्म्यादेवेति विवक्षया **साक्षादित्युक्तम्** । शिवस्वभावभूतो हि परम आनन्दः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतेः । स च शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंप्रयोगजनितवृत्त्यवच्छेदादनेक इव तारतम्यवानिवोत्पन्न इवान्तवानिव च लक्ष्यते । सर्वोपाधिविरहात्तु निरतिशयो नित्यः शिवस्याऽऽनन्दः । स च तस्य न गुणः किंतु मूर्तिः स्वरूपमेवेति विवक्षयोक्तम्—**अनन्तानन्दमूर्तय** इति । स चापि विशुद्धसत्त्वात्मकाविद्योपाधिसंबन्धादसंख्यजीवभावेन विशुद्धसत्त्वात्मकमायोपाधिसंबन्धादीश्वररूपेण च भेदेन भासमानोऽपि मायाविद्योपाधिसंबन्धपरित्यागादतिशुद्धः । अत

पर भस्म का उद्धूलन और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण कर रुद्राक्षमाला से विभूषित हो वल्कल पहन और जटाधारी होकर वे तपस्या करते थे ॥ ३ ॥ उनके तप से प्रसन्न हो करुणानिधि महादेव ने उन्हें दर्शन दिया ॥ ४॥ अम्बिकासमेत चन्द्रशेखर सनातन भगवान् रुद्र को देख विष्णु ने भक्ति सहित दण्डवत् प्रणाम किया और उनकी स्तुति की । विष्णु-विरचित यह स्तोत्र सभी लोगों का हित करने वाला है (अतः मुख्य प्रसंग शिवस्थानों का होने पर भी उस स्तोत्र को ही पहले बताता हूँ) ॥ ५–६ ॥ (इस स्तोत्र में पचास

---

१ ख. स्तोतुमा॰ । २ ङ. ॰मूर्तिः श॰ । ३ ग. छ. ॰नुबन्धेनै॰ । ४ ग. घ. ङ. च. छ. ॰रिमाणस्त्रि॰ । ५ ग. घ. च. छ. निवर्तते॰ । ज. निर्वर्तति । ६ ग. घ. च. छ. ज. ॰मनुमायैक्यं । ७ ङ. ॰त्रेषु स॰ । ८ घ. ङ. ॰व्यः । आ॰ । ९. छ. ॰ररूपमन्त्रत॰ ।

आकारायातिशुद्धाय साक्षिणे सर्ववस्तुनः । अम्बिकापतये तुभ्यमसङ्गाय नमो नमः ॥ ८ ॥
इकारायेश्वराख्याय सर्वसिद्धिकराय च । इन्द्रादिलोकपालानामियत्ताकारिणे नमः ॥ ९ ॥
ईकाराय वरिष्ठाय वाञ्छितार्थप्रदाय च । वञ्चकानामलभ्याय वसुदाय नमो नमः ॥ १० ॥
उकारायोग्रजन्तूनामुग्ररूपाय शूलिने । उत्तमानां तु जन्तूनामुपास्याय नमो नमः ॥ ११ ॥
ऊकारायोपवीताय ह्यूर्जितायोत्तमात्मने । उत्तमज्ञानगम्याय नमस्ते परमात्मने ॥ १२ ॥
ऋकारायाऽऽदिभूताय रामपूर्वार्चिताय च । ऋचामर्थस्वरूपाय नमः सत्यपरात्मने ॥ १३ ॥

एव तदुपाधिकस्य भेदस्यापि प्रविलयात्सर्वेषामात्मेत्याह–**अतिशुद्धायाऽऽत्मभूतायेति** । उक्तरूपस्य शिवतत्त्वस्य मन्दाधिकारिबुद्धिगोचरत्वासंभवात्तदनुग्रहाय स्वीकृतानेकदिव्याभरणं लीलावतारं सूचयति–**शूलिन** इति । शूलमिहानेकदिव्यायुधदिव्याभरणस्रक्चन्दनवाहनपरिवारादियोगोपलक्षणम् । इत्थं तत्र तत्र नाम्नि संभवदर्थजातमनुसंधेयमिति दिङ्मात्रं दर्शितं विस्तरपरिहाराय तु संदिग्धपदविवरणमात्रमत्र क्रियत इति । **आत्मभूतायेत्यकारमन्त्र** आकार उक्तः । आकारमन्त्रेऽप्यतिशुद्धायाम्बिकापतयेऽसङ्गायेत्यकार उक्तः 'तदभेदका गुणा' इति मतमनुसृत्यावर्णस्यैकत्वाभिप्रायेण । उक्तं हि कात्यायनेन–'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' इति । 'भेदका गुणा' इतिमतसूचनाय तु ह्रस्वदीर्घमन्त्रयोः पृथगुदाहरणोपन्यास इति । **साक्षिण** इति तु विशेष्यस्वरूपोपन्यासो न त्वाकारमन्त्रोदाहरणत्वेनेति । इत्थ[1]मुत्तरत्र द्रष्टव्यम् ॥ ७-८ ॥ **इयत्ताकारिण** इति । तत्तत्कृतसुकृतपरिपाकानुरूपपरिमितपदप्रदायिन इत्यर्थः ॥ ९–११ ॥ **उपवीताय** भोगमोक्षार्थिभिः सकललोकैरुपगताय ॥ १२ ॥ ऋकारमन्त्रे **रामपूर्वेति** पदं रश्रुतिसामान्यादेकत्वाभिप्रायेण । **सत्यपरात्मन** इति विशेष्यस्वरूपोपन्यासेनेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

अक्षर रूप मंत्रों से अभिन्न रूप से शिव का अनुसंधान है । तत्तत् शब्दों के अर्थरूप से महादेव विद्यमान हैं । जैसे अनन्त शब्द का अर्थ महादेवरूप है । उस अर्थ की स्मृति आदि जब होती है तो उसके वाचक शब्द के साथ ही होती है यह अनुभवसिद्ध है । अतः अर्थ को शब्दात्मक समझा जा सकता है । उस शब्द में अवर्ण है । (प्रायशः प्रथम वर्ण ही ग्रहण किया जायेगा ।) अतः अवर्ण याद आते ही वह पूरा शब्द याद आ जाता है । जिसे उस वर्ण और उस शब्द के साहचर्य का दृढ संस्कार है उसे यह अनुभवसिद्ध है । व्यवहार में भी नामाक्षरों से पूर्ण नाम की स्मृति होती ही है । वैसे ही यहाँ समझना चाहिये । एवं च अनंत यह शब्द अकाररूप ही है । जैसे नियमतः शब्द से उपस्थित होने के कारण अर्थ को शब्दात्मक माना था वैसे नियमतः अक्षर से उपस्थित होने वाले शब्द को अक्षरात्मक मानना चाहिये । यों अनंत-अर्थ अनंत-शब्द से और वह अ-अक्षर से अभिन्न होने के कारण अनंत-अर्थ अ-अक्षर से अभिन्न समझा जा सकता है । यों तत्तत् अक्षरों को ही शिवरूप बताते हुए यह स्तोत्र है ।) साक्षाद् अकाररूप आपको नमस्कार है जो आप अनन्त आनन्दस्वरूप हैं । सभी के आत्मरूप हैं, अतिशुद्ध हैं व शूल आदि आयुध धारण किये हुए हैं ॥ ७ ॥ आकाररूप आपको प्रणाम है जो आप अतितेजस्वी तथा सब वस्तुओं के साक्षी हैं । अम्बिकापति (तथापि) असंग आपको बारंबार प्रणाम है ॥ ८ ॥ इकाररूप आपको नमस्कार है जो आप ईश्वर कहे जाते हैं । आप सबकी सिद्धि करने वाले हैं । इन्द्र आदि लोकपालों को परिमित पद प्रदान करने वाले आप ही हैं ॥ ९ ॥ ईकाररूप आपको नमस्कार है जो आप सर्वश्रेष्ठ हैं व सब अभीष्ट वस्तुओं के प्रदाता हैं । वंचकों को प्राप्त न होने वाले तथा (भक्तों को) धन देने वाले आपको प्रणाम है ॥ १० ॥ उकाररूप आपको प्रणाम है । उग्र जंतुओं के दमनार्थ आप उग्ररूप धारण करते हैं । उत्तम जन्तुओं के आप उपास्य हैं ॥ ११ ॥ ऊकाररूप आपको नमस्कार है । भोग व मोक्ष चाहने वाले सभी लोग आपके ही निकट जाते हैं । आप शक्तिशाली तथा उत्तम गुणों वाले हैं । उत्तम ज्ञान के विषय बनने वाले आप परमात्मा को नमस्कार है ॥ १२ ॥ ऋकाररूप आपको नमस्कार है । आप सबके कारण हैं । राम के द्वारा पहले आपकी अर्चना की गयी थी । आप ही सब ऋचाओं का अर्थ हैं । सत्य तथा परमात्मा आपको नमस्कार है ॥ १३ ॥ ॠकाररूप आप शंभु को प्रणाम है । आप सब वस्तुओं के स्वभाव हैं तथा नित्य तृप्त हैं ।

---

१ मन्त्रानुदाहरणतयापि क्वचित्पदविन्यास इत्यर्थः ।

ॠकाराय निसर्गाय नित्यतृप्ताय शंभवे । रसादिभूतरूपाय नमः शुद्धचिदात्मने ॥ १४ ॥

ऌकाराय लसद्गण्डमण्डिताभरणाय च । लिङ्गलिङ्ग्यादिहीनाय लिङ्गरूपाय ते नमः ॥ १५ ॥

ॡकाराय लयस्थाय ध्वंसकायाऽऽदिहेतवे । लाक्षारुणशरीराय लाभस्थानाय वै नमः ॥ १६ ॥

एकाराय नमः शश्वदिदंतासाक्षिणे तथा । अहंतासाक्षिणे साक्षात्प्रत्यगद्वयवस्तुने ॥ १७ ॥

निसर्गाय समस्तवस्तूनां स्वाभाविकरूपाय । रसादीति रश्रुतिसामान्यं विशेषनिर्देशो वा द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥ **लिङ्गरूपाय** । लिगिर्गत्यर्थः । गत्यर्था ज्ञानार्थाः । ज्ञानरूपाय तस्य स्वप्रकाशत्वेन मानमेयमातृविभागविरहमाह–**लिङ्गलिङ्ग्यादिहीनायेति** ॥ १५ ॥ **लयस्थाय** लये प्रलयसमयेऽपि स्थिताय । लभ्यत इति लाभः कर्मफलं तत्तिष्ठत्यस्मिन्निति लाभस्थानं तस्मै 'एष एव साधु कर्म कारयति तं यमूर्ध्वमुन्निनीषते' इति वाजसनेयश्रुतिः । 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्' इति स्मृतिः । 'फलमत उपपत्तेः' इति बादरायणीयं सूत्रम् ॥ १६ ॥ एकारस्य कण्ठतालुभवस्य संध्यक्षरतयाऽवर्णेवर्णात्मकत्वे **नाहंतेदंतेति** तदुभयोदाहरणम् । अन्तःकरणस्य स्वप्रतिबिम्बितचैतन्याभिमुखा वृत्तिर्विषयाभिन्ना[१]ऽहंकारस्तद्रूपमात्रत्वाद्वस्तुत्वम् ॥ १७ ॥

शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा होते हुए भी रस (जल) आदि महाभूतों का रूप आप ही ने ग्रहण किया है ॥ १४ ॥ ऌकाररूप आपको नमस्कार है । आप शोभित होते हुए अलंकृत कपोलों वाले हैं । आप ज्ञानरूप हैं किन्तु प्रमाण, प्रमेय आदि के विभाजन से रहित हैं ॥ १५ ॥ ॡकाररूप आपको नमस्कार है आप प्रलय में भी बने रहने वाले हैं । सबका ध्वंस करने वाले तथा सबके आदिकारण आप ही हैं । लाख की तरह अरुणवर्ण का आपका गात्र है । आपसे ही सबको कर्मफल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ एकाररूप आपको प्रणाम है । आप सनातन हैं तथा 'यह' इस रूप से और 'मैं' इस रूप से जो कुछ भी प्रतीत होता है उस सबके आप साक्षी हैं । आप ही साक्षात् अपरोक्ष हैं, कभी विषय रूप से प्रतीत न होने वाले हैं, अद्वितीय तथा वास्तविक हैं ॥ १७ ॥ ऐकाररूप आपको प्रणाम है । निर्मल ज्ञान के माहात्म्य का विचार करने वालों के आप ही आत्मा हैं । प्रत्यक् रूप से भासित होने वाले आपको प्रणाम है ॥ १८ ॥ ओकार रूप आपको नमस्कार है । ब्रह्मा, विष्णु भी आप रुद्र

---

१ स्वविषयः प्रतिविम्बितचैतन्यं तदभिन्ना तदाकारेत्यर्थः । बालमनोरमापाठेऽयमधिकोंशः–°अहङ्कारस्तद्रूपताऽहन्ता; चिदवभास्यं पराग्रूपं सर्वमिदं तद्भावम् इदन्ता; तदुभयं स्वात्मन्यध्यस्तं स्वरूपप्रकाशेनैव साक्षादीक्षत इति तदुभयसाक्षी । प्रत्यगद्वयवस्तुनो (°ने ?)–विषयविषयिप्रातिकूल्येन अन्तरमञ्चति गच्छतीति प्रत्यङ् स्वप्रतिष्ठ आत्मा । अत एव स्वेतरानवभासाद् अद्वयम् । बाधाभावेन परमार्थत्वाद् वस्तुत्वं च ।

ऐकारायामलज्ञानप्रभावपरिशीलिनाम् । आत्मरूपतया नित्यं प्रतीताय नमो नमः ॥ १८ ॥

ओकाराय विरिञ्चाय विष्णवे रुद्रमूर्तये । वाच्यवाचकहीनाय स्वयंभानाय वै नमः ॥ १९ ॥

औकाराय महेशाय महामन्त्रार्थरूपिणे । महादेवाय मात्रादिप्रपञ्चाय नमो नमः ॥ २० ॥

अकारैकारयोर्योगादैकारः । तत्राकारांशस्योदाहरणम् **अमलेति** । अन्तर्वर्तिन एकारस्यावर्णेवर्णात्मकत्वा**दात्मरूपतयेत्य**-वर्णस्य **इतायेतीवर्णस्य** । **प्रतीति** हि पृथक्पदम् । 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इति वीप्सायां कर्मप्रवचनीयः । तत्र तत्र वस्तुन्यात्मरूपतया स्वरूपतया वा प्रतीयत इत्यैकारोदाहरणम् ॥ १८ ॥ 'अकारं ब्रह्माणं नाभौ' इति श्रुतिः । विष्णोरुकारात्मकत्वा**द्विष्णव** इत्युकारोदाहरणम् । 'उकारं विष्णुं हृदये' इति श्रुतिः । तयोश्च विष्णुब्रह्मणोरिह न स्वातन्त्र्येण निर्देशस्तथा सति प्रकृताननुगुणत्वाद्रुद्ररूपत्वेनैवेति दर्शयितुमुक्तं–**रुद्रमूर्तय** इति । **रुद्रमूर्तये विरिञ्चाय रुद्रमूर्तये विष्णव** इत्युभयत्र योज्यम् । विष्णुब्रह्माणावपि हि रुद्रात्मकौ 'सर्वो वै रुद्रः' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः । 'यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः' 'यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः' इति चाऽऽथर्वणी श्रुतिः । उक्तमुच्यमानं वक्ष्यमाणं च[1] यन्मन्त्रतदर्थात्मकं शिवस्य न तत्स्वाभाविकं किंतु लीलयोपासकानुग्रहेण स्वेच्छया स्वीकृतमेव । स्वाभाविकं तु निष्कलं स्वप्रकाशमित्याह–**वाच्येत्यादिना** ॥ १९ ॥ शिवस्यौकारमन्त्रतादात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्याय तयोः समानं धर्ममाह–**महेशाय महामन्त्रार्थरूपिण** इति । शिवस्तावन्निरतिशयैश्वर्ययोगाद्भजतां तत्प्रदातृत्वाच्च महेशः । महतः प्रणवप्रसादरुद्राध्यायादेर्मन्त्रस्य योऽर्थस्तद्रूपी तेन मन्त्रेण प्रतिपाद्यत्वाद्वाचकस्य वाच्यादभेदान्महामन्त्ररूपी च यथैवमौकारो[2]पि सोऽपि हि स्वयं महामन्त्रत्वात्स्वार्थाभेदाच्च महामन्त्रार्थरूपी स्वात्मानं परिशीलयतां निरतिशयज्ञानैश्वर्यप्रदानेन महेश्वर एवमौकारमन्त्रस्य शिवस्य च सारूप्यात्तन्मन्त्रात्मना शिवोऽनुसंधेय । [3]औकारस्य यथोक्तप्रभावोपेतत्वं लघुनाम्ना स्वयंकृते सरस्वतीस्तोत्रे विशदीकृतम्–'यत्सद्यो वचसां प्रवृत्तिकरणे दृष्टप्रभावं बुधैस्तार्तीयं तदहं नमामि शिरसा त्वद्बीजमिन्दुप्रभम् । अस्त्वौर्वोऽपि सरस्वतीमनुगतो जाड्याम्बुविच्छित्तये गौःशब्दो गिरि वर्तते स नियतं यो गं विना सिद्धिदः' ॥ इति । जमदग्निना स्वकोपाग्निः सरस्वत्यां महानद्यां मुक्तः सन्सदा समुद्रं संहरत्येवमौरिति स्वर्गा (?) न्त[4]स्थत्वादौकारमन्त्रोऽपि सरस्वतीप्रतिपादकतया[5] याऽनुगतो जाड्याम्बुविच्छित्तये सकलसंसारकारणाविद्यासमुद्रसंहारायास्तु । गौरिति यः शब्दो गिरि–वाचि नित्यं वर्तत इत्यभिधानेषु प्रसिद्धं च स गकारं विनौरित्येतावन्महामन्त्रात्मकः सिद्धिदो भवतीति । किंच शिवो मानमेयमहादेवादिप्रपञ्चात्मकः । ते च शब्दा मकारादित्वादकारादिन्यायेन मकारात्मकाः । अतस्तदर्थद्वारा शिवोऽपि मकारात्मकः । औकारोऽप्युक्तरीत्या महेशत्वान्मकारात्मक इति मकारस्य साम्यदप्यौकारमन्त्रस्य शिवतादात्म्यं द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

की ही मूर्तियाँ हैं । शब्दशक्ति से आपका कोई सम्बन्ध नहीं । आपका भान स्वयं ही होता है ॥ १९ ॥ औकाररूप आप महेश को नमस्कार है । आप महान् मन्त्रों के अर्थरूप हैं । आप महादेव हैं व प्रमाता आदि संसाररूप हैं ॥ २० ॥ विन्दु अर्थात् अनुस्वाररूप आपको नमस्कार है । आप ही जगत्

---

१. घ, °च यावन्म° । २. ख. ग. घ. °पि स्व° । ३ ग. च. छ. ज. अकारस्य । ४ ख. ग. घ. च. छ. ज. °न्तष्टत्वा° । ङ. °न्तर्दृष्टत्वा° । ५. घ. तदनुगतो ।

बिन्दुरूपाय बीजाय बीजाधिष्ठानरूपिणे । बीजनाशकरज्ञानस्वरूपाय नमो नमः ॥ २१ ॥

विसर्जनीयरूपाय विस्मयाय महात्मने । विसर्जनीयनिष्ठानां विशेषार्थाय वै नमः ॥ २२ ॥

ककाराय कपूर्वादिदेवतापूजिताय च । करणग्रामसंहर्त्रे कालातीताय वै नमः ॥ २३ ॥

चरमस्वरयोः केवलयोः स्वरूपेणोच्चारयितुमशक्यत्वात्तद्वाचकबिन्दुविसर्जनीयशब्दाभ्यामेव तौ निर्दिश्य तदात्मकतामाह– **बिन्दुरूपायेति** । शिवो हि सर्गादौ स्वमायाशक्तौ प्रतिबिम्बितस्तदवस्थया तयाऽवच्छेदाद्बिन्दुरिति, जगदङ्कुरयाऽवस्थया तयाऽवच्छेदाद्बीजमिति, तस्या एवाग्र एतद्बीजाधिष्ठानमित्युपनिषज्जनितचरमसाक्षात्काररूपान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितस्तन्नाशकतया **बीजनाशकरज्ञानस्वरूप** इति चोच्यते । बिन्द्वादिशब्दचतुष्टयस्य बकारादित्वेन बकारात्मकत्वात्तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि बकारात्मक एवमनुस्वारोऽपि बिन्दुशब्दवाच्यतया बकारात्मक इति बकारमन्त्रतादात्म्येन शिवोऽनुसंधेयः ॥ २१ ॥ विविधत्वेन स्रष्टव्यतया विसर्जनीयं जगत्तद्रूपः शिवः । शिवः सर्वमिदं जगदित्याहुः । अखण्डैकरसो निष्कलः सन्नपि विविधजगदात्मको जात इत्याश्चर्यरूपत्वाद्विस्मयः । **विसर्जनीयनिष्ठानामिति** । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इत्यनीयर्प्रत्ययः । विसर्जनं परित्यागस्तन्निष्ठाः सकलसंसारपरित्यागनिष्ठा ये मुमुक्षवस्तेषाम् । कर्तरि षष्ठी । ऐश्वर्यार्थिभिरपि शिव एव यथा प्रार्थनीयस्तथा मुमुक्षुभिरपि विशेषेणार्थनीय इत्यर्थः । अत्र विसर्जनीयविस्मयविशेषार्थशब्दा वकारादित्वात्तदात्मकाः । तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि वकारात्मकः । चरमस्वरोऽपि विसर्जनीय इति प्रसिद्धेः स्ववाचकद्वारा वकारात्मकः । तेन वकारात्मकत्वसाम्याद्विसर्जनीयमन्त्रात्मकतया शिवोऽनुसंधेय इत्यर्थः ॥ २२ ॥ **ककारायेति** । को ब्रह्मा स पूर्व एषां ते कपूर्वा इन्द्रादयस्तदादिदेवताभिः पूजिताय । करणग्रामस्य जनकस्य कारणग्रामस्य शरीरस्य जन्यस्य[1] लिङ्गशरीरस्य तदाश्रयस्य स्थूलशरीरस्योपलक्षणं शरीरत्रयसंहर्त्रेऽशरीरत्वलक्षणमोक्षप्रदायेत्यर्थः । कालस्यापि स्रष्टृत्वेन तदनवच्छिन्नाय । अत्र कपूर्वादिशब्दत्रयं ककारादित्वेन तदात्मकं तदर्थतया शिवोऽपि तदात्मकः । अतः ककारमन्त्रतादात्म्येनानुसंधेयः ॥ २३ ॥

के बीज हैं–मूलकारण माया के अवच्छेद वाले आप ही संसार के उपादान व निमित्त हैं । बीज के अधिष्ठान–आधार–भी आप ही हैं और बीजत्वप्रयोजक माया के नाशक भी ज्ञानस्वरूप आप ही हैं । आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ २१ ॥ विसर्गरूप आपको नमस्कार है । निष्कल रहते हुए ही आप सकल हो जाते हैं अतः आप विस्मय रूप हैं । आप में किसी तरह की क्षुद्रता नहीं । सकलत्यागी मुमुक्षु आपकी विशेषतः प्रार्थना करते हैं । ('ज्ञानमिच्छेन्महेश्वराद्' इत्यादि वचनानुसार मुमुक्षु-अभिलषित ज्ञान शिव से ही मिल सकता है ।)

---

१ घ. ङ. च. छ. °स्य च लि° ।

खकाराय खपूर्वादिभूतपञ्चकहेतवे । खमूर्ताय खलप्रज्ञागोचराय नमो नमः ॥ २४ ॥
गकाराय गणेशाय गणवृन्दार्चिताय च । गङ्गाधराय गुह्याय गुणातीताय ते नमः ॥ २५ ॥
घकाराय घनाकारघातकाय घनात्मने । घटादिजगदाकाररहिताय नमो नमः ॥ २६ ॥
ङकाराय ङमन्त्रार्थस्वरूपाय शिवात्मने । ङाङीङूसंज्ञितार्थानामगम्याय नमो नमः ॥ २७ ॥
चकाराय चमन्त्रार्थस्वरूपायामितात्मने । चमन्त्रार्थनिषण्णानाममृताय नमो नमः ॥ २८ ॥
छकाराय च्छलालस्यच्छादना[1]दिविशेषतः । छादनच्छन्दनच्छन्नविभागाय नमो नमः ॥ २९ ॥

खकारायेति । खमाकाशं पूर्वं यस्य तदादिभूतपञ्चकमपञ्चीकृतं सूक्ष्मभूतपञ्चकं तस्य हेतवे । **खमूर्ताय** । आकाशवन्निर्लेपं मूर्तं मूर्तिर्यस्य तस्मै ॥ २४ ॥ गणाः प्रमथगणाः । **गुह्याय** गुहायां बुद्धौ भवाय 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति श्रुतेः ॥ २५ ॥ घनो निबिडः प्रपञ्चः सर्गसमये तदात्मने । प्रलयसमये तदाकारस्य सहर्त्रे ॥ २६ ॥ ङमन्त्रार्थः श्रीकण्ठादिषु मन्त्रशक्तिसहित एकरुद्र आर्द्राद्युपलक्षितः । ङाङीङू इत्येते त्रयो वर्णा एतदुपलक्षिता वाऽन्येऽपि सर्वे वर्णाः कादिव्यञ्जनपञ्च[2]त्रिंशत्येकैकेनान्तरिताः संज्ञा जाता एषामर्थानां पार्वतीमूर्तीनां ते तत्संज्ञितार्थाः । तारकादित्वादितच्। तेषामप्यगम्याय । तत्त्वतस्तदभेदेन गन्तृगन्तव्यभावाभावात् । लीलया पृथग्भावेऽप्यवाङ्मनसगोचरत्वात् 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति ॥ २७ ॥ चमन्त्रार्थ आत्मशक्तियुक्तः कूर्मेशः[3] । उक्ते चमन्त्रार्थे निषण्णा निष्ठिता ये तेषाममृताय । अशरीरत्वरूपापवर्गप्रदानेन शरीरधर्मजरामृत्युनिषूदनादमृतस्वभावायेत्यर्थः ॥ २९ ॥ छन्नश्छादितः 'दस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः' इति निपातनात् । छन्नत्वं गुहानिहितत्वात् 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति श्रुतेः । छन्दनं निरस्तनिखिलोपप्लवनिरतिशयपरानन्दत्वेन विषयव्यावृत्तचक्षुषां धीराणां तत्त्वात्मनीच्छाजननम् । छादनमिह तस्य समस्तस्या[4]पवरणम् । एतद्विभागत्रयात्मकायेत्यर्थः । किं तदित्थमनेनापवारणीयमित्यत आह–**छले**ति । छलं कौटिल्यं जिह्ममिति पर्यायाः । तद्विद्याफलब्रह्मलोकविरोधित्वादहितम् । श्रूयते हि–'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया' इति ॥ आलस्यं ह्यध्ययनानुष्ठानविरोधित्वेन धियः प्रतिबन्धादहितम् । छादनशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्छलत्वच्छादनमालस्यच्छादनं च । **आदिशब्दा**द्व्याध्याद्यहितान्त[5]रं [6]तच्छादनभेदा गृह्यन्ते । **विशेष**शब्दो भेदपरः । व्याध्याद्यहितभेदाच्च च्छादनभेदा अपि बहवः सन्ति । **विशेषत** इति बहुवचनान्तात्तसिः । अहितच्छादनविशेषैरित्यर्थः । अहितभेदा हि पठ्यन्ते–'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा योगान्तरायाः' इति । अकारात्मकत्ववच्छकारात्मकत्वम् ॥ २९ ॥

॥ २२ ॥ **ककाररूप आपको प्रणाम है । 'क' अर्थात् ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा आप पूजित हैं । लिंगशरीर का आप संहार करते हैं । (वेदान्तनुसार 'लिंगभङ्गो हि मोक्षः' कहा जा सकता है यदि भंगशब्द बाधपरक या आत्यन्तिक नाशपरक हो । अतः ज्ञान द्वारा लिंगबाध शिव ही कराते हैं ।) आप काल की सीमा से परे हैं ॥ २३ ॥ खकाररूप आपको प्रणाम है । 'ख' अर्थात् आकाश आदि पाँचों भूतों के आप ही कारण हैं । आकाश की तरह ही आपकी निर्लेप मूर्ति है । खल अर्थात् दुष्टों की बुद्धि आपको समझ नहीं पाती ॥ २४ ॥ गकाररूप आपको प्रणाम है । सभी समूहों के आप संचालक हैं । प्रमथादि गणों द्वारा आप नित्य सेवित हैं । आपने जटा में गंगा धारण की हुई है । सब प्रणियों की बुद्धिगुहा में आप साक्षी रूप से उपस्थित हैं । गुणों से असंबद्ध आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥ घकाररूप आपको नमस्कार है । बादल के आकार वाले आच्छादक अज्ञान के आप घातक हैं । मूर्त प्रपंचरूप से आप ही स्थित हैं । तथापि आप घट आदि समस्त जगत् के आकार वाले हैं नहीं ॥ २६ ॥ ङकाररूप आपको नमस्कार है । कल्याण रूप आपका स्वरूप ही ङ-मंत्र का अर्थ है । ङा, ङी, ङू नाम वाले पार्वती आदि के लिये भी आप अगम्य ही हैं ॥ २७ ॥ चकाररूप आपको नमस्कार है । अज्ञात आत्मरूप आप ही च-मंत्र के अर्थ हैं । च-मंत्र में निष्ठा वालों को आप अमरता प्रदान करने वाले हैं ॥ २८ ॥ छकाररूप आपको नमस्कार है । आप सबकी बुद्धि रूप गुफा में छिपे हुए हैं । आप ही जीवों में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न करते है तथा आप ही छल, आलस्य तथा अन्य आवरकों को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं ॥ २९ ॥ जकाररूप**

---

१ ग. घ. ङ. च. छ. ज. "नाय वि" । २ छ. ज. "ञ्चविंश" । ३ ङ. कर्माशः । ४ ग. "स्याऽऽव" । ५ ङ. "न्तरच्छा" । ६ ङ. तत्साधन" ।

जकाराय जगच्छक्तिस्वरूपाय जयार्थिनाम् । जयप्रदाय देवाय जम्भमोहाय ते नमः ॥ ३० ॥
झकाराय झमन्त्रार्थस्वरूपायामृतात्मने । झमध्यचन्द्रबिम्बाय नमः साम्बाय शंभवे ॥ ३१ ॥
ञकाराय ञमन्त्रार्थस्वरूपाय ज्ञमूर्तये । ज्ञप्तिमात्रैकनिष्ठानां मुक्तिदाय नमो नमः ॥ ३२ ॥
टकाराय टटाटीटूपूर्वकैस्तु महारवैः । अर्चिताय सुरश्रेष्ठैरसुरैश्च नमो नमः ॥ ३३ ॥
ठकाराय ठमन्त्रार्थस्वरूपाय ठमन्त्रतः । ठंठादिगणपूज्याय ठमध्याय नमो नमः ॥ ३४ ॥

जगच्छक्तीति । जगत उत्पत्तिस्थितिसंहारविषया या शक्तिस्तदात्मकाय । शक्तिस्वरूपं तत्तादात्म्यं च वर्णितं प्राक् । जम्भयति पारवश्यमापादयति जीवानिति जम्भस्तादृशो मोहो मूलाज्ञानं यस्मिंस्तद्धि परशिवाश्रितं परशिवाधीनं चेति तस्मिन्नित्युच्यते ॥ ३० ॥ झमन्त्रार्थः श्रीकण्ठादौ द्राविणीशक्तियुक्तः । अमृतात्मकतां समर्थयते–**झमध्येति** । झ इति निवृत्तिकलादशकमध्ये नवमी स्थितिरुच्यते सा चेह कलाविशेषानुपादानान्नित्यैव गृह्यते । तस्याश्च हेतुरमृतमिति तद्वाचिना झकारेण तद्धेतुरमृतं लक्ष्यते । तच्च झकारलक्षितममृतं मध्यं यस्य चन्द्रस्यासौ झमध्यचन्द्रः स विम्बं मूर्तिर्यस्याष्टमूर्तेः शिवस्य तस्मै । अनेन च विशेषणेन प्रकृतं झकारात्मकत्वमनन्तरोक्तममृतात्मकत्वं च मन्त्रार्थस्थितिकारिणी सुधामयचन्द्रात्मता प्रणिधानकर्तव्यता चेत्यर्थत्रयं समर्थितम् ॥ ३१ ॥ **ञमन्त्रार्थेति** । नागरीशक्तिसहितः शर्वो ञमन्त्रार्थः । जानातीति ज्ञा[1] मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्मै । ज्ञप्तिमात्रं परशिवस्वरूपम् । एतच्च विशेषणं यद्यपि पदद्वयात्मकं तथाऽपि ज्ञप्तिमात्रजकारादुत्तरो यो ञकारस्तद्बुद्धिर्विशेषणावसानपर्यन्तमनुवर्तत एवेति कृत्स्नं विशेषणं ञकारात्मकं तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि तथेति ञकारात्मकत्वसमर्थनोपपत्तिः । नन्विह ञकारादपि प्रथमो झकारः[2] । अतस्तद्बुद्धिरप्यनुवर्तते । अनुवर्ततां नाम, तथाऽपि ञबुद्धेरनुवृत्त्या प्रकृते प्रयोजनं न वर्णान्तरबुद्धेरनुवृत्तेरिति न कश्चिद्विरोधः । श्लोकान्तरेष्वप्यनेकपदात्मकत्वविशेषणेष्वित्थमेव विवक्षिताक्षरबुद्ध्यनुवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ३२ ॥ **टटाटीटू**, इति मुरजादिवाद्यध्वन्यनुकरणवर्णाः । एतैर्महारवैः करणैः सुरासुरैः कर्तृभिरर्चितायेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ मञ्जरीशक्तिसहितो लाङ्गली ठमन्त्रार्थः । ठठाठिठीठुठू, इत्यादयो वाद्यध्वन्यनुकरणा वर्णास्तन्निष्पादका गणाष्ठठादिगणाः । **ठमन्त्रतः** । तृतीयार्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । तेन मञ्जरीशक्तिसहितलाङ्गलीयमन्त्रेण साधनेन ठाठादिगणैः कर्तृभिः पूज्याय । **ठमध्याय** ठबिन्दुनोपेतस्तथा ठमध्यः शिवः । ठकारवाच्यो योऽनुस्वारस्तेन समाननाम्ना 'विचिकीर्षुर्घनीभूतात्क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्' इत्यपरबिन्दुरहितशब्देन लक्षितः ॥ ३४ ॥

आपको नमस्कार है । जगत् सम्बन्धिनी शक्ति आपका ही स्वरूप है । (शक्ति वस्तुतः शिव का ही सापेक्ष स्वरूप है । जैसे प्रकाश्य की अपेक्षा से प्रकाश की प्रकाशकता है ऐसे शक्य की अपेक्षा से शक्त की शक्तिरूपता है ।) जीत चाहने वालों को आप विजय दिला देते हैं । आप स्वप्रकाश हैं और परवश कर देने वाले मोह के भी आप ही आश्रय हैं ॥ ३० ॥ झकाररूप आपको प्रणाम है । झ-मंत्र का अर्थ आपका ही स्वरूप है । आपका स्वरूप अमृत है । अमृत से पूर्ण चन्द्रमण्डल आपकी ही मूर्ति है । ऐसे आप साम्ब शंभु को नमस्कार है ॥ ३१ ॥ ञकाररूप आपको प्रणाम है । ञमन्त्र के अर्थ का स्वरूप आप ही हैं । आप ज्ञप्तिमात्ररूप हैं । जानने वाले भी आप हैं । ज्ञान में ही निष्ठा रखने वालों को आप मोक्ष देते हैं ॥ ३२ ॥ टकाररूप आपको नमस्कार है । श्रेष्ठ देवता ट टा टी टू आदि ध्वनियों से महान् कोलाहल कर आपकी पूजा करते हैं । (ट आदि ध्वनियाँ नाना वाद्यों की हैं ।) ॥ ३३ ॥ ठकाररूप आपको नमस्कार है । आपका स्वरूप ठ-मंत्र का अर्थ है । ठ ठा आदि वाद्यध्वनियाँ करने वाले गण ठ-मंत्र से आपकी पूजा करते हैं । चन्द्र के अधिष्ठाता आपको प्रणाम है । ('ठो मण्डले चन्द्रबिम्बे शून्ये च लोकगोचरे' इति मेदिनी ।) ॥ ३४ ॥ डकाररूप आपको नमस्कार है । हुड़दंगी लोग ड डा डी डू डे डो

---

१ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. ज्ञान । २ जकार इति वक्तव्यम् ।

डकाराय डडाडीडूडेडोडैश्च महारवैः । डामरैरभिपूज्याय नमो नृत्यप्रियाय च ॥ ३५ ॥

ढकाराय ढमन्त्रार्थपरिज्ञानवतां नृणाम् । ढसंज्ञितमहानन्दप्रदाय सततं नमः ॥ ३६ ॥

णकाराय णणाणीणूणेणैणोणौरवैः सदा । णाकि[1]नीगणपूज्याय णसंज्ञाय नमो नमः ॥ ३७ ॥

तकाराय तशब्दा(मन्त्रा)र्थस्वरूपाय तताय च ।
तत्त्वमित्यभिपूज्याय तत्त्वभूताय वै नमः ॥ ३८ ॥

थकाराय थमन्त्रार्थस्वरूपाय थसंज्ञितैः । महागणैश्च पूज्याय थमध्याय नमो नमः ॥ ३९ ॥

दकाराय दयारूपमहाशक्तिमयाय च । देशजातिविहीनाय दिवारात्राय वै नमः ॥ ४० ॥

डामरैर्भयंकरैर्महारवैः । यद्यपि सिंहव्याघ्रादिशब्दा भयजनकाः पूजाहेतवस्तथाऽपि ततोऽभेदेन ज्ञातास्तदनुकरणशब्दा भयानकाः सव्यञ्जनतया हर्षहेतव इति तैः पूज्यायेत्युक्तम् ॥ ३५ ॥ वीरिणीशक्तिसहितोऽर्धनारीश्वरो ढमन्त्रार्थः । ढकारैरनुक्रियमाणेनाट्टहासेन कार्येण व्यञ्जनीयतया लक्षणया ढसंज्ञितस्तत्कारणभूतो यो महानन्दस्तत्प्रदाय ॥ ३६ ॥ णाकिनीशब्दानुकार्यघण्टादिध्वनिकर्तृतया तच्छब्दलक्ष्या गणा णाकि[2]नीगणास्तैः कर्तृभिः । णणादिवर्णानुकार्यैर्मुरजादिभिर्ध्वनिभिः करणैः पूज्यायेत्यर्थः । कोटरीशक्तिसहित उमाकान्तो णमन्त्रार्थस्तया णसंज्ञस्तद्रूपाय ॥ ३७ ॥ पूतनासहित आषाढीशस्तमन्त्रार्थस्तद्रूपाय । **तताय** परिपूर्णतया विस्तृताय । आत्मनो निष्कलपरशिवस्वरूपतामनुसंधाय तयाऽवस्थानमेव हि पूजेत्युक्तं प्राक्तदाह–**तत्त्वमित्यभिपूज्यायेति** ॥ ३८ ॥ भद्रकालीशक्तिसहितो दण्डी थमन्त्रार्थः । थमित्यादिशब्दानुकृतमुरजध्वनिकर्तारो महागणास्तैरनुकरणशब्दैर्लक्षणया संज्ञिताः । थकारो मध्ये यस्य प्रमथेश्वरशब्दस्य स थमध्यस्तद्वाच्यतया तद्रूपाय ॥ ३९–४० ॥

डै आदि हल्ला मचाते हुए आपकी पूजा किया करते है । आपको नृत्य प्रिय है ॥ ३५ ॥ ढकाररूप आपको नमस्कार है । ढ-मंत्र के अर्थ को भलीभाँति जानने वालों को आप ढनामक महान् आनंद देते हैं । (आनंद का नाम इसलिये ढ है कि आनंद से जब हँसते हैं तो लगभग ढ जैसी ध्वनि निकलती है ।) ॥ ३६ ॥ णकाररूप आपको नमस्कार है । णाकिनी-णाकिनी ऐसी घण्टादिध्वनि करने वाले गण ण णा णी णू णे णै णो णौ आदि रव से आपको प्रसन्न करते हैं । ण-नामक आपको नमस्कार है । ('णः पुमान् बिन्दुदेवे स्यात्' मेदिनी ।) ॥ ३७ ॥ तकाररूप आपको प्रणाम है । आप तमन्त्र के अर्थस्वरूप हैं । आप सबसे अधिक विस्तृत हैं । 'तत् त्वम्' (वह परमात्मा तुम जीव हो) इस महावाक्य से आपकी परापूजा होती है । (शिवाभेदानुसंधान ही परापूजा है ।) आप ही वास्तविक हैं ॥ ३८ ॥ थकाररूप आपको प्रणाम है । थ-मंत्र का अर्थ आपका स्वरूप है । थ था आदि (मृदंग की) ध्वनियाँ करने वाले गण आपकी पूजा करते हैं । आपके 'प्रमथेश्वर' नाम के बीच में थ-अक्षर आता है ॥ ३९ ॥ दकाररूप आपको नमस्कार है । दयारूप श्रेष्ठ शक्ति आपमें पूर्ण है । देश व जाति का कोई भेद आपमें नहीं है । दिन व रात में आप ही व्याप्त हैं ॥ ४० ॥ धकाररूप आपको प्रणाम है । धरिणी आदि महाभूत आपका ही स्वरूप हैं ।

---

१ ग. घ. ङ. च. छ. °किणीग° । २ ग. च. °किणीग° ।

धकाराय धरण्यादिमहाभूतस्वरूपिणे । धराधरहृदिस्थाय धमध्याय नमो नमः ॥ ४१ ॥
नकाराय नगेन्द्राय नामजात्यादिहेतवे । नमः शिवाय नम्याय नानारूपाय शूलिने ॥ ४२ ॥
पकाराय परानन्दस्वरूपाय परात्मने । परापरविहीनाय पावनाय नमो नमः ॥ ४३ ॥
फकाराय फलाख्याय फलाख्यगणयोनये । फलाख्यगणपूज्याय नमः पूर्णस्वरूपिणे ॥ ४४ ॥
बकाराय बकाराख्यमहाबीजैकजापिनाम् । बन्धनागारनाशैकहेतवे वेधसे नमः ॥ ४५ ॥
भकाराय भवाब्धेस्तु तारकाय भवाय ते । भवशब्दैकवेद्याय भवानीपतये नमः ॥ ४६ ॥
मकाराय महामायापाशनाशैकहेतवे[1] । ममंकारविहीनानां महानन्दाय वै नमः ॥ ४७ ॥
यकाराय यथार्थाय यथार्थज्ञानिनां नृणाम् । यथार्थप्रत्यगद्वैतब्रह्मणे सततं नमः ॥ ४८ ॥
रकाराय रतिप्रीतिप्रियाय रतिहेतवे । रशब्दवपुषे रोगभवनाशाय वै नमः ॥ ४९ ॥

धराधरः कैलासस्तस्य हृदि मध्ये स्थिताय । मेधाप्रदशब्दो धमध्यस्तद्वाच्यतया तद्रूपाय ॥ ४१-४३ ॥

फलाख्याय । अष्टाङ्गयोगजन्यज्ञानेन प्राप्तव्यतया फलमित्याख्याय । बहुविधसत्कर्मसाध्यतया फलमित्याख्यायमानो यः प्रमथादिर्गणस्तस्य तदनुरूपफलप्रदानेन योनये कारणाय । तेन पूजनीयाय ॥ ४४ ॥ बकारस्य ब्रह्मपदप्रथमवर्णत्वादकारन्यायेन ब्रह्मपदात्मकत्वद्वारा तदर्थपरतत्त्वस्वरूपतया सकलजगदुपादानत्वान्महाबीजत्वम् । तज्जपश्च तदर्थप्रणिधानतत्साक्षात्कारद्वारा तदविद्यालक्षणस्य बन्धनागारस्य निवृत्तावुपकरणं भवति ॥ ४५ ॥ भवशब्दः सद्रूपत्वमाह । तथात्वं च मुख्यं नामाऽऽत्यन्तिकबाधविरहः । स च परशिवस्यैवेति स एक एव भवशब्देन वेद्य इत्यर्थः ॥ ४६-४७ ॥ जगद्येन जगदात्मना भासते न तत्सत्यं किंत्वधिष्ठानरूपेण । शिवस्तु येन सच्चिदानन्दप्रकारेण भासते तेनैव भूतः सत्य इति यथाभूतः स चासावर्थश्चेति यथार्थस्तस्मै, मध्यमपदलोपी समासः । यथाशब्दश्च सत्तावत्यर्थे वृत्तावेव वृद्धव्यवहारानुसंगतिक इति । प्रतीपमञ्चतीति प्रत्यक्सर्वान्तरम् 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः । तच्च तदद्वैतं ब्रह्म च ॥ ४८ ॥ **रकारायेति** । क्रियत इति कारः । रश्चासौ कारश्चेति रकारः । 'वर्णात्कारः' इति हि कारप्रत्ययः 'रादिफः' इत्यपवादेन बाधितः । **रतिप्रीतीति** । सर्वात्मको हि शिवो मन्मथरूपेणावतीर्णो रतिपतीतिनाम्ना योषितः प्रियो भर्ता लोकस्य रतिहेतुश्च भवति । रशब्देति रविशब्दो हि रेफादित्यादुक्तरीत्या स्वयं रशब्दस्तदर्थः सूर्योऽपि तथेति रशब्दवपुः स चाष्टमूर्तेः शिवस्यैका मूर्तिरिति शिवस्तदात्मना रशब्दवपुः सन्रोगं संसारं च नाशयतीति ॥ ४९ ॥

धराधर कैलास के मध्य आप विराजते हैं । आपके 'मेधाप्रद' नाम के बीच धकार आता है ॥ ४१ ॥ नकाररूप आपको प्रणाम है । आप सब पर्वतों के अध्यक्ष हैं । सबके नामों व जातियों के आप मूल कारण हैं । कल्याणरूप आप ही नमन करने योग्य हैं । आप शूलधारी ही नाना रूपों को धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ पकाररूप आपको नमस्कार है । आप परमानंदरूप परमात्मा हैं । आप में पर-अपर का कोई विभाजन नहीं है । सबको पवित्र करने वाले आप ही हैं ॥ ४३ ॥ फकाररूप आपको प्रणाम है । अनावृत हुए आप ही फल कहे जाते हैं । बहुविध सत्कर्म के फलरूप से निष्पन्न होने वाले आपके गण ही फलनामक गण कहे जाते हैं । उन्हें वह फल देने वाले आप ही हैं । उन गणों द्वारा आप नित्य पूजित होते हैं । पूर्णस्वरूप आपको प्रणाम है ॥ ४४ ॥ बकाररूप आपको नमस्कार है । जो लोग केवल बकाररूप महाबीजमंत्र का ही जप करते हैं उनकी संसारबंधनरूप जेल को आप ही नष्ट करने वाले हैं । समग्र कार्यों के विधाता आप हैं ॥ ४५ ॥ भकाररूप आपको नमस्कार है । भवसागर से पार कराने वाले सद्रूप आप ही हैं । 'भव' शब्द के जप व विचार द्वारा आपको समझा जा सकता है । भवानीपति आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ मकाररूप आपको प्रणाम है । महामाया के पाशों को समाप्त करने के एकमात्र कारण आप हैं । ममता-रहित साधकों के लिए आप ही परमानंदरूप हैं ॥ ४७ ॥ यकाररूप आपको नमस्कार है । आप यथाभूत (अर्थात् सत्य) और प्राप्तव्य हैं । यथार्थवेत्ता लोग आपको सत्य प्राप्य प्रत्यक् अद्वैत ब्रह्म कहते हैं । (जो विषय बने बिना ही हमेशा भासे वह प्रत्यक् कहा जाता है । जिसमें द्वैतशब्दित भेद नहीं है उसे अद्वैत कहते हैं । ब्रह्म व्यापक का नाम है ।) ॥ ४८ ॥ 'र' इस प्रकार जिसका उच्चारण किया जाता है उस रेफवर्णरूप आपको प्रणाम

---

१ घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी । कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥ इति कुलार्णवतन्त्रे ।

लकाराय लतासोमस्वरूपाय लतात्मने । लाभालाभविहीनाय लब्धरूपाय वै नमः ॥ ५० ॥
वकाराय वरिष्ठाय वासुदेवादिहेतवे । वाञ्छावागुरविच्छित्तिहेतुभूताय वै नमः ॥ ५१ ॥
शकाराय शरण्याय शंभवे शरणार्थिनाम् । शरणाय शरच्चन्द्रधवलाय नमो नमः ॥ ५२ ॥
षकाराय षडाधारषट्चक्रादिस्वरूपिणे । षडक्षरनिषण्णाय नमः षण्मुखहेतवे ॥ ५३ ॥
सकाराय सशब्दार्थस्वरूपाय[1] सदात्मने । साक्षिणे[2]ऽसाक्षिरूपाणां नमः साधूपकारिणे ॥ ५४ ॥
हकारायाहमर्थाय सदाऽहंकारसाक्षिणे । हाहाहूहूकगीताय हंसरूपाय वै नमः ॥ ५५ ॥

लतेति । अष्टमूर्तेः शिवस्य चन्द्र एका मूर्तिस्तस्य च प्रतिपदादिपौर्णमास्यन्ततिथिषु नित्यमेकैककला वर्धते पुनः प्रतिपदादिदर्शान्तेष्वेकैककला हीयते यथा, तथा सोमलताया अपि पौर्णमासीपर्यन्तं नित्यमेकैकपत्रस्य वृद्धिः पुनर्दर्शपर्यन्तमेकैकपत्रस्य हानिः । अतः[3] शिवोऽपि चन्द्रात्मलतासोमस्वरूपः । चन्द्रकिरणाधीनत्वात्सर्वलतानां वृद्धेश्चन्द्रो लतानामात्मा । अतश्चन्द्ररूपः शिवोऽपि लतात्मा तस्मै । **लाभेति** । अप्राप्तकामस्य प्राप्तिर्लाभः । अप्राप्तिरलाभः । शिवस्तु नित्यमाप्तकामत्वेनावाप्तव्याभावात्तदुभयहीनः । **लब्धेति** । अज्ञानेनाऽऽवृतत्वाज्जीवाः स्वमपि रूपं न लभन्ते । शिवस्त्वनावृतचित्प्रकाशतया नित्यं लब्धरूपः ॥ ५०–५१ ॥ **शकारायेति** । **शरण्याय** रक्षाशीलत्वेन । रक्षाशक्तत्वेन च रक्षकत्वादाह **शरणाय** रक्षकाय ॥ ५२ ॥ **षकारायेति** । आधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाः षडाधाराः । तत्रत्यानि चतुर्दलपद्मादीनि षट्चक्राणि । आदिशब्दात्तेषु ब्रह्मरन्ध्रादिषूपास्यमाना गणेशादयः षड्देवताः । सप्रणवः पञ्चाक्षरमन्त्रः षडक्षरस्तेन प्राप्यतया तत्र निषण्णः ॥ ५३ ॥ **सशब्देति** । सहजाशक्तिसहितो भृङ्गीशः सशब्दस्य सकारस्यार्थः । **साक्षिणेऽसङ्गाय** ।**असाक्षिरूपाणां** विषयसङ्गिनां संसारिणाम् । **साधूपकारिणे** भोगमोक्षप्रदानेन सम्यगुपकर्त्रे ॥ ५४ ॥ **हकारायेति** । अहंकारेण सह तादात्म्याध्यासात्स्वतो निष्कलरूपत्वेऽपि जीवत्वं प्राप्य तद्रूपिणे 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' इति श्रुतेः । अत एवाहंशब्देनाभिधेयाय । **हाहेति** गायन्देवानां गन्धर्वो हाहा, हूहू इति गायन्हूहू, हीहीति गायन्नेतैस्त्रिविधैर्गीयते श्रूयत इति हाहाहूहूकः । 'गै शब्दे' इत्यतः कर्मणि 'घञर्थे कविधानम्' इति कप्रत्ययः । **हंसरूपाय** । अजपामन्त्रप्रतिपाद्यतया तदात्मने ॥ ५५ ॥

है । रति में प्रेम रखने वालों को आप ही प्रिय हैं । (अत एव दम्पति को गौरी-शंकर की समानता पाने का आशीर्वाद दिया जाता है ।) जहाँ कहीं भी रति होती है (विषय-विषयिसम्बंध से सुख होता है), आप ही उसमें कारण हैं । रेफादि रविशब्दित आदित्य शरीर आपकी ही मूर्ति है । रोगरूप संसार के आप नाशक हैं ॥ ४९ ॥ लकाररूप आपको नमस्कार है । सोमलता आपकी विभूति है । लताओं के पोषक तत्त्व चंद्ररूप से स्थित आप ही हैं । आपको न कोई लाभ होता है न हानि । आप सबको सदा लब्ध (प्राप्त) ही हैं ॥ ५० ॥ वकाररूप आपको प्रणाम है । आप सबसे वृद्ध हैं, वासुदेव आदि के भी जनक हैं । वाञ्छा (कामना) नामक पिंजड़े को आप ही समाप्त करने वाले हैं ॥ ५१ ॥ शकाररूप आपको प्रणाम है । आपकी ही शरण ली जानी चाहिये । शरणागतों का आप कल्याण करते हैं । आप सबके रक्षक हैं तथा शरत्कालिक चंद्र की तरह धवल वर्ण वाले हैं ॥ ५२ ॥ षकाररूप आपको नमस्कार है । मनुष्य शरीर में छह विशिष्ट स्थान, उनमें स्थित छह चक्र व देवता आदि सब आप ही हैं । षडक्षरमन्त्र से आप प्राप्तव्य हैं । षण्मुख कार्तिकेय के पिता आपको नमस्कार है ॥ ५३ ॥ सकाररूप आपको नमस्कार है । 'स' शब्द का आप ही अर्थ हैं । आप सद्रूप हैं । विषयासक्त लोगों के प्रति आप असक्त रहते हैं किंतु साधुओं का (विरक्त लोगों का) उपकार करने के लिये तत्पर रहते हैं ॥ ५४ ॥ हकाररूप आपको प्रणाम है । अहम् (मैं) शब्द का मुख्य अर्थ आप ही हैं । अहंकार के आप साक्षी हैं । हाहा, हूहू आदि स्तोभों सहित गायन करने वालों द्वारा आपका ही गान किया जाता है । अजपामंत्र (हंसमंत्र) के प्रतिपाद्य आपको नमस्कार है ॥ ५५ ॥ लकाररूप आपको नमस्कार है ।

---

१ 'सः कोपे वारणे सः स्यात्तथा शूलिनि कीर्तितः । सा च लक्ष्मीर्बुधैः प्रोक्ता गौरी सा च स ईश्वरः ॥' इत्येकाक्षरकोशः । २ ग. घ. च. छ. ज. ॰ णे साक्ष्यरूप॰ । ३ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. अतस्तस्याग्रं द्वादशभेदाच्छिवो॰ ।

लकाराय लकाराख्यमहामन्त्रप्रियाय च । लोलावञ्चलसंसारनाशनाय नमो नमः ॥ ५६ ॥

क्षकाराय क्षमन्त्रार्थस्वरूपाय क्षमावताम् । क्षेमदाय मम क्षेमस्वरूपाय नमो नमः ॥ ५७ ॥

मातृकावपुषे मातृमानमेयादिसाक्षिणे । मातृकामन्त्रलभ्याय महते च नमो नमः ॥ ५८ ॥

मातृकाधारभूताय मातृकामूलरूपिणे । महामन्त्रैकवाच्याय महसे ब्रह्मणे नमः ॥ ५९ ॥

लकारायेति । व्यापिनीशक्तिसहितस्य शिवस्य प्रतिपादको मन्त्रो लकाराख्यस्तत्प्रतिपाद्यतया तत्प्रियः । **लोलेति** डलयोरभेदः । डोलावच्चञ्चलो यः संसारस्तन्नाशनाय ॥ ५६ ॥ **क्षकारायेति** । क्षकारार्थो मायाशक्तिरहितः संवर्तकिय: । **क्षमावतामित्यादि** । शिवो हि वाग्रूपे प्रतीके क्षेमरूपेणोपास्यमानः क्षेमप्रद इत्युक्तं तैत्तिरीयके 'क्षेम इति वाचि' इति ॥ ५७ ॥ एकैकवर्णात्मकत्वोक्त्यैव सकलवर्णसमाहारस्वरूपमातृकामन्त्रात्मकत्वस्य सिद्धस्यापि **मातृकावपुष** इति पुनः स्वशब्देनाभिधानं तेनापि प्रकारेण प्रणिधानाय । न केवलमेकैकवर्णात्मकत्वेन तत्समष्टिमातृकामन्त्रात्मकत्वम्, किंतु मकारादिभिरनेकैः शब्दैरभिधेयम् । एतेषां च प्रागुक्तवन्मकारात्मकत्वात्तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि मकारात्मकः । मातृकामन्त्रोऽपि तेनैव मकारादिशब्देनाभिहितत्वान्मकारात्मक इत्यपि मातृकामन्त्रवशामति दर्शयितुमाह–**मातृमानेत्यादिना** । मानानि प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावरूपाणि षडन्तःकरणवृत्तिविशेषात्मकानि तैर्मेयं व्यावहारिकसत्यं जगन्माता च मानानि च मेयं च मातृमानमेयानि । **आदिशब्देन** प्रातीतिकसत्यमविद्या तद्वृत्तिसंशयविपर्ययास्तद्विषया स्मृतिश्च गृह्यते । तस्य सर्वस्य साक्षिणे प्रकाशकाय स्वप्रकाशाय परमार्थसत्याय । **महसे** चित्प्रकाशाय 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः ॥ ५८ ॥ **मातृकाधारेति** । परशिवविवर्तरूपत्वान्मातृकायास्तां प्रति तस्य शिवस्याऽऽधारत्वम् । **मातृकामूलेति** । मातृकाया मूलं शब्दब्रह्म तदुपादानतया तद्रूपिणे । **महामन्त्रेति** । मातृकामन्त्राः प्रणवहृल्लेखाष्टाक्षरादयो महामन्त्राः । तेषां पृथक्पृथग्वाच्यास्तत्तद्देवतामूर्तयस्तद्द्वारा चिदानन्दैकरसः शिव एक एव तात्पर्येण प्रतिपाद्यः ॥ ५९ ॥

(वर्णसमाम्नाय के क्रम को मानकर हकारानन्तर लकार का ग्रहण कर लिया है । पूर्वत्र अन्तःस्थों में मानकर उसे कहा था ।) लकारनामक महामंत्र आपको प्रिय है । झूले की तरह निरंतर चलनशील (ऊँचा-नीचा होने वाले) संसार के समापक आपको प्रणाम है ॥ ५६ ॥ क्षकार रूप आपको नमस्कार है । 'क्ष' मंत्र का अर्थ आपका ही स्वरूप है । सहनशीलों के धन आदि की आप रक्षा करते हैं । मुझ विष्णु के भी आप ही रक्षक हैं । आपको पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ५७ ॥ मातृकाशरीर वाले आपको नमस्कार है । (अकारादि क्षकारान्त सब अक्षरों का सामूहिक नाम है मातृका । सब अक्षर परमेश्वर के शरीर के घटक हैं । जैसे रूपप्रपंच शिवदेह है ऐसे नामप्रपंच भी । नाम सभी मातृकाघटित ही हैं । अतः शिवदेह की मातृकात्मकता निःसंदिग्ध है ।) प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियों के आप साक्षी हैं । मातृका मंत्र से आपकी प्राप्ति होती है । आप महान् हैं ॥ ५८ ॥ मातृका के आधार (अधिष्ठान) आप ही हैं । मातृका का मूल रूप शब्दब्रह्म (शब्दमात्र) भी आप हैं । प्रणवादि महामन्त्रों के प्रतिपाद्य आप ही हैं । महान् ब्रह्म आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥ स्वर व व्यंजन रूप से दो प्रकार बँटे महामंत्रों के आप ही वाच्य हैं ।

द्विधाभूतमहामन्त्रस्वरव्यञ्जनरूपतः । वाच्यायापदरूपाय पदाय महसे नमः ॥ ६० ॥

अष्टधा चाष्टवर्गैस्तु विभक्तायामलात्मने । अशेषशब्दभूताय तत्तदर्थाय वै नमः ॥ ६१ ॥

शब्दान्वयविहीनाय शब्दलभ्याय साक्षिणे । सर्वोपाधिविहीनाय स्वयंभानाय वै नमः ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगम्यायापरोक्षतः । प्रतीताय स्वयं सर्वसाक्षिणे महसे नमः ॥ ६३ ॥

द्विधाभूतेति । द्विधा भूता हि महामन्त्रास्तैः स्वेन ध्वन्यात्मना तद्व्यङ्ग्येन स्फोटात्मना च । उक्तं हि महाभाष्ये– 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलखुरककुद्विषाणाद्यर्थरूपं प्रतीयते स शब्दः । अथवा प्रतीतिपदार्थो लोके ध्वनिः शब्द' इति । तत्र ह्युच्चारितेनेत्यभिव्यञ्जितेनेत्यर्थ इति व्याख्यातम् । तेन रूपेण स्फोटेन साक्षाद्वाच्यस्तद्द्वारा तद्व्यंजकेन स्वेन ध्वनिरूपेणेति । पदापदरूपत्वमुक्तं प्राक् ॥ ६० ॥ **अष्टधेति** । प्रथमममलात्मने निष्कलाय, ततो बिन्दुशब्दपरापश्यन्तीमध्यमावैखरीवागात्मकमातृकारूपतां प्राप्य, पुनरकचटतपयशादिभिरष्टाभिर्वर्गैरष्टधा विभक्ताय । तत्तद्वर्णसमाहारात्मकपदवाक्यतत्तदर्थतां प्राप्तायेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ **शब्दान्वयेति** । **सर्वोपाधिविहीनाय** निरस्तसमस्तोपाधिकस्वरूपप्रतिष्ठाय । अत एव सकलशब्दप्रवृत्ति[1]निमित्तजात्यादिविरहाद्वाचकशब्दहीनाय । **स्वयंभानाय** स्वरूपप्रकाशेनैव भासमानाय । एवंरूपोऽपि यदा स्वमायातत्कार्यसाक्षी भवति तदा 'साक्षी चेता केवलः' इत्यादिशब्दलभ्याय ॥ ६२ ॥ **प्रत्यक्षेति** । स्वयं परमार्थवस्तुतयाऽवस्तुगोचरैः प्रत्यक्षादिभिरगम्याय । **प्रमाणानामिति** कर्तरि षष्ठी । तथाऽपि स्वयंस्वरूपप्रकाशेनैवापरोक्षतया प्रतीताय स्फुरते । स्वातिरिक्तस्य सर्वस्यापरोक्षहेतवे । **महसे** प्रकाशाय ॥ ६३ ॥

समस्त पदों का रूप आप ही ग्रहण करते हैं किन्तु रहते सदा अपदरूप ही हैं । ऐसे आप महान् कुशल परमेश्वर को नमस्कार है ॥ ६० ॥ निष्कल रहते हुए ही आप आठ वर्गों में आठ तरह से विभक्त हो गये हैं । (स्वरवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग–ये आठ वर्ग हैं ।) समस्त शब्द व उनेक अर्थ–सब आप ही बने हैं । ऐसे आपको प्रणाम है ॥ ६१ ॥ यद्यपि आप शब्द के सहारे प्राप्त होते हैं तथापि आपसे शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता । साक्षी होने से आप सब उपाधियों से (भेदकों से) रहित हैं । आप ही एकमात्र ऐसे हैं जो अपने स्वरूपभूत प्रकाश से ही भासते हैं । ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ६२ ॥ अपरोक्षतया स्फुरित होने वाले होने से आप प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय हैं । स्वयंरूप व सर्वसाक्षी आप महादेव को प्रणाम है । ॥ ६३ ॥ वास्तविक-अवास्तविक उभयविध अहंकार-ममकार

---

[1] ङ. °त्तिनिवृत्तिजा° ।

स्वस्व[1]रू[2]पा[3]दिहीनाय वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
अर्थाय महते साक्षात्स्वयंभानाय वै नमः ॥ ६४ ॥
प्रसादलभ्याय शिवाय सत्यचिन्महासुखायापरवर्जिताय ।
अतीव शुद्धस्य हृदम्बुजालये विभासमानाय नमो नमस्ते ॥ ६५ ॥
सूत उवाच– रायणेनैव शंकरोऽभिष्टुतः पुनः ।
प्राह गम्भीरया वाचा किमर्थं तप्तवांस्तपः ॥ ६६ ॥
इत्याकर्ण्य महाविष्णुः प्रणम्य परमेश्वरम् ।
तव स्थानानि[4] मे देव ब्रूहि साक्षात्कृपाकर ॥ ६७ ॥
इत्युक्तो विष्णुना शंभुः सर्वज्ञः करुणाकरः ।
प्राह सर्वेश्वरेशानः स्थानानि स्वस्य विष्णवे ॥ ६८ ॥
ईश्वर उवाच– मम स्थानानि वक्ष्यामि महामोहनिवृत्तये ।
अतीव श्रद्धया सार्धं शृणुष्व पुरुषोत्तम ॥ ६९ ॥
अध्यात्मे चाधिभूते च स्थानानि सुबहूनि मे ।
स्वर्गापवर्गसिद्ध्यर्थमुपास्यानि मनीषिभिः ॥ ७० ॥

स्वस्वरूपेति । अत्र प्रथमः स्वशब्द आत्मनि, द्वितीय आत्मीये । वस्तुभूतेनापि स्वेनाऽऽत्मना हीनाय स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । **अवस्तुतोऽ**वस्तुभूतेन स्वीयेन रूपाद्येन हीनाय तस्यावस्तुत्वादेव । **महते** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदविरहादपरिच्छिन्नाय । **अर्थाय** परमार्थाय । **साक्षाद**परोक्षतया स्वयमेव भानं यस्य तस्मै । अत्र स्तोत्रे महसे स्वयंभानायेत्यादयः शब्दा यद्यप्यसकृदावर्तन्ते तथाऽपि न पौनरुक्त्यं शङ्कनीयम् । निरर्थकं हि पुनर्वचनं पुनरुक्तम् । इदं तु स्तोत्रं न स्वरूपोपदेशपरं येन सकृदुक्त्या प्रतिपन्नस्य पुनरुपदेशोऽनर्थकः स्यात् । विष्णुना हि कृतमुपासनं तस्य तथैवाऽऽनुपूर्व्या तथैव बुद्धौ विनिवेशाय ग्रन्थनात्मकोपासने चाऽऽवृत्तिरलंकारो न दोषः । आवृत्त्येकशरीरत्वात्तस्येति ॥ ६४ ॥ **प्रसादलभ्यायेति** । प्रसीदति रजस्तमोभ्यामनभिभूतं बुद्धिसत्त्वमनेनेति प्रसाद ईश्वरस्यानुग्रहो निरतिशयभक्तिलभ्यः ॥ ६५–७० ॥

से आप रहित हैं । आप अपरिच्छिन्न व पारमार्थिक हैं । अपरोक्ष स्वयं रूप से भासने वाले आपको प्रणाम है ॥ ६४ ॥ आप अपनी कृपा से ही प्राप्त होते हैं । आप सत्यरूप, चिद्रूप व आनंदरूप हैं । आप से भिन्न कुछ नहीं है । अत्यंत शुद्धचित्त वाले के हृदयकमल में आपका अनुभव होता है । ऐसे आप शिव को पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६५ ॥

सूतजी बोले–यों नारायण द्वारा स्तुत परमेश्वर ने गंभीर वाणी में उनसे पूछा कि उन्होंने किस उद्देश्य से तप किया था ॥ ६६ ॥ यह सुनकर विष्णु ने प्रणतिपूर्वक निवेदन किया 'हे देवाधिदेव ! आपके स्थान कौन-कौन से हैं यह मुझे कृपया बतायें ।' ॥ ६७ ॥ यों प्रार्थित हुए महादेव ने अपने स्थान बताये ॥ ६८ ॥

ईश्वर ने कहा–हे पुरुषोत्तम ! सब तरह की शंकाओं की निवृत्त्यर्थ मैं अपने स्थान बताता हूँ । पूर्ण श्रद्धा से सुनो ॥ ६९ ॥ शरीर में व शरीर से बाहर संसार में मेरे बहुतेरे स्थान हैं । बुद्धिमानों को चाहिये कि स्वर्ग व मोक्ष पाने के लिए उनका सेवन करें ॥ ७० ॥

---

१ स्वंस्वत्वमहंकृतिः । स्वीयमिति रूपं यस्यासौ स्वरूपो ममत्वम् । कामादिरादिशब्दार्थः । तद्ररहितायेति वृत्त्यर्थः । २ घ. °रूपेण ही° । ३ ख. ग. ङ. छ. ज. °पादही° । ४ घ. °नि भेदेन ब्रू° ।

ब्रह्मरन्ध्राभिधं स्थानं विशिष्टं योगि[1] सेवितम् ॥

विमुक्तिसाधनं नृणामिति विद्धि विचक्षण ॥ ७१ ॥

मुखमण्डलमाश्चर्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् । मोहनाशकरं साक्षात्स्थानं विद्धि जनार्दन ॥ ७२ ॥

चक्षुषी च तथा श्रोत्रे नासिके च जनार्दन ।

गण्डोष्ठदन्तमूर्धा च स्थानान्यास्ये ममानघ ॥ ७३ ॥

हस्तपादगताः सर्वे संधयः पुरुषोत्तम ।

स्थानानि मम कल्याण तथा पार्श्वद्वयं मम ॥ ७४ ॥

पृष्ठश्च नाभिदेशश्च हृद्देशश्च जनार्दन ।

धातवः सप्त[2] मे साक्षात्स्थानानि पुरुषोत्तम ॥ ७५ ॥

स्थानविशेषेषु कृतस्योपासनस्य सकलपुरुषार्थसाधनत्वादुपासनस्थानान्येव विष्णुना पृष्टः शंभुस्तावदाध्यात्मिकानि स्थानान्याह-**ब्रह्मरन्ध्राभिधमि**त्यादिना । ब्रह्मरन्ध्रादीन्यास्यान्तानि षोडश क्रमेण स्वरैरूपासनस्थानानि ॥ ७१–७३ ॥ हस्तपादद्वयसंधयः साग्राः कचटतपवर्गैरुपासनस्थानानीत्याह–**हस्तपादे**ति । संधिग्रहणं समग्रस्याप्युपलक्षणम् । पवर्गस्थानपञ्चकमाह–**पार्श्वे**ति[3] । नाभिग्रहणं कुक्षेरप्युपलक्षणम् । यादिदशकोपासनस्थानान्याह–**हृद्देशश्चे**ति । आपादमस्तकं व्याप्तं त्वगादिधातुसप्तकं [4]प्राणजीवा [5]पानात्मलक्षण-मर्थत्रयं च हृदयेऽपि व्याप्य वर्तत इति हृद्येव तत्र स्थानदशकं यादिभिरुपासनीयमित्यर्थः । धातुग्रहणं प्राणादित्रयस्याप्युपलक्षणम् ॥ ७४–७५ ॥

योगियों द्वारा उपासित ब्रह्मरन्ध्र नाम का उत्तम स्थान मेरा है । वह स्थान लोगों को मोक्ष देने में समर्थ है ॥ ७१ ॥ मुखमण्डल भी मेरा अद्भुत स्थान है । भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करने वाला वह स्थान है । अज्ञाननिवृत्ति करना उस स्थान के वश में है ॥ ७२ ॥ मुख में मेरे ये स्थान हैं–दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों नासिकायें, गाल, ओठ, दाँत तथा मस्तक ॥ ७३ ॥ हाथों व पैरों में जितने जोड़ हैं सब मेरे स्थान हैं । दोनों पसवाड़े मेरे ही स्थान हैं ॥ ७४ ॥ पीठ, नाभि, हृदय व सातों धातु मेरे स्थान हैं ॥ ७५ ॥ मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सिद्धि (ब्रह्मरंध्र)–इन सबको

१. ज. "गिसंमत" । २ रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । ३ घ. पार्श्वद्वयं । ४ ख. ङ. च. छ. ज. प्राणाजी"
५ ख. पानात्मकल" ।

मूलाधारमधिष्ठानं पूरकाख्यमनाहतम् । विशुद्धाख्यं च मत्स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ७६ ॥

महाज्ञासिद्धिसंज्ञं च विष्णो वाराणसी पुरी ।

प्रणवांशत्रयं बिन्दुनादशक्तिसमाह्वयम् ॥ ७७ ॥

बीजस्थानं च मेढ्रं च रोमाणि विविधानि च ।

मम स्थानानि कल्याण विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ७८ ॥

यथाऽध्यात्मे महाविष्णो स्थानानि सुबहूनि मे ।

तथाऽधिभूते मे विष्णो स्थानानि सुबहूनि च ॥ ७९ ॥

कैलासपर्वतः साक्षात्स्थानं विष्णो ममानघ ।

श्रीमद्दक्षिणकैलासपर्वतश्च तथैव च ॥ ८० ॥

बहिरुपासनस्थानान्यभिधायऽऽन्तराण्यप्याह–**मूलाधारमिति** । देहमध्ये मूलाधारस्तत्र चतुर्दलपद्मे वर्णचतुष्टयेनोपास्य(सन)म् । लिङ्गमूलं स्वाधिष्ठानं तत्र पद्मदलषट्के वर्णषट्केनोपासनम् । नाभौ मणिपूरकं तत्रत्यपद्मदशके वर्णदशकेन । **अनाहतं** हृदि तत्रत्यपद्मदलद्वादशके वर्णद्वादशकेन । कण्ठे विशुद्धं तत्रत्यपद्मदलषोडशके वर्णषोडशकेन । भ्रूमध्य आज्ञा तत्रत्यपद्मदलद्वये वर्णद्वयेन । **सिद्धिसंज्ञं** ब्रह्मरन्ध्रं तत्रत्यसहस्रदलपद्म एकेन वर्णेन । इत्येकपञ्चाशता मातृकावर्णैरन्तरुपासनस्थानानि । **वाराणसी** भ्रूमध्यम् । श्रूयते हि–'भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः' इति । अकारोकारमकाराः । चकाराच्छान्तं च ॥ ७६–७८॥

मेरा स्थान समझो । भ्रूमध्य भी मेरा स्थान है, इसे शारीरिक वाराणसी कहते हैं । प्रणव के तीनों अंश (अकारादि से संबद्ध तीनों शरीर) मेरे स्थान हैं । इन्हीं तीनों अंशों के समूह को बिन्दुनाद की शक्ति कहते हैं ॥ ७७ ॥ अण्डकोष, शिश्न तथा विविध रोम–सब मेरे स्थान हैं ॥ ७८ ॥

अध्यात्म की तरह अधिभूत में भी मेरे कई स्थान हैं ॥ ७९ ॥ कैलास पर्वत साक्षात् मेरा निवासस्थान प्रसिद्ध है । दक्षिण कैलास पर्वत भी इसी तरह मेरा स्थान है ॥ ८० ॥ मोक्षफल देने वाली पुण्यमयी वाराणसी पुरी जहाँ मरने मात्र से सबको मोक्ष मिलता है, मेरा ही स्थान है ॥ ८१ ॥ सोमनाथ, केदारनाथ व श्रीशैल मेरे उत्तम स्थान हैं ॥ ८२ ॥ वृद्धाचल, गोपर्वत व हरतीर्थ मेरे स्थान हैं ॥ ८३ ॥ अधिग्राम,

वाराणसी पुरी पुण्या विमुक्तिफलदा नृणाम् ।

मरणादेव सर्वेषां तच्च स्थानं ममानघ ॥ ८१ ॥

श्रीसोमनाथसंज्ञं च तथा केदारमद्भुतम् । श्रीपर्वतं च मे स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ८२ ॥

श्रीमद्वृद्धाचलं पुण्यं तथा गोपर्वतं हरे ।

तथा श्रीहरतीर्थं च विद्धि स्थानं ममाव्ययम् ॥ ८३ ॥

आधिग्रामसमाख्यं च श्वेतारण्यं महत्तरम् ।

[1] दन्तिस्थानं च मे विष्णो स्थानं विद्धि महत्तरम् ॥ ८४ ॥

त्रिकोटिहाख्यं गम्भीरं तथा [2] गोपुटतीर्थकम् ।

मध्यार्जुनं च मे स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ८५ ॥

श्रमन्मङ्गलवंशाख्यं कुम्भकोणसमाह्वयम् । तथा सव्येतरावर्तं विद्धि स्थानं ममानघ ॥ ८६ ॥

जप्येश्वरसमाख्यं च तथा वल्मीकमुत्तमम् ।

गजारण्यसमाख्यं मे विद्धि स्थानं विचक्षण ॥ ८७ ॥

वेदारण्यसमाख्यं च तथा हालास्यसंज्ञितम् ।

श्रीमद्रामेश्वराख्यं च स्थानं विद्धि ममाद्भुतम् ॥ ८८ ॥

पुण्डरीकपुरमुत्तमं मम स्थानमग्निसदृशं विशोधनम्[3] ।

योगनिष्ठमुनिसंघसेवितं भोगमुक्तिफलदं पुरातनम् ॥ ८९ ॥

इत्थमाध्यात्मिकान्युक्त्वाऽऽधिभौतिकान्याह–यथेति ॥ ७९–८९ ॥

श्वेतारण्य और दन्तिस्थानों को मेरे श्रेष्ठ स्थान समझो ॥ ८४ ॥ त्रिकोटिह, गोपुरतीर्थ और मध्यार्जुन मेरे स्थान हैं ॥ ८५ ॥ मंगलवंश, कुम्भकोण व दक्षिणावर्त मेरे स्थान हैं ॥ ८६ ॥ जप्येश्वर, वल्मीक और गजारण्य मेरे स्थान हैं ॥ ८७ ॥ वेदारण्य, हालास्य और रामेश्वर मेरे अद्भुत स्थान हैं ॥ ८८ ॥ पुण्डरीकपुर मेरा उत्तम स्थान है जो अग्नि की तरह सबको शुद्ध कर देता है । योगरत मुनिसमाज वहाँ निरंतर निवास करता है । भोग व मोक्ष देने वाला यह प्राचीन स्थान है ॥ ८९ ॥ तुम, मैं, इंद्र, नंदी, विनायक आदि सभी परम प्रेम से वहाँ रहते हैं । लिंग शरीर में हृदय का (मन का) जो स्थान है वही भूमि पर पुण्डरीकपुर का स्थान है । सभी आस्तिक उस शुभ स्थान

---

१ ग. दृष्टिस्थानं । छ. दृतिस्थानं । २ ख. ग. घ. गोपटुती° । ३ ख. ग. च छ. ज. विशोधने ।

त्वया मया वज्रधरेण नन्दिना विनायकाद्यैरखिलैरतिप्रियात् ।
निषेवितं संततमास्तिकैर्जनैः स्वराट्समाख्यस्य हृदि स्थितं शुभम् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यामपि सर्वशक्तिभिर्न गोचरीकर्तुमलं महत्तरम् ।
प्रसादिभिर्लभ्यमतीव शोभनं गुणाकरं गुह्यम्[1] शोभनापहम् ॥ ११ ॥
सदा परानन्दविकासकारणं दिवाकराणामपि कोटिभिः समम् ।
पुरातनानामपि पुण्यशीलिनां विमोहनाशाय मयैव निर्मितम् ॥ १२ ॥
स्थानमेतदतिप्रियमास्तिकैर्वेदविद्भिरतिप्रियकारिभिः ।
पूजितं पुरुषोत्तम मुक्तिदं सेवितं च सततं मयैव तु ॥ १३ ॥
अत्र नृत्तमतिशोभनं परं सत्यबोधसुखवस्तुबोधकम् ।
भक्तचित्तहृदयस्थितं[2] हरे व्यक्तमेव सततं करोम्यहम् ॥ १४ ॥
शंकरी च परमा विनायकः षण्मुखश्च सुयशाः पतिः प्रभुः ।
अन्तरङ्गजनमप्यतिप्रियं नृत्तमत्र परिपश्यति स्वयम् ॥ १५ ॥
त्वं च पद्मजनितः पुरंदरः पङ्कजाऽपि परमा सरस्वती ।
मत्प्रसादजनितेन चक्षुषा नृत्यमत्र ददृशुः समञ्जसम् ॥ १६ ॥

प्रकृतस्य पुण्डरीकपुरस्यात्यन्तवैशिष्ट्ये हेतमाह—त्वयेति । स्वराट्समाख्यस्येति । विराडात्मकं ब्रह्माण्डात्मकं समष्टिरूपस्य शिवस्य स्थूलशरीरं तदन्तर्वर्ति स्वराट्समाख्यं यल्लिङ्गशरीरं तस्य हृदयस्थानं तदित्यर्थः ॥ १० ॥ सर्वशक्तिभिरिति । सर्वा शक्तिः समग्रं सामर्थ्यमेषामस्ति तैर्महर्षिभिः श्रुतिस्मृतिभ्यामपि यद्गोचरीकर्तुमशक्यम् । किंतु शिवप्रसादवद्भिरेव लभ्यमित्यर्थः ॥ ११-१३ ॥ सत्येति । सत्यमनवच्छिन्नमबाध्यं सुखं ज्ञानानन्दघनं यद्वस्तु तस्य साधकम् ॥ १४ ॥

का सेवन करते हैं ॥ १० ॥ यह स्थान इतने माहात्म्य का है कि श्रुति-स्मृति भी इसका समग्र वैभव बता नहीं सकती । जिन पर मेरी कृपा है वे ही यहाँ पहुँच सकते हैं । यह शुभ स्थान गुणों की खान है, अशुभ का निवारक है और शिवपराङ्मुखों के लिये छिपा हुआ है ॥ ११ ॥ सदा परमानन्द के विकास का कारण बनने वाला यह स्थान करोड़ों सूर्यों की तरह देदीप्यमान है । प्राचीन जन्मों में भी जो स्वभावतः पुण्य करते रहे हैं उनके मोक्ष के लिये मैंने ही इस स्थान का निर्माण किया है ॥ १२ ॥ यह स्थान मुझे अति प्रिय है व मैं निरंतर यहाँ बना रहता हूँ । वेदवेत्ता तथा मेरी सेवा करने वाले आस्तिक इस

१ ङ. मतीव शोभनम् । २ हृदयस्य देहमध्यत्वात्तत्पदमिह मध्यपरम् । चित्तमध्य इत्यर्थः ।

शब्दजालपरिमोहिता जनास्तर्कजालपरिमोहिता अपि ।
अत्र नैव ददृशुश्च नर्तनं भक्तिहीनजनताऽप्यधोक्षज ॥ ९७ ॥
वेदबाह्यसरणिस्थिता जनाः केवलाश्च मनुजा अपि प्रियम् ।
अत्र भक्तिसहिता अपि स्वतः सत्यमेव ददृशुश्च नर्तनम् ॥ ९८ ॥
अत्र नृत्तमविलोक्य मानवः स्वर्गलोकमपि नैति चेज्यया ।
नित्यशुद्धसुखसत्यचिद्घनं ब्रह्म मुक्तिमपि नैति विद्यया ॥ ९९ ॥
नृत्तदर्शनविवर्जितः पुमानत्र कीटसदृशश्च केशव ।
तस्य पुण्यमपि दुष्कृतं भवेत्सत्यमेव कथितं मयाऽच्युत ॥ १०० ॥
नृत्तदर्शनविहीनवाडवः [1]सत्यमत्र पुरुषोत्तमान्त्यजः ।
तस्य जन्म विफलं ह्यहो हरे कः स्वमोहमतिवर्तते नरः ॥ १०१ ॥
बहुप्रलापेन किमत्र लभ्यते विचित्रमेतत्पुरमादृतं मया ।
विमुक्तिभाजामपि पुण्यशीलिनां विमुक्तिहेतुः सकलोत्तमोत्तमम् ॥ १०२ ॥

शंकरीति । उक्तशंकर्यादिरन्तरङ्गजनः, आर्षं नपुंसकत्वम् । निगदव्याख्यानमन्यत् ॥ ९५–१०६ ॥

मोक्षप्रद स्थान का बहुत आदर करते हैं ॥ ९३ ॥ पुण्डरीकपुर में अतिशोभा वाला नृत्त व्यक्त करता हूँ । वह नृत्त परमार्थतः सच्चिदानंद वस्तु का बोधक है । भक्तों के चित्तों के बीच ही वह नृत्त अभिव्यक्त होता है (बाहर तो उसका प्रतीकमात्र दर्शनार्ह है) ॥ ९४ ॥ पार्वती, गणेश, स्कन्द तथा यशस्वी पशुपति सर्वप्रभु रुद्र— सभी अंतरंग लोग अत्यंत प्रेम से यहाँ स्वयं नृत्तदर्शन करते हैं ॥ ९५ ॥ तुमने, ब्रह्मा ने, इंद्र ने, लक्ष्मी ने व सरस्वती ने मेरी कृपा से प्राप्त दिव्य चक्षु से यहाँ सर्वोत्तम नृत्त का अवलोकन किया है ॥ ९६ ॥ शब्दजाल व तर्कजाल से मोहित भक्तिहीन लोग यहाँ भी परम नृत्त का दर्शन नहीं कर पाते ॥ ९७ ॥ भक्ति से परिपूर्ण मन वाले मनुष्य चाहे वैदिक सम्प्रदाय से बहिर्भूत भी हों, यहाँ स्वयं इस नृत्त का दर्शन कर चुके हैं ॥ ९८ ॥ यहाँ यदि परनृत्त को न देखा तो यागादि से स्वर्ग भी प्राप्त नहीं होता तथा विद्या से नित्य शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्मरूप मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता ॥ ९९ ॥ जिस पुरुष ने पुण्डरीकपुर में शिव के आनन्दताण्डव का स्वहृदय में दर्शन नहीं किया वह पृथ्वी पर कीट के समान ही है । उसका पुण्य भी पाप ही हो जाता है । इसमें संदेह न करो ॥ १०० ॥ जिस ब्राह्मण ने नृत्तदर्शन नहीं पाया उसे अन्त्यज ही समझो । उसका जन्म विफल है । अहो ! कौन हो सकता है जो (नृत्तदर्शन किये बिना)

---

१ ख. सत्यमेव ।

सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेवः साम्बः संसारमोचकः ।
सत्यज्ञानपरानन्दस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १०३ ॥
विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वलोकहिते रतः ।
शिवस्थानानि चाऽऽकर्ण्य श्रीवैकुण्ठं गतोऽभवत् ॥ १०४ ॥
भवद्भिश्च महाभाग्याच्छिवस्थानानि सुव्रताः ।
श्रुतानि तानि मोक्षार्थं भजध्वं श्रद्धया सह ॥ १०५ ॥
स्थानानि सर्वाणि मयोदितानि द्विजेन्द्रवृन्दा अतिशोभनानि ।
भजेदविद्याविनिवृत्तिकामः प्रियेण चैकं परमेश्वरस्य ॥ १०६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवस्थानविचारो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि भस्मधारणवैभवम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण नरो मुच्येत बन्धनात् ॥ १ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवस्थानविचारो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अपना अज्ञान निवृत्त कर पाये ! ॥ १०१ ॥ बहुत कहने से क्या लाभ ? यह विचित्र सर्वोत्तम पुर मेरा प्रिय बन चुका है । पुण्यवान् मुमुक्षुओं को यह स्थान मोक्ष देता है ॥ १०२ ॥

सूत जी बोले–यों कहकर संसार से मुक्त करने वाले सच्चिदानंद साम्ब सदाशिव वहीं अंतर्धान हो गये ॥ १०३ ॥ विश्वहितैषी विष्णु ने भी शिवस्थानों का श्रवण कर वैकुण्ठ के लिये प्रस्थान किया ॥ १०४ ॥ आप लोगों ने भी परम सौभाग्य से शिवस्थानों का ज्ञान पाया है । मोक्ष प्राप्ति के लिये आप सब श्रद्धापूर्वक उन स्थानों का सेवन कीजिये ॥ १०५ ॥ हे उत्तम ब्राह्मणो ! मैंने जितने स्थान बताये हैं सब अत्यंत शोभा वाले हैं । जो व्यक्ति अविद्या की निवृत्ति चाहे उसे प्रेमपूर्वक परमेश्वर के किसी एक स्थान का निष्ठा से सेवन करना चाहिये ॥ १०६ ॥

भस्मधारणवैभव नामक तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं भस्मधारण करने का माहात्म्य कहता हूँ । इसे ठीक तरह समझने मात्र से जीव बंधविनिर्मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥ तत्त्वविचारक धार्मिकों ने भस्म को नाना प्रकार का बताया है । एक है महाभस्म तथा अन्य स्वल्प हैं ॥ २ ॥

भस्म नानाविधं प्रोक्तं धार्मिकैस्तत्त्वचिन्तकैः ।

एकं विप्रा महाभस्म स्वल्पमन्यत्प्रकीर्तितम् ॥ २ ॥

महाभस्म महादेवो महामायावभासकः ।

भर्त्सनात्सर्वपापानां [1]भासनं तस्य विद्यया ॥ ३ ॥

विद्या वेदोद्भवा साक्षान्मुनयः संशितव्रताः । अविद्या फलतश्चान्याः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ४ ॥

यस्य साक्षान्महाभस्म भाति स्वात्मतया स्वतः ।

न तस्य भस्मना कार्यं न जटाभिर्न चीवरैः ॥ ५ ॥

यस्य भस्म स्वतो भाति स्वात्मना मुनिपुंगवाः ।

न तस्य वर्णधर्मेण कार्यं नाऽऽश्रमधर्मतः ॥ ६ ॥

यस्या भस्माऽऽत्मरूपेण विभाति परयोगिणः ।

न तस्य तपसा कार्यं न दानेन न चेज्यया ॥ ७ ॥

शिवस्योपासनस्थानान्युक्त्वा तत्रोपासकानां भस्मधारणविधानाय त्रिंशमध्यायमारभते–**अथात** इति ॥ १–२ ॥ महत्त्वाल्पत्वाभ्यां द्विधा भस्माभिधाय महतः स्वरूपमाह–**महाभस्मे**ति । मायातत्कार्यसाक्षित्वेन तदवभासनात्तत्त्वज्ञानप्रदानेन सर्वपापक्षयकरतया तद्भर्त्सनाद्वा महादेवो महाभस्म । तत्र भर्त्सनं **तस्य** महादेवस्य । कर्मणि षष्ठी । तद्विषयया **विद्यया** भवति ॥ ३ ॥ **विद्ये**ति । **अन्या** औपनिषदव्यतिरिक्ताः कलाशास्त्रादिविद्याः । फलस्य बन्धस्य हेतुत्वात्**फलतो**ऽविद्या ॥ ४ ॥ महाभस्मतत्त्वविद्यावतोऽग्निहोत्राद्यल्पभस्मानपेक्षामाह–**यस्य साक्षा**दिति । तत्साहचर्येण प्राप्तयोर्जटाचीवरयोरपि तद्वदेवानपेक्षामाह–**ने**ति ॥ ५ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते, वर्णाश्रमधर्मैरपि न तस्योपकार इत्याह–**यस्य भस्मे**ति । **स्वतो** भासकप्रमाणानपेक्षत्वेन **यस्य** स्वात्मना स्वतादात्म्येन भासत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ सामान्येनोक्तस्य वर्णादिधर्मस्य वैफल्यं विशेषतोऽप्याह–**यस्य भस्मे**ति । **तपसे**ति वनस्थादिधर्मेण । **इज्यये**ति गृहस्थधर्मेण । **दानेने**ति साधारणधर्मेण ॥ ७ ॥

महाभस्म तो स्वयं महादेव हैं जो महामाया के प्रकाशक हैं तथा जिनका ज्ञान सब पापों का समापक है ॥ ३ ॥ जो साक्षाद् वेद से उत्पन्न होता है वह अखण्ड ज्ञान ही विद्या है । बाकी सब ज्ञान बंधनात्मक फल देने वाले होने से अविद्या ही हैं ॥ ४ ॥ जिसे महाभस्म का निजरूप से साक्षात्कार हो चुका है उसे भस्म, जटा और वस्त्र से कोई प्रयोजन नहीं ॥ ५ ॥ जिसे महाभस्म स्वात्मरूप से भासमान है उसके लिये वर्णाश्रम धर्म कर्तव्य नहीं हैं ॥ ६ ॥ महाभस्म को स्व-रूप जानने वाले के लिए तप, दान व यज्ञों का कोई महत्त्व नहीं ॥ ७ ॥ स्वयम्प्रकाश महाभस्म को जो स्वरूपभूत साक्षी समझ चुका है, वेद स्मृति

---

१. भर्त्सनमिति पाठान्तरं टीकासंमतञ्च । भर्त्स तर्जने चौरादिकः । भर्त्सनाद्भस्म । कथम् ? तस्य विद्यया पापानां भर्त्सनं भवतीति योजना । यथाश्रुते विद्यया तस्य भासनं तेन पापानां भर्त्सनाद्भस्मेति साध्याहारं योज्यम् ।

यस्य साक्षिस्वरूपेण भस्म भाति स्वयंप्रभम् ।

न तस्य कार्यं वेदेन न च स्मृतिपुराणकैः ॥ ८ ॥

यस्य भस्म द्विजा भाति प्रत्यग्रूपेण संततम् ।

न तस्य कार्यं तीर्थेन नार्चनेन शिवस्य तु ॥ ९ ॥

भस्मविज्ञानसंपन्नो महायोगी महत्तरः ।

कृतकृत्यश्च मेधावी का कथा शिव एव सः ॥ १० ॥

भस्मविज्ञानलाभाय खलु वेदाः सनातनाः ।

प्रवृत्ताः स्मृतयः सर्वाः पुराणं भारतादि च ॥ ११ ॥

भस्मविज्ञाननिष्ठस्य न कर्तव्यं कथंचन ।

केवलं देहयात्रैव कार्याऽऽदेहान्तमास्तिकाः ॥ १२ ॥

वेदशास्त्राध्ययनरूपेण ब्रह्मचारिधर्मेणापि तस्य न प्रयोजनमित्याह–**यस्येति** ॥ ८ ॥ स्नातकबहूदकधर्मेण तीर्थयात्रादिनाऽपिनार्थ इत्याह–**यस्य भस्म द्विजा** इति । तद्ब्रह्म स्वयं तु प्रत्यगिति संज्ञामात्रेण भेदभानं न स्वरूपेणेत्यर्थः ॥ ९ ॥ उक्ततत्तद्धर्मविरहेऽपि तत्तत्फलविरहोऽपि स्यादिति चेन्न । तस्य परशिवतया परमैश्वर्यत्वेनार्वाचीनेषु निःस्पृहता स्यादित्याह–**भस्मविज्ञानेति** ॥ १०–११ ॥ प्रागुक्तवेदार्थवैफल्यं कथमिति चेत्तस्य ज्ञानसाधनत्वाद्विदुषस्तत्साध्यज्ञानस्य सिद्धत्वादित्याह–**भस्मविज्ञानेति** । न केवलं वेदशास्त्रस्य व्यवहारो, देहयात्रानुपयुक्तो लौकिकव्यवहारोऽपि तस्य निष्प्रयोजन इत्याह–**केवलमिति** । आदेहान्तमामरणम् ॥ १२ ॥

पुराण आदि की उसके लिये कोई कीमत नहीं ॥ ८ ॥ प्रत्यगात्मरूप से जिसे सदा महाभस्म का भान रहता है उसे तीर्थ और शिवपूजा से क्या प्रयोजन ? ॥ ९ ॥ महाभस्म के अनुभव से संपन्न महायोगी सबसे श्रेष्ठ है । वही कृतकृत्य और मेधावी है । उसके बारे में क्या कहें ? वह तो साक्षात् शिव ही है ॥ १० ॥ महाभस्म के ज्ञानार्थ ही सनातन वेद प्रवृत्त हुए हैं । स्मृति, पुराण, महाभारतादि सब इसी प्रयोजन से निर्मित हुए हैं ॥ ११ ॥ महाभस्म के जानकार के लिये किसी तरह का कोई कर्तव्य नहीं बचता । देह छूटने तक केवल वह देहयात्रा कर लेता है । (देहयात्रा अर्थात् देहस्थिति के लिये आवश्यक अशन, शौचादि व्यवहार ।) ॥ १२ ॥

स्वल्पं भस्म द्विजश्रेष्ठा बहुधा परिकीर्तितम् ।
श्रौतमेकं तथा स्मार्तमपरं पण्डितोत्तमाः ॥ १३ ॥
श्रौतं भस्म द्विजा मुख्यं स्मार्तं गौणं प्रकीर्तितम् ।
अन्यच्चास्ति द्विजा भस्म लौकिकं केवलं परम् ॥ १४ ॥

महाभस्मोक्त्वा स्वल्पभस्मनो वैदिकस्मार्तलौकिकभेदेन विभागमाह–**स्वल्पं भस्मेत्यादिना** । श्रुतिविहितेनाऽऽधानेन संस्कृताग्नावग्निहोत्राद्यनुष्ठानेन यन्निष्पन्नं **तच्छ्रौतं** भस्म । तदेव हि लिङ्गपुराणे भस्मस्नानाङ्गत्वेनोक्तम्–'भस्मस्नानं पुनः कुर्याद्विधिवद्देहशुद्धये । शोध्य भस्म यथान्यायं पुराणेनाग्निहोत्रजम् ॥ ईशानेन शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु । उरोदेशमघोरेण गुह्यं वामेन सुव्रताः ॥ सद्येन पादौ सर्वाङ्गं प्रणवेनाभिषिञ्चयेत् । भस्मस्नानपरो विप्रो भस्मस्नायी जितेन्द्रियः ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । यद्यकार्यसहस्राणि कृत्वा वै स्नाति भस्मना ॥ तत्सर्वं दहते भस्म यथाऽग्निस्तेजसा वनम्' ॥ इति । कल्पानुकल्पोपकल्पाकल्पभेदेन भस्मनश्चातुर्विध्यमभिधाय तस्य मुख्यं कल्पत्वमस्यैवोक्तं सिद्धान्तशेखरे–'मूलेन शोधितं भस्म कल्पाख्यं परिकीर्तितम् । अग्निहोत्रसमुद्भूतमथवा भस्म कल्पकम्' ॥ इति ॥ बोधायनादिस्मृतिपुराणोक्तविधानेन संस्कृतं भस्म **स्मार्तम्** । यदाह बोधायनः–'सद्येन गोशकृद्ग्राह्यं वामात् पिण्डाभिमन्त्रणम् । अघोरेण दहेत्पिण्डं ग्राह्यं तत्पुरुषेण तु ॥ स्नानमीशानमन्त्रेण कुर्यान्मूर्धादिपादतः । आचम्य कूर्च आसीनः शिवो भूत्वा शिवं य[1]जेत्' ॥ इति । तथा शिवपुराणे– 'भस्मस्नानं तु कृत्वा तु विधिना पञ्चभिः क्रमात् । मन्त्रस्नानं पुनः कुर्यात्कृत्वाऽऽदौ वारुणं मुने ॥ प्रणवेन तु संशोध्य ततो हस्ततलं क्रमात् । गन्धादिभिश्च संमृज्य जपेदित्थं षडक्षरम् ॥ रुद्राग्नेर्यत्परं वीर्यं तद्भस्म परिकीर्तितम् । तस्मात्सर्वेषु लोकेषु वीर्यवान्भस्मसंयुतः ॥ भासकं भसितं चोक्तं भस्म कल्मषभक्षणात् । भूतिर्भूतिकरं पुंसां रक्षा रक्षाकरं परम्' । इति । तथा भवि[2]ष्यपुराणे–'यः स्नानमारभेन्नित्यमाग्नेयं संयतेन्द्रियः । कुलैकविंशमुत्तार्य स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः । भस्मस्नाननिषेवेण मुच्यते सर्वपातकैः' ॥ इति । श्रीमहाभारते–'आयुष्कामो नरो राजन्भूतिकामोऽथवा नरः । नित्यं वै धारयेद्भस्म मोक्षकामी च वै द्विजः' ॥ इति । कूर्मपुराणे–'ब्रह्मचारी मिताहारो भस्मनिष्ठः समाहितः । जपेदामरणं रुद्रं स याति परमां गतिम्' ॥ इति । शिवधर्मे–'भस्मस्नानं जलस्नानादसंख्येयगुणाधिकम् । तस्माद्वारुणमुत्सृज्य स्नानमाग्नेयमाचरेत् ॥ योऽश्नीयादन्नमस्नातः पापमत्ति च केवलम् । तस्मात् स्नात्वैव भुञ्जीत भस्मना सलिलेन च ॥ प्रातः स्नात्वाऽम्भसा गच्छेद्भस्मना च शिवं पदम् । पापकञ्चुकमुत्सृज्य कुलसप्तकमुद्धरेत् ॥ दुःशीलः शीलयुक्तो वा यो वा को वाऽथ लक्षितः । भूतिशासनसंयोगात्स पूज्यो राजपुत्रवत् ॥ वनस्पतिगते सोमे भस्मोद्धूलितदेहभृत् । अर्चितं शंकरं दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते' ॥ इति ॥ १३–१४ ॥

स्वल्प भस्म बहुत प्रकार की है । एक श्रौत है व अन्य स्मार्त (श्रुतिविहित अग्निहोत्र आदि से निष्पन्न भस्म श्रौत है । बौधायन आदि स्मृति व पुराणों में बताये ढंग से निर्मित स्मार्त है ।) ॥ १३ ॥ श्रौतभस्म मुख्य है और स्मार्त गौण है । इनसे भिन्न लौकिक भस्म भी होती है । (जो उक्त विधियों के अनुसार निर्मित नहीं होती है वह लौकिक भस्म है ।) ॥ १४ ॥ श्रौत व स्मार्त भस्म धारण करने

१ ख. ग. ङ. च. जपेत् । २ ख. घ. छ. ज. "ष्यत्पुरा" ।

श्रौतं भस्म तथा स्मार्तं द्विजानामेव कीर्तितम् ।
अन्येषामपि सर्वेषामपरं भस्म लौकिकम् ॥ १५ ॥
सर्वाङ्गोद्धूलनेनैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकैः ।
भस्म धार्यमिति प्रोक्तं द्विजानां मुनिपुंगवैः ॥ १६ ॥
धारणं मन्त्रतः प्रोक्तं द्विजानां मुनिपुंगवैः ।
केवलं धारणं विप्रा अन्येषामपि कीर्तितम् ॥ १७ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोपनिषद्गतैः । सप्तभिर्धूलनं कार्यं भस्मना सजलेन च ॥ १८ ॥
त्रियायुषेण मन्त्रेण द्विजास्तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । धार्यं प्रोक्तं द्विजश्रेष्ठा धार्मिकैर्वेदपारगैः ॥ १९ ॥

उक्तभस्मनोऽधिकारिविभागमाह–**श्रौतं भस्म तथेति** । श्रौतस्मार्तभस्मद्वयस्य वेदमन्त्रैककरणकत्वेन तत्र शूद्रादेरनधिकारात् ॥ १५–१७ ॥ **अग्निरित्यादिभिरिति** । 'अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । जलमिति भस्म । स्थलमिति भस्म । व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म । मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि' इत्येते च सप्त मन्त्रा यद्यप्यथर्वशिरस्यधीयन्ते तत्र विनियुज्यन्ते तथाऽपि जाबालोपनिषद्यपि विनियोग एतेषामस्तीति जाबालोपनिषद्गतैरित्युक्तम् । श्रूयते हि तत्रापि– 'अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्' इति ॥ १८ ॥ भस्मस्नानानन्तरं त्रिपुण्ड्रधारणमाह–**त्रियायुषेणेति** । स च मन्त्र एवम्–'त्रियायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रियायुषम् । अगस्त्यस्य त्रियायुषं यद्देवानां त्रियायुषम् । तन्मे अस्तु त्रियायुषम्' इति । त्रिपुण्ड्रधारणे[१] बृहज्जाबालश्रुतिः 'तथोपरि तिर्यक्त्रिपुण्ड्रं धारयेत्' इति । तथा लौगाक्षिः– 'मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्ललाटे भस्मना[२] कृतः । स त्रिपुण्ड्रो भवेच्छस्तो महापातकनाशनः ॥ त्रिपुण्ड्रं धारयेद्यस्तु शिवप्रणतमानसः । भूर्भुवःस्वस्त्रयो लोका धृतास्तेन महात्मना ॥ त्रिपुण्ड्रधृग्विप्रवरो यो रुद्राक्षधरः शुचिः । स हन्ति रोगदुरितव्याधिदुर्भिक्षतस्करान् ॥ स प्राप्नोति परं ब्रह्म यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । स पङ्क्तिपावनः श्राद्धेपूज्यो विप्रैः सुरैरपि ॥ श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने । धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः' ॥ इति । भविष्यें[३]त्पुराणे–'शिवाग्निकार्यं यः कृत्वा कुर्यात्त्रियायुषाऽऽत्मवित् । मुच्यते सर्वपापैस्तु स्पृष्टेन भवभस्मना ॥ सितेन भस्मना कुर्यात्त्रिसंध्यं[४] यस्त्रिपुण्ड्रकम् । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवेन सह मोदते' ॥ इति । कूर्मपुराणे–'सितेन भस्मना कुर्याल्लाटे तु त्रिपुण्ड्रकम् । योऽसावनादिर्भूतादिर्लोकात्मा स धृतो भवेत् । उपर्यधोभागयोगात्त्रिपुण्ड्रस्य तु धारणम्' ॥ इति । स्कन्दपुराणेऽपि–'शिरोललाटश्रुतिकण्ठबाहुरोमाभियुक्तानि षडङ्गुलानि । [५]स्थानेषु चैतेषु चतुर्ष्वपीह नक्षत्ररूपाणि सितानि विद्धि ॥ त्रियायुषं जमदग्नेरिति कुर्यात्त्रिपुण्ड्रकम् ॥

का अधिकार द्विजों को ही है । अन्य सबके लिये लौकिक भस्म है ॥ १५ ॥ द्विजों को चाहिये कि भस्म का दो प्रकार धारण करें–सारे शरीर में उद्धूलन तथा त्रिपुण्ड्र ॥ १६ ॥ भस्मधारण द्विजों को समंत्र करना उचित है तथा अन्यों को बिना मंत्र के धारण करना चाहिये ॥ १७ ॥ जल से मिश्रित भस्म से उद्धूलन

---

१ ग. ङ. च. छ. ज. "णे जावा" । २ घ. "नाऽङ्कितः । ३ ङ. च. "ष्यपुरा" । ४ घ. "र्याल्ललाटे तु त्रिपु" । ५ ख. ग. घ. युक्तेषु ।

मेधावीत्यादिना वाऽपि ब्रह्मचारी दिने दिने ।

भस्मना सजलेनैव धारयेच्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ २० ॥

त्रैयम्बकेण मन्त्रेण प्रणवेन शिवेन वा । गृहस्थश्च वनस्थश्च धारयेच्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ २१ ॥

ओंकारेण निरुक्तेन सहंसेन त्रिपुण्ड्रकम् । धारयेद्भिक्षुको नित्यमिति जाबालिकी श्रुतिः ॥ २२ ॥

ललाटे चैव [1]दोर्द्वंद्वे तथैवोरसि बुद्धिमान् । त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ २३ ॥

वर्णानामाश्रमाणां च मन्त्रतोऽमन्त्रतोऽपि च । त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं प्रोक्तं जाबालैरादरेण च ॥ २४ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानाङ्गत्वेन सादरम् । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठाः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ २५ ॥

अयमत्याश्रमो धर्मो यैः समाचरितो मुदा । तेषामेव शिवज्ञानं [2]संसारच्छेदकारणम् ॥ २६ ॥

अथर्वसूत्रमन्त्रेण कुर्यात्तत्पुरुषेण वा । वर्तुलेन भवेद् व्याधिर्दीर्घेणैव तपःक्षयः ॥ नेत्रयुग्मप्रमाणेन त्रिपुण्ड्रं धारयेद्बुधः' इति । शिवपुराणे–'अकृत्वा भस्मना स्नानं न जपेद्वै षडक्षरम् । त्रिपुण्ड्रं च लिखित्वा तु विधिना भस्मना जपेत् । अन्त्यजो वाऽधमो वाऽपि मूर्खो वा पतितोऽपि वा ॥ यस्मिन्देशे वसेन्नित्यं भूतिशासनसंयुतः । तस्मिन्सदाशिवः सोमः सर्वभूतगणावृतः ॥ सर्वतीर्थैश्च तीर्थज्ञैः सांनिध्यं कुरुते सदा । सर्वाङ्गोद्धूलनं चैव न तु कल्पं त्रिपुण्ड्रकैः ॥ त्रिपुण्ड्रसहितो विप्रः पूज्यः सर्वैः सुरासुरैः । यस्मिन्देशे शिवज्ञानी भूतिशासनसंयुतः ॥ गतो यदृच्छया वाऽपि तस्मिंस्तीर्थाः समागताः । बहुनाऽत्र किमुक्तेन संपूज्याः शिवयोगिनः ॥ लिङ्गार्चनं सदा कार्यं जप्यो मन्त्रः षडक्षरः' ॥ इति ॥ १९ ॥ आश्रमभेदेन विकल्पितान्मन्त्रभेदानाह– **मेधावीत्यादिनेति** ॥ २०–२५ ॥ श्वेताश्वतरशाखिन आमनन्तीत्युक्तं, ते यदामनन्ति तदाह–**अयमत्याश्रम** इति ॥ २६ ॥

करते हुए 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों का उच्चारण कर्तव्य है ॥ १८ ॥ द्विजों को 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मन्त्र से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये ॥ १९ ॥ ब्रह्मचारी 'मेधावी' इत्यादि मंत्रों से भी प्रतिदिन त्रिपुण्ड्र धारण कर सकता है ॥ २० ॥ गृहस्थ व वानप्रस्थ चाहें तो 'त्र्यम्बकम्' आदि मंत्र से या प्रणव से या शिवमंत्र से त्रिपुण्ड्र लगा सकते हैं ॥ २१ ॥ जाबालिकी श्रुति के अनुसार संन्यासी को ओङ्कार और हंस मंत्र से नित्य त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये ॥ २२ ॥ भोग व मोक्ष रूप फल देने वाला त्रिपुण्ड्र ललाट पर, भुजाओं पर व वक्ष पर लगाना चाहिये ॥ २३ ॥ वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले यदि मंत्रपूर्वक कभी न कर पायें तो मंत्र के विना ही कर लें किंतु त्रिपुण्ड्र और उद्धूलन करना अवश्य चाहिये ॥ २४ ॥ श्वेताश्वतर शाखा के अध्येताओं की मान्यता है कि त्रिपुण्ड्र तथा उद्धूलन ज्ञान का अंग है ॥ २५ ॥ सभी आश्रमों की सीमा लाँघ कर (अर्थात् सर्वसाधारण) विहित यह धर्म (भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण) जिनके द्वारा प्रेम से अनुष्ठित हो चुका है उन्हें ही संसार का छेदन करने वाला शिवात्मज्ञान प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

---

१ ख. दोर्दण्डे । २. ख. °सारोच्छे° ।

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मायापाशनिवृत्तये । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठा अथर्वशिरसि स्थिताः ॥ २७ ॥

तथाऽपि मायाविच्छेदो ज्ञानादेव तु केवलात् ।
अज्ञानस्य तु विज्ञानं बाधकं खलु नेतरत् ॥ २८ ॥

व्रतं पाशुपतं येन सम्यगाचरितं बुधाः ।
तस्य ज्ञानं विजायेत[1] तेन पाशविमोचनम् ॥ २९ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानाङ्गत्वेन केवलम् ।
आमनन्ति मुनिश्रेष्ठाः साक्षात्कैवल्यशाखिनः ॥ ३० ॥

अतोऽपि पाशविच्छेदलाभाय ज्ञानसिद्धये ।
उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मुमुक्षुः सम्यगाचरेत् ॥ ३१ ॥

अग्न्यादिभ्यः परा भूतिस्तया तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । धूलनं चाऽऽचरेदेव मुमुक्षुर्ज्ञानसिद्धये ॥ ३२ ॥

श्रुत्यन्तरेऽपि संवादमाह–**उद्धूलनमिति** ॥ २७ ॥ पाशनिवृत्तये चेदामनन्ति तर्हि ज्ञानाङ्गत्वेनाऽऽमनद्भिः सह विरोध इत्यत आह–**तथाऽपीति** । तत्र हेतुमाह–**ज्ञानादेवेति** । **केवलादिति** । न भस्मस्नानसहितादित्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह–**अज्ञानस्येति** । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुत्या मायानिवृत्तिरूपेऽमृतत्वे ज्ञानातिरिक्तसाधननिरासादित्यर्थः ॥ २८ ॥ तर्हि व्रतवैयर्थ्यमित्यत आह–**व्रतं पाशुपतमिति** । व्रतक्षपितकल्मषस्यैवोपनिषज्ज्ञानान्मायापाशस्य निवृत्तिरिति व्रतात्तन्निवृत्तिरित्युच्यते । एवं हि श्रूयते 'व्रतमेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय' इति । अथर्वशिरसि साक्षान्मायापाशनिवृत्तिहेतुत्वेन श्रुतमपि व्रतमौपनिषदज्ञानद्वारेणैव, न साक्षादिति न्यायादुक्तम् ॥ २९ ॥ न केवलं न्यायात्प्रत्यक्षश्रुतावप्येवमाम्नायत इत्याह–**साक्षात्कैवल्यशाखिन** इति ॥ ३० ॥ ज्ञानद्वारेण साधनतामुक्तामुपसंहरति–**अतोऽपीति** । अस्मिन्परम्परासाधनत्वेऽपीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ उद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोरुक्ते ज्ञानसाधनत्व उपपत्तिमाह–**अग्न्यादिभ्य** इति । अग्न्यम्बुपृथिवीलक्षणात्तत्त्वज्ञानसाधनाद्भूतत्रयादुत्पन्ना भूतिः । अतस्तया कृतमुद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानसाधनमित्यर्थः । भूतत्रयस्य च ज्ञानसाधनतोक्ता छन्दोगोपनिषदि–'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' इति ॥ ३२ ॥

अथर्वशिर के वचन कहते हैं कि उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र माया के पाशों को काटने में सहायक है ॥ २७ ॥ सहायता मिलने पर भी माया का नाश तो केवल ज्ञान से हो सकता है । अज्ञान रूप माया का बाध करने वाला शिवानुभव से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ २८ ॥ भस्मधारणप्रधान पाशुपतव्रत का जिन्होंने कायदे से पालन किया है उन्हें परम ज्ञान होता है और उससे पाशसमाप्ति होती है ॥ २९ ॥ कैवल्यशाखा वालों का भी कथन है कि उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र ज्ञान का अंग है ॥ ३० ॥ अतः मुमुक्षु को चाहिये कि पाशहानि के लिये व तत्साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिये भस्म से उद्धूलन करे और त्रिपुण्ड्र का धारण करे ॥ ३१ ॥ भस्म बनती है अग्नि, जल और पृथ्वी इन तीन महाभूतों से । ये तीनों परमात्मज्ञान के उपाय हैं क्योंकि छान्दोग्य में इन्हें ही ब्रह्म को समझने का लिंग बताया है । अतः भस्म से लगाया त्रिपुण्ड्र और उसी से किया उद्धूलन ज्ञान दिलाये यह संगत ही है ॥ ३२ ॥ प्रमादवश भी मोक्षार्थी को भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण कभी नहीं छोड़ना चाहिये । यह

१ ग. "त पशुपा" ।

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

प्रमादादपि मोक्षार्थी न त्यजेदिति हि श्रुतिः ॥ ३३ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

महापापविनाशाय विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३४ ॥

उद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोः कैवल्यसिद्धये कर्तव्यतोक्ता । अकरणे तदसिद्धिमाह–**भस्मनोद्धूलनमिति** । मुमुक्षोस्त्यागनिषेधादेव त्याग इष्यमाणमुक्तेरसिद्धिर्ज्ञायते । इत आरभ्याध्यायशेषेण भस्मोद्धूलनस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य च करणे याः सिद्धय उक्ता अकरणे च प्रत्यवायास्तत्सर्वं प्रपञ्चितं कालाग्निरुद्रोपनिषदि । अतः सा सर्वैवोदाह्रियते–'अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं[१] तत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति । तं होवाच भगवान्यद्द्रव्यं तदाग्नेयं[२] भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति [३]भस्मेत्यनेन[४] मन्त्रेणाभिमन्त्र्य मा नस्तोक इति समुद्धृत्य[५] जलेन संसिच्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षस्कन्धेष्विति त्रिभिस्त्रियायुषैस्त्रियम्बकैस्तिर्यक्तिस्रो[६] रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छांभवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं तत्समाचरेन्मुमुक्षुरपुनर्भवाय । अथ सनत्कुमारः प्रमाणमस्य त्रिधा याऽऽललाटादा चक्षुषश्चाऽऽभ्रुवोर्मध्यतो याऽस्य प्रथमा रेखा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकश्चाऽऽत्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः[७] प्रातः सवनं महेश्वरो [८]देवतेति । याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं सदाशिवो देवतेति । याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदः सायंदिनं सवनं महादेवो देवतेति । यस्त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स समस्तमहापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स संततं सर्वरुद्रजापी भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सकलभोगभुग्देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान्कालाग्निरुद्रः । यस्त्वेतदधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत्' इति ॥ ३३-६३ ॥

वेदाज्ञा है ॥ ३३ ॥ भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण से महापाप निवृत्त होते हैं, ऐसा श्रौत विधान है ॥ ३४ ॥ उक्त उभयविध भस्मधारण का विधान इसलिये है कि उससे प्राणियों की रक्षा होती

---

१ ग. °धिं किं त° । २ ङ. च. छ. ज. °ग्नेयमग्नेयं । ३ छ. °त्यभि° । ४ घ. ङ. °नेन चाभि° । ५ ख. ग. घ. च. छ. °त्य त्रि° । ६ छ. °षैरिति त्र्यम्ब° । ७ ख. घ. ङ. °श्चाऽऽत्मकि° । ८ ग. घ. च. छ. ज. °वता याऽ° ।

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

रक्षार्थं सर्वजन्तूनां विधत्ते वैदिकी श्रुति ॥ ३५ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

मङ्गलार्थं च सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३६ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

पवित्रार्थं च सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३७ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

माहेश्वराणां लिङ्गार्थं विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३८ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

लिङ्गार्थं चैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३९ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । स्नानत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४० ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

व्रतत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४१ ॥

है ॥ ३५ ॥ उद्धूलन करने व त्रिपुण्ड्र लगाने से सबका मंगल होता है, अतः श्रुति ने उनकी विधि की है ॥ ३६ ॥ भस्म लगाने से सब पवित्र हो जाते हैं, इसलिये वेद ने सबके लिये उसे लगाने की आज्ञा दी है ॥ ३७ ॥ उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र इस बात का चिह्न है कि व्यक्ति महेश्वर का भक्त है, अतः श्रुति ने उन्हें कर्तव्य कहा है ॥ ३८ ॥ सभी परमेश्वरभक्तों का चिह्न उद्धूलन व त्रिपुण्ड्र है अतः उनका श्रुति ने विधान किया है ॥ ३९ ॥ इन दोनों का विधान स्नानरूप से, व्रतरूप से, दानरूप से, तपरूप से, यज्ञरूप से, किम्बहुना ! सभी धर्मों के रूप से सब लोगों के लिए श्रुति ने कर दिया है ॥ ४०–४५ ॥ शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इंद्र तथा अन्य देवताओं द्वारा त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन दोनों प्रकारों से भस्म का धारण किया जाता है ॥ ४६ ॥ उमा, लक्ष्मी, सरस्वती तथा अन्य दिव्य स्त्रियों द्वारा भी भस्म का उभयथा धारण

भस्मनोद्‌धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

दानत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४२ ॥

भस्मनोद्‌धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

तपस्त्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४३ ॥

भस्मनोद्‌धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

यज्ञत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४४ ॥

भस्मनोद्‌धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

सर्वधर्मत्या पुंसां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः[1] ॥ ४५ ॥

शिवेन विष्णुना चैव ब्रह्मणा वज्रिणा तथा ।

देवताभिर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्‌धूलनात्मना ॥ ४६ ॥

उमादेव्या च लक्ष्म्या च वाचा चान्याभिरास्तिकाः ।

सर्वस्त्रीभिर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्‌धूलनात्मना ॥ ४७ ॥

यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धविद्याधरादिभिः । मुनिभिश्च धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्‌धूलनात्मना ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरपि च संकरैः । अपभ्रंशैर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्‌धूलनात्मना ॥ ४९ ॥

उद्‌धूलनं त्रिपुण्ड्रं च यैः समाचरितं मुदा ।

त एव शिष्टा विद्वांसो नेतरे मुनिपुंगवाः ॥ ५० ॥

किया जाता है ॥ ४७ ॥ यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध विद्याधर आदि अमानुषों द्वारा तथा मुनियों द्वारा भी दोनों तरह से भस्मधारण किया जाता है ॥ ४८ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संकर तथा पतितों द्वारा भी उद्धूलन एवं त्रिपुण्ड्रधारण किया जाता है ॥ ४९ ॥ उद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण जो करते हैं उन्हें ही शिष्ट और विद्वान् समझना चाहिये, अन्यों को नहीं ॥ ५० ॥ जो श्रद्धापूर्वक इन दोनों का अनुष्ठान नहीं

---

१ एतदग्रे 'भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । मोक्षधर्मतया पुंसो विधत्ते वैदिकी श्रुतिः' इत्यधिकं कुत्रचिद् दृश्यते ।

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ५१ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति शिवज्ञानं कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५२ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥ ५३ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रस्य निर्णयः ॥ ५४ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तैः समाचरितं सर्वं विपरीतफलाय हि ॥ ५५ ॥

महापातकयुक्तानां जन्तूनां पूर्वजन्मसु । त्रिपुण्ड्रोद्धूलनद्वेषो जायते सुदृढं बुधाः ॥ ५६ ॥

त्रिपुण्ड्रोद्धूलने श्रद्धा येषां नैवोपजायते । उपपातकदोषेण दुष्टास्ते नात्र संशयः ॥ ५७ ॥

त्रिपुण्ड्रोद्धूलनादौ न दर्शने श्रवणेऽपि च ।

वाञ्छा न जायते येषां ते महापापसंयुताः ॥ ५८ ॥

येषां क्रोधो भवेद्भस्मधारणे तत्प्रमाणके ।

ते महापातकैर्युक्ता इति मे निश्चिता मतिः ॥ ५९ ॥

करते उन्हें करोड़ों जन्मों में भी संसारबंधन से मोक्ष नहीं मिल सकता ॥ ५१ ॥ करोड़ों कल्पों में भी उन्हें शिवज्ञान प्राप्त होना असंभव है जो प्रेमपूर्वक उद्धूलन व त्रिपुण्ड्रधारण नहीं करते ॥ ५२ ॥ जो उक्त विधया भस्म नहीं लगाते उनका आचरण वर्णाश्रम धर्म के अनुसार नहीं है ॥ ५३ ॥ शास्त्र का यह निर्णय है कि श्रद्धा से भस्मधारण न करने वाले महापाप से युक्त हैं ॥ ५४ ॥ भस्म न लगाने वालों द्वारा जो कुछ किया जाता है सब विपरीत फल वाला ही होता है ॥ ५५ ॥ पूर्वजन्मों में जो लोग महापापी होते हैं उन्हें इस जन्म में भी त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन से घोर द्वेष होता है ॥ ५६ ॥ जिन्हें त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन

भस्मधारणमाहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।

गुरुणा चापि मे विप्राः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ६० ॥

ब्रह्मणा विष्णु चापि रुद्रेणापि मुनीश्वराः ।

भस्मधारणमाहात्म्यं न शक्यं परिभाषितुम्[१] ॥ ६१ ॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं मुनीन्द्रा ब्रह्मवादिनः ।

ये नरा भस्म संत्यज्य कुर्वन्त्यन्यत्समीहितम् ॥ ६२ ॥

अतिरहस्यमिदं मुनिपुंगवाः कथितमेव समस्तजगद्धितम् ।

यदि समाचरितं मनुजैर्मुदा सफलमेव हि जन्म न संशयः ॥ ६३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भस्मधारणवैभवं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भस्मधारणवैभवं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

में श्रद्धा नहीं हो पाती, वे निश्चय ही उपपातकों से युक्त हैं ॥ ५७ ॥ त्रिपुण्ड्र आदि धारण करने की, किसी त्रिपुण्ड्रधारी को देखने की या उसके विषय में सुनने की भी जिन्हें इच्छा नहीं होती वे महापापी हैं ॥ ५८ ॥ यह मेरा निश्चय है कि भस्मधारण से या तदर्थ प्रमाण सुनने से जिन्हें क्रोध होता है वे महापापी हैं ॥ ५९ ॥ भस्मधारण का पूरा माहात्म्य मैं या मेरे गुरु व्यासदेव भी अनंतकाल में भी नहीं बता सकते ॥ ६० ॥ ब्रह्मा, विष्णु या रुद्र भी भस्मधारण के वैभव की इयत्ता बताने में अक्षम हैं ॥ ६१ ॥ हे मुनीश्वरो ! यह अविवेक का ही प्रताप है कि लोग भस्म छोड़कर अन्य यथेच्छ वस्तुओं को धारण करते हैं ॥ ६२ ॥ यह अत्यंत रहस्य का विषय मैंने आप लोगों को बताया है । यदि उद्धूलन या त्रिपुण्ड्रधारण कर लिया जाये तभी निःसंशय जन्म सफल है ॥ ६३ ॥

---

१ माहात्म्यस्येयत्तां वक्तुमशक्तास्तदभावादेवेत्यर्थः ।

एकत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवप्रीतिकरं मुदा ।
श्रद्धया सह विप्रेन्द्राः शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥
जीवब्रह्मैक्यविज्ञानं विशुद्धं वेदसंभवम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ २ ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानं यत्तद्वेदान्तवाक्यजम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ३ ॥
साम्बमूर्तिधरस्यास्य शिवस्य ध्यानमास्तिकाः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ४ ॥
नृत्यमानस्य देवस्य ध्यानं यत्तद् द्विजोत्तमाः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ५ ॥
शिवशंकररुद्रादिशब्दाभ्यासश्च सादरम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ६ ॥
शिवभक्तिश्च विप्रेन्द्रा गुरुभक्तिस्तथैव च । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरी सदा ॥ ७ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु विश्वासो यः स आस्तिकाः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ८ ॥
अध्यापनं चाध्ययनं वेदवेदान्तयोरपि[1] । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ९ ॥
वेदवेदान्तवाक्यानां तात्पर्यस्य निरूपणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १० ॥
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनाचारो जाबालोक्तेन वर्त्मना । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ११ ॥

भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रधारणवद्यदन्यच्छिवप्रीतिकरं तद्वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति ॥ १ ॥ **जीवब्रह्मेति** । तन्द्वि शिवपूजाभेदानां मध्य उत्तमा निराधारा पूजेति पूर्वमुक्तम् । निगदव्याख्यानमन्यत् ॥ २–३४ ॥

जीवब्रह्मैक्य-निरूपण नामक इकतीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा–अब मैं वह बताऊँगा जो शिव को अत्यंत प्रसन्न करता है । श्रद्धापूर्वक आप लोग इस शुभ विषय को सुनिये ॥ १ ॥ जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव, जो बिना किसी प्रकार वाला है और वेदश्रवण से उत्पन्न होता है, देवाधिदेव को सदा अत्यंत प्रसन्न करता है ॥ २ ॥ वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न यह अनुभव कि सब ब्रह्म है, महादेव को अत्यधिक प्रसन्न करता है ॥ ३ ॥ अर्धनारीश्वर रूप धरने वाले शिव का ध्यान उन्हें बहुत प्रसन्न करता है ॥ ४ ॥ नृत्य करते हुए नटराज का ध्यान करना महादेव की प्रसन्नता का अचूक उपाय है ॥ ५ ॥ शिव, शंकर, रुद्र आदि शब्दों का पुनः पुनः उच्चारण शिव की प्रसन्नता का हेतु है ॥ ६ ॥ शिवभक्ति व गुरुभक्ति से महादेव अवश्य प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥ श्रुति, स्मृति व पुराणों में विश्वास रखने से शिव प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥ वेद तथा वेदान्तों को पढ़ाना व पढ़ना भी महादेव को प्रसन्न करने का उत्तम उपाय है ॥ ९ ॥ वेद व वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निरूपण करना (स्वयं तात्पर्य समझना और अन्यों को उसे समझाना) शिवप्रीति का हेतु होता है ॥ १० ॥ जाबालोपनिषत् में बताये ढंग से त्रिपुण्ड्र लगाना व उद्धूलन करना महादेव को प्रसन्न करता है ॥ ११ ॥ कण्ठ, सिर या हाथ में (भुजा में) रुद्राक्षधारण करना शिव की प्रसन्नता का कारण

---

१ वेदात्पृथग्वेदान्तोक्तिः पाराशर्यसूत्रप्रकरणादिग्रन्थपरा ।

कण्ठे शिरसि वा हस्ते रुद्राक्षाणां च धारणम् ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १२ ॥

लिङ्गे शिवार्चनं नित्यं वेदोक्तेनैव वर्त्मना ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १३ ॥

वाराणस्यादिके स्थाने यात्राकरणमादरात् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १४ ॥

शान्तिदान्त्यादिसंपत्तिर्मुमुक्षुत्वं मुनीश्वराः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १५ ॥

नित्यानित्यार्थविज्ञानं वैराग्यं सुदृढं तथा । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १६ ॥

यज्ञदानतपःकर्मनिष्ठा चाऽऽश्रमरक्षणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १७ ॥

स्वजातिविहिताचारस्तथाऽन्याचारवर्जनम् ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १८ ॥

निषिद्धकर्मणां त्यागो दुर्वृत्तानामुपेक्षणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १९ ॥

दया सर्वेषु भूतेषु मार्गदूषणवर्जनम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ २० ॥

है ॥ १२ ॥ शिवलिंग में प्रतिदिन शिवपूजा करना महेश्वर को सदा प्रिय है ॥ १३ ॥ वाराणसी आदि शिवस्थानों की यात्रा करना (तथा वहाँ अंतर्ग्रही आदि यात्रा करना) शिव को प्रसन्न करता है ॥ १४ ॥ शम, दम आदि षट्सम्पत्ति व मुमुक्षा होने से शिव बहुत प्रसन्न होते हैं ॥ १५ ॥ नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक और वैराग्य हो तो शिव की प्रसन्नता का क्या ठिकाना ॥ १६ ॥ यज्ञ, दान, तप व शास्त्रीय कर्मों में निष्ठा एवं आश्रमधर्मों का पालन परमेश्वर की प्रीति का उपाय है ॥ १७ ॥ अपने वर्ण के लिये विहित आचार करना व अन्य आचार न करना शिव को प्रसन्न करता है ॥ १८ ॥ निषिद्ध कर्मों का त्याग और दुश्चरित्र लोगों की उपेक्षा महेश्वर को प्रिय है ॥ १९ ॥ सब प्राणियों पर दया करना तथा किसी भी मार्ग को दूषित न करना (लांछित न करना या मिथ्योपदेश, गलत आचार आदि द्वारा दोषयुक्त न बनाना) भगवान् शंकर को प्रसन्न करता है ॥ २० ॥ ब्राह्मणों की व विशेषतः शिवतत्त्व के ज्ञाताओं

द्विजानामपि शुश्रूषा ज्ञानिनां च विशेषतः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरी सदा ॥ २१ ॥
शिवज्ञानैकनिष्ठस्य गुरोः शुश्रूषणं सदा ।
शिवप्रीतिकराणां तु विशिष्टं नात्र संशयः ॥ २२ ॥
पुरा काचित्कुलालस्त्री बभूवातीव सुन्दरी ।
सा सहस्रत्रयं हत्वा विप्राणामर्थवाञ्छया ॥ २३ ॥
महाधनवती भूत्वा मायया परिमोहिता ।
यथेष्टं भूतले विप्रा चचार परिगर्विता ॥ २४ ॥
कश्चिद्विज्ञानसंपन्नो महायोगी सुनिश्चलः ।
श्रीमद्दक्षिणकैलासं शिवस्थानोत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥
वर्तितुं श्रद्धयाऽगच्छद्विदित्वा देशवैभवम् ।
तं दृष्ट्वा सा स्वभोगार्थं प्रणिपत्य तपस्विनम् ॥ २६ ॥
परिगृह्यातिसंतुष्टा गृहे स्वीये विचक्षणा ।
स्नाप्य वस्त्रादिकं दत्त्वा भोजयित्वाऽनुमोदितः(ता) ॥ २७ ॥
चन्दनाद्यैरलंकृत्य दत्त्वा ताम्बूलपूर्वकम् । समाश्वास्य महात्मानं प्रियं भुक्तवती द्विजाः ॥ २८ ॥
सोऽपि विज्ञानसंपन्नो महायोगी निराकुलः । अतीव प्रीतिमापन्नस्तया सह मुनीश्वराः ॥ २९ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासे शिवस्थानोत्तमोत्तमे । [1]अवर्तत चिरं कालमतीव प्रीतिसंयुतः ॥ ३० ॥
देवदेवो महाप्रीतस्तया शुश्रूषया द्विजाः । तस्यै परमकैवल्यं ददौ विज्ञानपूर्वकम् ॥ ३१ ॥
बहवो ज्ञाननिष्ठस्य शुश्रूषाबलतो द्विजाः । शिवप्रीतिमवाप्याऽऽशु विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ३२ ॥

की सेवा करने से महादेव प्रसन्न होते हैं ॥ २१ ॥ केवल शिवज्ञान में निष्ठा वाले गुरु की सदा तत्परता से सेवा करने से शिव प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥

प्राचीन काल में एक कुम्हार जाति की अत्यन्त सुन्दर स्त्री थी । धन लोभ से उसने तीन हजार ब्राह्मणों का वध कर दिया ॥ २३ ॥ उनका धन हरण कर वह बहुत धनवती हो गयी । गर्व से मत्त हुए यह अविवेकपूर्ण आचरण करने लगी ॥ २४ ॥ एक बार कोई शिवज्ञानी योगी दक्षिणकैलास पहुँचा ॥ २५ ॥ उस स्थान की महत्ता की जानकारी पा वह वहीं रहने की दृष्टि से गया था । उसे देख उस स्त्री ने उससे भोग की इच्छा से उसे प्रणाम कर व अनुकूल कर अपने घर लाकर रखा । अति संतुष्ट हो उसने तपस्वी को स्नान कराया, वस्त्र दिये व भोजन कराया ॥ २६–२७ ॥ चंदनादि से उसे सज्जित किया व ताम्बूल निवेदित किया । यों उसे प्रसन्न कर उससे भोग किया ॥ २८ ॥ उस महायोगी को भी उस स्त्री से बड़ा सुख मिला । अतः वह उसके साथ ही दीर्घकाल तक उस स्थान में रहा ॥ २९–३०॥ महादेव यह देख बहुत प्रसन्न हुए कि उस स्त्री ने शिवज्ञानी की प्रचुर सेवा की है, अतः उन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक उसे कैवल्य प्रदान किया ॥ ३१ ॥

---

१ ग. ङ. आवर्तत ।

अतः उक्तेषु सर्वेषु शुश्रूषा शिवयोगिनः । शिवप्रीतिकरी साक्षादिति वेदार्थसंग्रहः ॥ ३३ ॥

अतः शिवप्रीतिकरं विचार्य द्विजोत्तमा वेदविदां वरिष्ठाः ।

मदुक्तमार्गेण शिवप्रियेण सदाशिवप्रीतिकरं कुरुध्वम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे जीवब्रह्मैक्यनिरूपणं[1] नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथ वक्ष्ये महादेवश्रद्धाभावस्य कारणम् ।

मनुष्याणां मुनिश्रेष्ठाः शृणुत श्रद्धया सह ॥ १ ॥

पुरा कालविपाकेन प्राणिकर्मवशेन च । पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः ॥ २ ॥

अनावृष्ट्या द्विजा भूमिर्दुर्भिक्षाऽभवदास्तिकाः । क्षुत्पीडा च महातीव्रा विजाता सर्वदेहिनाम् ॥ ३ ॥

मनुष्याश्चासमाचारा अभवन्नन्नवाञ्छया । हत्वा केचिन्मनुष्यांश्च भुक्तवन्तो विमोहिताः ॥ ४ ॥

हत्वा केचित्पशून्मोहादजान्केचन मोहिताः । तुरंगांश्च गजान्केचिद्भुक्तवन्तो यथाबलम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणाः [2]केचिदालोड्य विशिष्टा मुनिसत्तमाः । गौतमस्याऽऽश्रमं पुण्यं ययुः सर्वे महत्तरम् ॥ ६ ॥

गौतमस्य तपोयोगात्प्रसादाच्छंकरस्य च । आश्रमस्तस्य विप्रेन्द्राः सुभिक्षस्त्वभवद् भृशम् ॥ ७ ॥

ते संभूय मुनिश्रेष्ठं गौतमं प्रणिपत्य च । प्रोचुः क्लेशेन संयुक्ता द्विजाः कारुणिकं प्रति ॥ ८ ॥

वयं क्षुत्पीडिताः सर्वे भगवन्भववल्लभ । केवलं कृपयैवास्मान्रक्ष रक्ष हिते रत ॥ ९ ॥

इति श्रीस्कान्दपुराणे श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे जीवब्रह्मैक्यनिरूपणं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

श्रद्धाविरोधिनस्तदभावस्य कारणं हेयतया ज्ञातव्यमिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–अथ वक्ष्य इति ॥ १ ॥ श्रेयोर्थिनामपि पुरुषाणां सकलश्रेयोहेतुभूतायाः श्रद्धाया अभावे गौतमशापः कारणमिति वक्तुमितिहासमारभते–पुरा कालेति ॥ २–४७ ॥

अन्य भी बहुतेरे लोग ज्ञानी महात्माओं की सेवा के बल पर शिवकृपा पाकर भवबंधन से मुक्त हुए हैं ॥ ३२ ॥ अतः उक्त सब साधनों में शिवयोगी की शुश्रूषा शिव की प्रसन्नता का साक्षात् साधन है, यह संक्षेप समझना चाहिये ॥ ३३ ॥ इस प्रकार शिवप्रसन्नता के उपायों का विचार कर मेरे कहे तरीके से सदा वैसा आचरण करें जिससे शिव प्रसन्न हों । आप सब उत्तम ब्राह्मण हैं तथा वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं । अतः इस ओर उपेक्षा नहीं करेंगे, यह निश्चित है ॥ ३४ ॥

भक्ति न होने के कारण का निरूपण नामक बत्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं वह कारण बताता हूँ जिससे मनुष्यों में महादेव के प्रति श्रद्धा नहीं होती ॥ १ ॥

प्राचीन काल में एक बार प्राणिकर्मों के अनुसार दुर्दैववश बारह वर्ष तक वृष्टि नहीं हुई ॥ २ ॥ अकाल के कारण सर्वत्र दुर्भिक्ष हो गया । सभी लोगों को भूख की घोर पीड़ा सताने लगी ॥ ३ ॥ अन्न के लिये मनुष्य दुराचार में भी प्रवृत्त होने लगे । कुछ लोग मनुष्यों को ही मार कर खा जाते थे ॥ ४ ॥ कुछ लोग भूख मिटाने के लिये बकरे, घोड़े, हाथी आदि पशुओं को खाने लगे ॥ ५ ॥ कुछ विशिष्ट ब्राह्मणों ने गौतम महर्षि के पुण्य आश्रम की ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥ गौतम के तप के और महादेव की कृपा के बल से उस आश्रम में समग्र सुभिक्ष था, अकाल का कोई प्रभाव न था ॥ ७ ॥ उन सबने मिलकर गौतम को प्रणाम किया और उन करुणावान् मुनि से दुःखपूर्वक निवेदन किया–॥ ८ ॥ 'हे भगवन् ! हे शिव-प्रिय ! हम लोग भूख से पीडित हैं । कृपा कर हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ९ ॥ गौतम ने यह करुण प्रार्थना सुन उन सबको

---

१ शिवप्रीतिकरनिरूपणमिति वक्तव्यम् । २ ख. ०लोक्य वि० ।

इति विज्ञापितः श्रीमान्महाकारुणिकोत्तमः ।

गौतमः सर्वविप्राणामभयं दत्तवान्प्रभुः ॥ १० ॥

पुत्रभार्यादियुक्तानां विप्राणां गौतमो मुनिः ।

ददौ धान्यं धनं वस्त्रं तिलं तैलं च गामपि ॥ ११ ॥

अन्यानि यानि जन्तूनामिष्टानि सकलानि तु । तानि तेषां मुनिः श्रीमान्ददौ कारुणिकोत्तमः ॥ १२ ॥

आधिव्याध्यस्त्रशस्त्रादिपीडाश्च विविधा द्विजाः । निवारिता मुनीन्द्रेण गौतमेन [1] द्विजन्मनाम् ॥ १३ ॥

श्रौतस्मार्तसमाचारा उपदिष्टा द्विजन्मनाम् । गौतमेन मुनीन्द्रेण मुनीन्द्राः करुणाबलात् ॥ १४ ॥

एवं चिरगते काले गौतमस्य महात्मनः । तपसा केवलं भूमिः सुभिक्षाऽऽभवदास्तिकाः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणैश्च पुनः सर्वैर्गौतमेन सुरक्षितैः । विचार्य कार्यं संभूय स्वदेशगमनाय वै ॥ १६ ॥

गौर्हता गौतमेनेति निर्घृणैः पुरुषाधमैः । कृतो मिथ्याभिशापस्तु महामोहवशेन तु [2] ॥ १७ ॥

तज्ज्ञात्वा मुनिभिः श्रीमान्गौतमो मुनिसत्तमः । महाक्रोधेन संयुक्तः शशाप ब्राह्मणाधमान् ॥ १८ ॥

गौतम उवाच–महादेवस्वरूपे च महादेवस्य विग्रहे । महादेवस्य भक्तौ च महादेवस्य नाम्नि च ॥ १९ ॥

महादेवस्य विज्ञाने महादेवपरिग्रहे । महादेवस्य च स्थाने महादेवस्य कीर्तिषु ॥ २० ॥

तुरंत अभयदान दिया तथा सपरिवार सबके लिये धन, धान्य, वस्त्र, तिल, तेल गायें तथा अन्य आवश्यक सभी वस्तुएँ सुलभ करायीं ॥ १०–१२ ॥ उन सबकी मानसिक व शारीरिक सभी पीडायें गौतम ने दूर कर दीं ॥ १३ ॥ श्रुतिस्मृति-सम्मत आचारों का उन्हें उपदेश भी दिया ॥ १४ ॥ यों लम्बा समय व्यतीत हुआ और महात्मा गौतम के ही तप के प्रभाव से सर्वत्र सुभिक्ष हुआ ॥ १५ ॥ तब ब्राह्मणों ने अपने-अपने स्थानों को लौटने का विचार किया । (गौतम सदा अपना उपकार न जताते रहें ऐसा सोचकर) उन नीच पुरुषों ने गौतम पर मिथ्या ही आरोप लगाया कि उन्होंने गोहत्या कर दी है । (अतः यहाँ रहना अनुचित होने से वे उस स्थान को छोड़ रहे हैं, ऐसा कहने से गौतम लज्जित बने रहेंगे, यह उनका अभिप्राय था ।) ॥ १६–१७ ॥ किंतु गौतम को यह पता चल गया कि ब्राह्मणों ने उनसे कपट किया है । अतः क्रोधपूर्वक उन्होंने उन नीच ब्राह्मणों को शाप दिया – ॥ १८ ॥ गौतम ने कहा–महादेव के स्वरूप में, उनकी मूर्ति में, उनकी भक्ति में, उनके नाम में, उनेक ज्ञान में, उनके आयुधादि में, उनके स्थानों में, उनकी भक्ति में, उनकी कीर्ति में,

---

१ ङ. द्विजन्मना । २ कोटिरुद्रसंहितायां त्र्यम्बकेश्वरमाहात्म्ये विस्तरो द्रष्टव्यः तत्र परं मुनिना क्रोधो नाकारीति विशेषः । ३ घ. वमहादेवम॰ ।

महादेवाय दाने च महादेवाश्रयेषु च । महादेवस्य चोत्कर्षे त्रिपुण्ड्रोद्धूलनादिषु ॥ २१ ॥

रुद्राक्षधारणे रुद्रलिङ्गस्यैव तु पूजने । रुद्रालयदिदृक्षायां रुद्रयात्रादिकर्मसु ॥ २२ ॥

यद्यत्तु रुद्रसंबन्धि तत्र तत्रापि दुर्जनाः । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २३ ॥

नित्यकर्माद्यनुष्ठाने तथा काम्यविवर्जने । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २४ ॥

शान्तिदान्त्यादिविज्ञानसाधनेषु द्विजाधमाः । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २५ ॥

स्वाध्याये च जपे चैव तथा प्रवचनेऽपि च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमा ॥ २६ ॥

नानाविधेषु दानेषु यज्ञेषु विविधेषु च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २७ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादौ च तथा मासोपवासके । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २८ ॥

वेदभक्तौ तथाऽऽस्तिक्ये योगाङ्गेषु यमादिषु । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २९ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तेष्वर्थेषु सकलेषु च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ ३० ॥

स्वदारगमने चैव परदारविवर्जने । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ ३१ ॥

विष्ण्वादिदेवताः सर्वा विशिष्टाः शंकरादिति । भ्रान्तिविज्ञानसंपन्ना भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३२ ॥

उनके निमित्त दान में, उनके मंदिरों में, उनके उत्कर्ष में, त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन आदि में, रुद्राक्षधारण में, रुद्र के लिंग के पूजन में, रुद्रमंदिर देखने की इच्छा में, रुद्रयात्रा आदि कर्मों में (उत्सवों में), किम्बहुना ! जो कुछ भी रुद्र-सम्बन्धी है उस सबमें तुम लोग कभी उन्मुख न होवो ॥ १९–२३ ॥ हे अधम ब्राह्मणो ! तुम्हें कभी नित्यादि आवश्यक कर्म करने की प्रेरणा न मिले और काम्यकर्मों का परित्याग तुम कभी न कर पाओ ॥ २४ ॥ तुम्हारी उन्मुखता शम, दम आदि ज्ञान साधनों की ओर कभी न हो ॥ २५ ॥ स्वाध्यायाध्ययन, जप और अध्यापन से तुम सब सदा विमुख रहो ॥ २६ ॥ नाना प्रकार के दानों का और विविध यज्ञों का तुम कभी अनुष्ठान न कर पाओ ॥ २७ ॥ कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तथा अन्य मासिक उपवासों के आचरण की ओर तुम्हे प्रेरणा न मिले ॥ २८ ॥ वेद में प्रेम, आस्तिकता और योगांगों से तुम विमुख बने रहो ॥ २९ ॥ श्रुति स्मृति व पुराणों में प्रतिपादित सभी अर्थों से (कार्य व ज्ञेय अर्थों से) तुम विमुख रहो ॥ ३० ॥ तुम ऋतुकालिक स्वदारगमन के प्रति उदासीन हो जाओ और यह भूल जाओ कि परदारगमन नहीं करना चाहिये । ३१ ॥ हे अधम ब्राह्मणो ! तुम्हे यह भ्रमनिश्चय हो जाये कि विष्णु आदि देवता शंकर से श्रेष्ठ हैं ॥ ३२ ॥ तुम लोग श्रद्धापूर्वक शंख, चक्र, गदा, पद्म, दण्ड, पाश, अंकुश आदि चिह्नों से अपना अंकन (दागना) कराओ । (अंकन शास्त्रनिषिद्ध कर्म है । उक्त आदि चिह्नों से देह को दगवाना नहीं चाहिये) ॥ ३३ ॥ तुम लोग प्रेम से स्वयं ही हीन जाति के नामों से अपनी प्रसिद्धि

शङ्खचक्रगदापद्मदण्डपाशाङ्कुशादिभिः । अङ्किताः श्रद्धया यूयं [1] भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३३ ॥

विहीनजातिनाम्ना तु रूपेण च तथैव च । अङ्किताः श्रद्धया यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३४ ॥

वर्तुलाश्वत्थपत्रार्धचन्द्रदीपादिलिङ्गिनः । भवत श्रद्धया सार्धं ललाटे ब्राह्मणाधमाः ॥ ३५ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृभार्याविक्रयिणः सदा । बन्धुविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३६ ॥

वेदविक्रयिणस्तद्वत्तीर्थविक्रयिणस्तथा । धर्मविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३७ ॥

सुराविक्रयिणस्तद्वन्मांसविक्रयिणस्तथा । मत्स्यविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३८ ॥

पाञ्चरात्रे च कापाले तथा कालामुखेऽपि च । शाक्ते (क्ये) च दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३९ ॥

बौद्धे चार्हन्मते चैव तथा पाशुपतेऽपि च । शांभवे दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ४० ॥

पाषण्डेषु तथाऽन्येषु मार्गेष्वश्रौतकेषु च । श्रद्धया दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ४१ ॥

युष्मांक वंशजाताश्च सर्वे स्त्रीभिः सह द्विजाः । मदुक्तार्थप्रकारेण भवन्तु ब्राह्मणाधमाः ॥ ४२ ॥

बहुनोक्तेन किं साक्षाच्छिवे संसारमोचके । तत्संबन्धिषु सर्वेषु श्रुतिस्मृत्यादिकेषु च ॥ ४३ ॥

युष्माकं वंशजातानां युष्माकं च तथैव च । श्रद्धाभावः सदैवास्तु शापस्तीव्रः कृतो मया ॥ ४४ ॥

कराओ और वैसा रूप धारण करो जैसा नीच जाति वाले किया करते हैं ॥ ३४ ॥ ललाट पर त्रिपुण्ड्र की जगह गोल, पीपल के पत्ते, अर्धचन्द्र, दीपक आदि आकार के चिह्न लगाने वाले बनो ॥ ३५ ॥ पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी तथा बन्धुओं को बेचने वाले तुम लोग हो जाओ ॥ ३६ ॥ वेद, तीर्थ और धर्म बेचना तुम्हारा कार्य हो जाये । (धनलोभ से अनधिकारी को वेद सिखाना, अशुद्धादि निषिद्ध स्थान में दक्षिणार्थ वेदोच्चारण करना आदि वेद बेचना है । पैसे के लोभ से तीर्थ की मर्यादा भंग करना या करने देना, तीर्थ स्थल को ही बेच देना, वहाँ दुकान आदि खोल देना इत्यादि तीर्थविक्रय हैं । धन-लोभ से धर्मपरिवर्तन कर लेना, अपने व्रत छोड़ देना, अधर्म को धर्म घोषित कर देना आदि धर्मविक्रय है ।) ॥ ३७ ॥ तुम लोग सुरा, मांस और मछली बेचने वाले हो जाओ ॥ ३८ ॥ तुम सब पाञ्चरात्र, कापाल, कालामुख, शाक्त आदि अवैदिक संप्रदायों में दीक्षित हो जाओ ॥ ३९ ॥ बौद्ध, जैन, पाशुपत, शांभव आदि वेदेतर मार्गों के तुम अनुसर्ता हो जाओ ॥ ४० ॥ तुम्हें पाखण्ड तथा अश्रौत पंथों में ही श्रद्धा होवे और उन्हीं का तुम अनुगमन करो ॥ ४१ ॥ तुम्हारे वंश में उत्पन्न सब अपनी स्त्रियों समेत

---

१ ख भवेयुर्ब्रा० ।

सूत उवाच— एवं मुनीन्द्रेण कृते च शापे द्विजाधमाश्चापि तदाज्ञयैव ।

तथाऽभवंस्तत्कुलजाश्च सर्वे स्वभावजो ह्येष मुनेः प्रभावः ॥ ४५ ॥

श्रद्धाभावस्तेन जातो नराणां साक्षाद्रुद्रे तस्य धर्मे च विप्राः ।

तस्माद्विद्वांस्तद्विनाशाय साक्षाद्रुद्रं नित्यं पूजयेच्छ्रद्धयैव ॥ ४६ ॥

त्रिपुण्ड्रमुद्धूलनमास्तिकोत्तमाः समाचरेन्नित्यमतन्द्रितस्तथा ।

विशेषतः शांकरवेदने रतो भवेदशेषं कथितं मयाऽनघाः ॥ ४७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भक्त्यभावकारणनिरूपणं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथ नामानि वक्ष्यामि परतत्त्वस्य सुव्रताः ।

यानि संकीर्तयन्मर्त्यो विमुक्तिफलभाग्भवेत् ॥ १ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ श्रद्धावतोऽपि विवेकज्ञानहेतुश्रवणाद्यधिकारविरहे किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य तस्य परतत्त्वनामकीर्तनादेव श्रवणाधिकारविवेकज्ञानमज्ञाननिवृत्तिरूपा मुक्तिश्च सिध्येदित्यभिप्रेत्य तानि नामानि वक्तुं प्रतिजानीते–**अथ नामानीति** ॥ १ ॥

मेरे कहे प्रकार से नीच ब्राह्मण हो जायें ॥ ४२ ॥ बहुत क्या कहूँ ? यह मेरा घोर शाप है कि तुम्हे व तुम्हारे वंशजों को संसारमोचक शिव में तथा उनसे सम्बद्ध श्रुति स्मृति आदि में सदैव अश्रद्धा होवे ॥ ४३–४४ ॥

सूत जी बोले—यों गौतम मुनि के शाप देने पर वे ब्राह्मण स्वयं व उनके वंशज भी सब वैसे ही हो गये जैसा होने का शाप उन्हें दिया गया था। मुनि का यह सहज प्रभाव था कि उनका वचन अव्यर्थ हो ॥ ४५ ॥ इसलिये लोगों में रुद्र व रुद्रधर्मों के प्रति श्रद्धा का अभाव है। शिव में श्रद्धा पाने के लिये बुद्धिमान् को चाहिये कि प्रेमपूर्वक नित्य शिवपूजा किया करें ॥ ४६ ॥ प्रतिदिन उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये और शिवज्ञान के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिये। इस प्रकार इस विषय में सब ज्ञातव्य मैंने बता दिया ॥ ४७ ॥

परतत्त्वनाम-विचार नामक तेतीसवाँ अध्याय

(पूर्वोक्त हेतु से श्रौतविद्या में अनधिकार हो जाने पर शिवप्रसादनार्थ क्या साधन है ? यह प्रश्न उठने पर नामकीर्तन

शिवो रुद्रो महादेवः शंकरो ब्रह्म सत्परम् । शंभुरीशान ईशश्च शूली चन्द्रकलाधरः ॥ २ ॥

शर्वः पशुपतिः साक्षी हरः श्रीकण्ठ[1] अद्भुतः । उग्रः[2] कपर्दी गिरिशो भवः सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ ३ ॥

उमापतिः [3]कपर्दी च भूतेशस्त्रिपुरान्तकः । अन्तकारिस्त्रिनेत्रश्च[4] दक्षयज्ञविनाशकः ॥ ४ ॥

[5]धूर्जटिर्वामदेवश्च स्थाणुः सर्वविनाशकः । स्रष्ट च पालकश्चैव ततस्तत्पुरुषः प्रभुः ॥ ५ ॥

वामदेवः कपाली च सद्योजातः समः सुखी । अघोरश्च सुघोरश्च प्रशान्तः [6]पापनाशकः ॥ ६ ॥

भवारिर्भोगदः पुण्यः कामध्वंसी कपिञ्जरः[7] । व्योमकेशो विशालाक्षो वह्निरेता वरप्रदः ॥ ७ ॥

भीमो भर्गः पिनाकी च वृषाङ्कः कालकूटधृक् । कृत्तिवासाः किरातश्च भिक्षुको मूलकारणम् ॥ ८ ॥

तानन्यनुक्रामति–**शिवो रुद्र** इति । **ब्रह्म सत्परमिति** । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥ २–३ ॥ **अन्तकारिरिति** । मनुजपशुपक्षिमृगादेः संहर्ता वैवस्वतोऽन्तकस्तस्यापि संहर्ता परमेश्वरः । श्रूयते हि–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति ॥ ४–६ ॥ **कपिञ्जर** इति कं शिरस्तत्र पिङ्गलवर्णाभिर्जटाभिर्युक्त इत्यर्थः । यास्कस्त्वाह–'कपिञ्जरः क[8]पिवरवत्कीर्णः[9] । ईषत्पिञ्जरो वा कमनीयशब्दं पिञ्जरयतीति च' इति ॥ ७–८ ॥

में सर्वाधिकार शास्त्रसिद्ध होने से इस अध्याय में परमेश्वर के कुछ नामों का संग्रह बताया है ।) सूतजी बोले–अब मैं परमतत्त्व के नाम बताता हूँ जिनका संकीर्तन करते रहने वाला व्यक्ति मोक्ष पा जाता है ॥ १ ॥

शिव (कल्याणरूप), रुद्र (दुःखनाशक), महादेव (व्यापक स्वप्रकाश), शंकर (कल्याणकारी), ब्रह्म (व्यापक), सत् (विद्यमानता रूप), पर (श्रेष्ठ), शंभु (कल्याणकारी), ईशान (शासक), ईश (अपनाने वाला), शूली (शूलधारी), चन्द्रकलाधर (द्वितीया के चंद्र को मस्तक पर रखने वाला) ॥ २ ॥ शर्व (प्रलय में सबको समाप्त करने वाला), पशुपति (जीवरूप पशुओं का मालिक), साक्षी (हर ज्ञान व कर्म को जानने वाला) , हर (पाप का हरण करने वाला), श्रीकण्ठ (शुभ्रकण्ठ वाला), अद्भुत (आश्चर्यजनक), उग्र (सर्वत्र अनुस्यूत), कपर्दी (जटाधारी), गिरिश (पर्वतवासी), भव (सब करने वाला), सर्वज्ञ (सब जानने वाला), ईश्वर (शासन-स्वभाव वाला) ॥ ३ ॥ उमापति (उमा के पालक), कपर्दी (गंगाजल की शुद्धि के हेतु), भूतेश (भूतों को स्वीकारने वाला), त्रिपुरान्तक (त्रिपुर को समाप्त करने वाला), अन्तकारि (मृत्यु-शत्रु), त्रिनेत्र (तीन नेत्रों वाले), दक्षयज्ञविनाशक (दक्ष द्वारा किये ईश्वर-असम्बद्ध यज्ञ के समापक) ॥ ४ ॥ धूर्जटि (गंगारूप जटा वाला), वामदेव (लोकविरुद्ध

---

१ आर्षो विसर्गलोपोऽसन्धिश्च । २ उन्धति सर्वत्र समवेतो भवतीत्युग्रः । ३ **पर्यपूर्तौ**, क्विप् । राल्लोपइतिवलोपः । कं जलम् । कस्य पर् कपर् जलप्रवाह औचित्याद् गांगः । तं दायति शोधयतीति दैप् शोधने धातोः कः । 'भवांगपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः' इति वाल्मीक्युक्तेः । गंगाशोधकरूपं कपर्दः, तद्धारी कपर्दी । ४ ख. कारी त्रिन° । ५ धूर्गंगा, धुर्वी धातोः क्विपि । सा जटाऽस्येति । जटिर्जटेति द्विरूपकोशः । ६ घ. पाशनाशकः । ७ कपिरिव जवते, पृषोदरादित्वात्साधुः । ८ घ. कपिर° । छ. कपेवरिवरित्कीं । ९ ख. °पिरिव कीर्णः ।

अहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षो विरूपो विश्ववेषधृक् ।
शिपिविष्टो महादेवो गणेशः पार्वतीपतिः ॥ ९ ॥
मृडो मेरुधरो मेधा महामायी महेश्वरः ।
सर्वाधिष्ठानमाधारः[1] सर्वाधिकरणः स्वराट् ॥ १० ॥
सर्वेश्वरः [2]सर्वनिधिः सर्वात्मा सर्वसाधकः ।
सेतुः सीमा समुद्रश्च विशिष्टश्च विधारकः ॥ ११ ॥
जन्मादिकारणं हेतुः[3] शास्त्रयोनिः सुखासनः ।
तत्समो वाऽधिकोऽसङ्ग आत्मा चामलसाधनम् ॥ १२ ॥

अहिर्बुध्न्य इति ॥ 'अहि गतौ' अंहति गच्छतीत्यहिः । बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यः । यदाह यास्कः– 'अहिरयनादेत्यन्तरिक्षं योऽहिः स बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्' इति । **शिपिविष्ट** इति । शिपयो रश्मयस्तैराविष्टः शिपिविष्टः । 'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति' इति यास्कः ॥ ९–११ ॥ **जन्मादिकारणमिति** । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमत इत्यादिभावविकारषट्कस्य कारणमित्यर्थः । **शास्त्रयोनिरिति** । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपादकं विधिनिषेधात्मकं वेदवाक्यं शास्त्रं, तस्य योनिः कारणम् । यद्वा प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपप्रतिपादकमुपनिषद्वाक्यं शास्त्रं तद्योनिर्ज्ञप्तिकारणमस्येति **शास्त्रयोनिः** । अत एव भगवान्बादरायणोऽपि सूत्रयामास– 'शास्त्रयोनित्वात्' इति । **तत्सम** इति । तस्य प्रसिद्धस्य परमेश्वरस्य सदृशोऽपि परमेश्वरः स्वयमेव नान्यो विद्यते । श्रूयते हि– 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । तथाच परशिवस्योपमानान्तरनिरासाय तस्यैवोपमानोपमेयभावे सति **तत्सम** इति नाम संपन्नम् ॥ १२ ॥

व्यवहार वाला), स्थाणु (सदा रहने वाला), सर्वविनाशक (सब को नष्ट करने वाला), स्रष्टा (सबका उत्पादक), पालक (सब के योगक्षेम का साधक), तत्पुरुष (महावाक्य में 'तत्' शब्द से कहा गया चेतन), प्रभु (जिसका होना महान् है) ॥ ५ ॥ वामदेव (अपने वामार्ध से क्रीडा करने वाला), कपाली (कपाल को धारण करने वाला), सद्योजात (नित्य होने से मानो हर क्षण उत्पन्न होने वाला), सम (सदा एकरस), सुखी (दुःख से सदा असंबद्ध), अघोर (कभी हिंस्र न होने वाला), सुघोर (अत्यंत भयानक), प्रशान्त (अपने पर पूर्ण नियंत्रण वाला), पापनाशक (पाप का सकारण नाश करने वाला) ॥ ६ ॥ भवारि (संसारविरोधी), भोगद (फलभोग-प्रदाता), पुण्य (पुण्यरूप), कामध्वंसी (कामदेव का नाशक), कपिंजर (कपि की तरह वेग से सर्वत्र जाने वाला), व्योमकेश (आकाश की तरह विस्तृत केश वाला), विशालाक्ष (विशाल नेत्रों वाला), वह्निरेता (वह्नि जिसका शुक्र धारण करता है), वरप्रद (आशीर्वाद देने वाला) ॥ ७ ॥ भीम (जिससे सब डरते हैं), भर्ग (दोषों को भूँज देने वाला), पिनाकी (पिनाक नामक धुनुष धारण करने वाला), वृषांक (साँड के चिह्न के ध्वज वाला), कालकूटधृक् (कालकूट विष को संभाल लेने वाला), कृत्तिवासा (चर्मपरिधान वाला), किरात (किरातरूप धारण करने वाला), भिक्षुक (हिमालय के घर भिक्षुक रूप से जाने वाला), मूलकारण (संसार का मौलिक कारण) ॥ ८ ॥ अहिर्बुध्न्य (अंतरिक्ष में रहने वाला पृथ्वी का आधारभूत सर्प–शेषनाग–जिसकी विभूति है), विरूपाक्ष (विरूप कर देने वाली आँखों वाला), विरूप (नीरूप), विश्ववेषधृक् (सब रूप धारण करने वाला), शिपिविष्ट (किरणों

१ भ्रमकालेऽपि सदादितया प्रतीयमान आधार इत्युक्तः । २ °र्वधारकः । ३ हिनोति व्याप्नोति कार्यमिति हेतुः । हि गतौवृद्धौ च (स्वा. प. अ.) । कमिमनीत्याद्यौणादिकस्तुः ।

पुराणः[1] पुरुषः पूर्णोऽनन्तरूपः पुरातनः ।
सत्यं ज्ञानं सुखं साक्षादाकाशः प्राण आस्तिकाः ॥ १३ ॥
ज्योतिः प्रकाशः [2]प्रथितः स्वयंभानः स्वयंप्रभुः ।
स्वप्रकाशः स्वतन्त्रश्च स्वस्थः स्वानुभवोऽगमः ॥ १४ ॥
अत्ता चानशनः शङ्कुः परमात्मा परात्परः ।
देवदेवश्च देवश्च जगन्नाथो निरञ्जनः ॥ १५ ॥

आकाश इति । आ समन्तात्काशते स्वरूपप्रकाशतद्रूपतया सर्वाधिष्ठानत्वेन स्फुरतीत्याकाशः परशिवः । 'अकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' 'आकाश इति होवाच' इत्यादिश्रुतिष्वप्याकाशशब्दः परशिवप्रतिपादक इति बादरायणेन निरणायि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिना । प्राण इति । प्रकर्षेण चेष्टते नित्यं वर्तत इति प्राणः । 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' । 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' इति श्रुतिः ॥ १३–१४ ॥ **अत्ता चानशन** इति । 'यस्य ब्रह्म च' इति प्रागुदाहृतश्रुतेः । ब्रह्मक्षत्रादिसकलजगत्संहर्तृत्वमेवात्तृत्वम् । तथाच वैयासिकं सूत्रम्– 'अत्ता चराचरग्रहणात्' इति । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इतिश्रुतेरनशनः ॥ १५ ॥

से घिरा हुआ–चमकदार), महादेव (सर्वपूजित देवता), गणेश (सब समूहों का स्वामी), पार्वतीपति (पार्वती के स्वामी) ॥ ९ ॥ मृड (सुखी करने वाला), मेरुधर (मेरु पर्वत को धनुष बनाकर पकड़ने वाला), मेधा (बुद्धिशक्तिरूप), महामायी (महामाया का अधीश्वर), महेश्वर (सर्वविलक्षण ऐश्वर्य वाला), सर्वाधिष्ठान (सबका अधिष्ठान), आधार (सबका आधार), सर्वाधिकरण (सब जिसमें स्थित हैं), स्वराट् (जिसका कोई शासक नहीं) ॥ १० ॥ सर्वेश्वर (सब पर निर्बाध शासन चलाने वाला), सर्वनिधि (हर वस्तु का खजाना), सर्वात्मा (सबका आत्मरूप,) सर्वसाधक (सबकी सिद्धि करने वाला), सेतु (संसार को व्यवस्थित रखने वाला–जिसके कारण सांसारिक वस्तुएँ घुल-मिल नहीं जातीं), सीमा (जिससे परे कुछ नहीं), समुद्र (मुद्रा अर्थात् मर्यादा सहित रहने वाला, मर्यादा न लाँघने वाला), विशिष्ट (जिसके पास कुछ बचा नहीं है), विधारक (सबको सहारा देने वाला) ॥ ११ ॥ जन्मादिकारण (भावविकारों के कारण), हेतु (व्यापक), शास्त्रयोनि (शास्त्रोपदेष्टा), सुखासन (सुख से रहने वाला), तत्सम (स्वयं अपने ही समान), अधिक (सब तरह सबसे अधिक), असंग (आसक्तिरहित), आत्मा (सर्वग्राहक), अमलसाधन (निर्मल उपाय से प्राप्य) ॥ १२ ॥ पुराण (पहले भी नवीन बने रहने वाला), पुरुष (सब शरीरों में उपस्थित), पूर्ण (हर तरह से पूरा), अनन्त रूप (असंख्य रूपों वाला), पुरातन (पुराना), सत्य (कभी जिसका बाध न हो), ज्ञान (चेतन), सुख (अत्यन्त प्रिय), साक्षात् (अव्यवहित), आकाश (हर ओर प्रकाशित होने वाला), प्राण (प्रकर्ष गतियों वाला) ॥ १३ ॥ ज्योति (दीप्तिमान्), प्रकाश (व्यक्त), प्रथित (प्रसिद्ध), स्वयंभान (स्वप्रकाश), स्वयंप्रभु (अपरतंत्र प्रभाव वाला), स्वप्रकाश (परतः अप्रकाश्य), स्वतन्त्र (निरपेक्ष सत्ता वाला), स्वस्थ (स्वयं में स्थित), स्वनुभव (अच्छा अनुभव रूप), अगम (दुर्गम) ॥ १४ ॥ अत्ता (सबको खा जाने वाला), अनशन (कुछ न खाने वाला), शंकु (दिशा आदि का निर्णायक स्तंभ), परमात्मा (परे रहते हुए भी निजरूप),

---

१ ग. ङ. °राणपु° । २ ख. कथितः ।

निर्भयो निर्गुणो नित्यो नित्यानन्दो निरामयः । विदो विदाधिर्वेदान्तो देवता परदेवता ॥ १६ ॥

पतिः पाशहरः पारः पारशून्यः प्रजापतिः । धाता धारयिता धृष्टो धाम धामविवर्जितः ॥ १७ ॥

भुवनेशः सभानाथः सभापतिरतिप्रभुः । सभ्यः स्तुत्यः समस्तात्मा साम्बः संसारवर्जितः ॥ १८ ॥

संसारवैद्यः सत्यार्थः सारः संसारभेषजम् । संसारमोचको मोच्यो मुक्तो मूलधनं मुनिः ॥ १९ ॥

महर्षिश्च[1] महाग्रासो महात्मा मधुरः सुरः[2] । सुरज्येष्ठो विरूपाक्षो[3] विश्वरूपो विनायकः ॥ २० ॥

विश्वाधिकश्च वेद्यश्च वेदार्थो विगतस्पृहः । अहमर्थोऽप्रमेयश्च तत्त्वं निर्वाणमुत्तमम् ॥ २१ ॥

विदो विदाधिरिति । वेत्तीति विदः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । विज्ञानमतिशयात्सर्वगोचरमाधीयतेऽस्मिन्निति **विदाधिः** । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । तथाच पातञ्जलं सूत्रम्–'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति ॥ १६–२१ ॥

परात्पर (परे से परे), देवदेव (देवताओं को देवत्व देने वाला), देव (स्वयं देवरूप), जगन्नाथ (संसार को नियंत्रित रखने वाला), निरंजन (निर्दोष) ॥ १५ ॥ निर्भय (भयहीन), निर्गुण (विशेषणहीन), नित्य (सनातन), नित्यानन्द (सदा सुखरूप), निरामय (रोगरहित), विद (जानकार), विदाधि (सर्वविषयक ज्ञान जिसमें अत्यधिक है), वेदान्त (उपनिषत्-प्रतिपाद्य), देवता (क्रीडाशील), परदेवता (दूसरों को क्रीडा कराने वाला) ॥ १६ ॥ पति (पालक), पाशहर (पाश खोलने वाला), पार (भवसागर का दूसरा किनारा), पारशून्य (जिससे परे कुछ नहीं है), प्रजापति (प्रजाओं का मालिक), धाता (धारण करने वाला), धारयिता (जिसके कारण अन्य लोग व वस्तुएँ कुछ भी धारण करते हैं), धृष्ट (दृढ), धाम (आश्रय), धामविवर्जित (अनाश्रित) ॥ १७ ॥ भुवनेश (त्रिभुवन संचालक), सभानाथ (सभ्य समाजों का नियंता), सभापति (सभ्य समाजों का अध्यक्ष), अतिप्रभु (सब प्रभुताओं को लाँघ कर विद्यमान), सभ्य (असभ्यता वर्जित), स्तुत्य (स्तुतियोग्य), समस्तात्मा (सर्वात्मरूप), साम्ब (अम्बा सहित रहने वाला), संसारवर्जित (जिसका कभी संसरण नहीं होता) ॥ १८ ॥ संसारवैद्य (संसाररोग का उपचार करने वाला), सत्यार्थ (सत्य वस्तु), सार (रसमय), संसारभेषज (भवरोग की दवा), संसारमोचक (संसरण प्रबंध से छुड़ाने वाला), मोच्य (मुक्त किया जाने योग्य; मुमुक्षुरूप से भी वही स्थित है अतः वही मुक्त किया जाने योग्य है), मुक्त (नित्य मुक्त ही रहने वाला), मूलधन (मूलधन की तरह; जैसे मूलधन बना रहता है, ब्याज से काम चलता है ऐसे शिव स्वरूपतः बने रहते हैं, वृत्तिज्ञान आदि व्याजों से ही सारा व्यवहार चलता है ।), मुनि (मौनशील; दक्षिणामूर्तिरूप में शिव मौनशील हैं ।) ॥ १९ ॥ महर्षि (परम सूक्ष्मदृष्टि वाला), महाग्रास (बड़ा कौर खाने वाला), महात्मा (क्षुद्रतारहित), मधुर (माधुर्ययुक्त), सुर (मुक्तहस्त देने वाला), सुरज्येष्ठ (देवताओं में सबसे बड़ा), विरूपाक्ष (विविध रूप अर्थात् विविध शक्तियों वाले नेत्रों वाला), विश्वरूप (समस्त रूपों वाला), विनायक (जिसका कोई नेता नहीं है) ॥ २० ॥ विश्वाधिक (संसार से श्रेष्ठ), वेद्य (द्रष्टव्य),

---

१ रुद्रो महर्षिरिति श्रुतिः (श्वे. ४.१२) । एवं 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा' (श्वे. ४.१७) २. सुष्ठु राति ददात्यभीष्टमिति कप्रत्यये सुरः । ३ विरूपाणीच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वेन विविधशक्तीनि अक्षीणि यस्येत्यर्थः ।

कैवल्यं पदमव्यक्तं कालकालश्च कोमलः । अन्तर्यामी समाहारः सोमः सौख्यं सुहृत्सुधा[१] ॥ २२ ॥

अदृश्यो दृश्यनेता च नेत्रं दृष्टिश्च दर्शनम् ।
दृग्दृष्टिः पवमानश्च वशी वैश्वानरो नरः ॥ २३ ॥

मूलाचार्यो मुकुन्देशो [२]मूलमायतनं महान् । दहरो दिव्य अद्वैतमनाख्यं वस्तु वास्तवम् ॥ २४ ॥

भूमा भोजयिता भोक्ता रुचिर्भस्मानुभू रसः ।
हकारो[३] हुं फडग्रस्तो हार्दो हृत्पावनोऽवधिः ॥ २५ ॥

कालोत्पादकत्वं चान्यत्र स्पष्टमाम्नायते–'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इति । **समाहार** इति । समाह्रियन्ते संक्षिप्यन्त उपह्रियन्तेऽस्मिन्निति **समाहारः** । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः ॥ २२–२३ ॥ **दहर** इति । उपलब्धिस्थानस्य दहराकाशस्याल्पपरिमाणत्वात्तदवच्छिन्नत्वेनोपलभ्यमानः शिवोऽपि **दहरः** । श्रूयते हि–'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति ॥ २४ ॥ **भूमेति** । 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यो भूमानं भगवो विजिज्ञासे' इति वाक्यस्य 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' इति बादरायणेन ब्रह्मपरतया निर्णीतत्वाद्भूमेति परशिवस्य मुख्यं नाम । **अनुभूः** । अनुभवज्ञानात्मक इत्यर्थः । श्रुतिश्च–'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्' इति । **रस** इति । निरतिशयानन्दरूपतया सर्वैरास्वादनीय इत्यर्थः । श्रूयते हि–'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' । **हकार** इति । भुवनेश्वर्यजपाप्रसादादिषु मन्त्रेषु हकारस्य प्रथमाक्षरत्वादाचार्यैरपि 'प्रकृतिः सा हसंज्ञा भवेद्व्याप्य विश्वम्' इति जगन्मूलकारणस्य हकारवाच्यत्वाभिधानाद्धकारः परशिवस्य नाम । **हुं फडिति** । हुंशब्दस्तेजोवाची 'हुं तेजस्तेजसा देहो गृह्यते कवचं ततः' इत्याचार्यैरुक्तत्वात् । अतस्तेजोरूपत्वात्परशिवो हुंकारवाच्यः । मन्त्रानुष्ठानप्रतिबन्धकभौमान्तरिक्ष-रक्षःपिशाचादिनिवारकमाग्नेयं तेजः फट्शब्दार्थः । उक्तं ह्याचार्यैः–'ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य चालयेत्फट्पदाग्निना' इति । तादृग्विधतेजोमयस्य परशिवस्य फडिति नाम । **हार्द** इति । हृदये वर्तमानो हार्दः 'हृदि ह्येष आत्मा' इति श्रुतेः । **अवधिरिति** । निरधिष्ठानभ्रमस्य निरवधिकबाधस्य चानुपपत्तेः । 'अथात आदेशो नेति नेति' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिना बाध्यमानस्याऽऽरोपितसकलप्रपञ्चस्य बाधावधित्वेन परमार्थस्य परशिवस्यावस्थानात्तस्यावधिरिति व्यपदेशः ॥ २५ ॥

वेदार्थ (वेद का तात्पर्य), **विगतस्पृह** (इच्छायें जिसमें आने से पूर्व ही चली गयीं), **अहमर्थ** ('मैं' शब्द का अर्थ), **अप्रमेय** (किसी प्रमाण का विषय न बनने वाला), **तत्त्व** (तात्त्विक), **निर्वाण** (मोक्षरूप), **उत्तम** (सबसे ऊर्ध्व) ॥ २१ ॥ **कैवल्य** (अकेला), **पद** (गन्तव्य), **अव्यक्त** (सामने आकर स्पष्ट न होने वाला), **कालकाल** (काल का उत्पादक), **कोमल** (मृदु), **अन्तर्यामी** (अंदर रहते हुए शासन करने वाला), **समाहार** (जिसमें सब सिमट जाते हैं), **सोम** (गौरी के साथ नित्य विहार करने वाला), **सौख्य** (सुखरूप), **सुहृत्** (सबका मित्र), **सुधा** (सुधारूप) ॥ २२ ॥ **अदृश्य** (दृष्टि का विषय न बनने वाला), **दृश्यनेता** (सब दृश्यवस्तुओं को यथायोग्य अवस्थाओं पर पहुँचाने वाला), **नेत्र** (सबके देखने का साधन), **दृष्टि** (सबके देखने की क्रिया), **दर्शन** (सबकी दृष्टि का फल), **दृग्दृष्टि** (नेत्रों को भी देखने वाला), **पवमान** (बहने वाला), **वशी** (सब को वश में रखने वाला), **वैश्वानर** (सब की गति), **नर** (विषयों में रमण न करने वाला) ॥ २३ ॥ **मूलाचार्य** (प्रथमगुरु), **मुकुन्देश** (कृष्ण के आराध्य इष्ट),

---

१ ग. "त्सुधीः । २ मवते बध्नातीति 'मूशक्यविभ्यः क्लः,' मूङ् बन्धने (भ्वा. आ. से.) । ३ हः शिवे सलिले शून्ये धारणे मंगलेऽपि च । गगने नकुलीशे च रक्ते नाके च पर्वते ॥ मेदिनी ।

रूढ्यैवैतानि नामान्यनिशमतितरामादितत्त्वे महेशे
वर्तन्ते नैव नारायणहरिमुरजिद्वासुदेवादिशब्दाः ।
योगादस्मिन्कथंचित्परममुनिवरा वासुदेवादिशब्दा-
स्तस्मात्पूर्वोक्तनामान्यमलमतिरवश्यं सदा कीर्तयेच्च ॥ २६ ॥

रूढ्यैवैतानीति । अवयवप्रसिद्धिनैरपेक्ष्येण समुदायप्रसिद्ध्यैवैतानि नामानि परशिवे वर्तन्ते । अवयवव्युत्पत्तिसापेक्षत्वे नामोच्चारणसमनन्तरं तद्व्युत्पत्त्यनुसंधानव्याजेन विलम्बिता प्रतीतिः स्यात् । रूढौ तु नायं दोषः । अत एवोच्यते– 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति । यद्येवं महादेवः कपर्दी वामदेवो विरूपाक्ष इत्यादीनि नामानि पुनरुच्यन्ते तेषामानर्थक्यं स्यात् । भवेदेवं यदि केवला रूढिरश्वकर्णादिशब्दवदाश्रीयेत । अत्र तु पङ्कजादिवद्योगरूढिर्विवक्षिता । अतोऽवयवव्युत्पत्तेरपि विवक्षितत्वान्नानात्वप्रतिपादनेन प्रागुक्तदोषः परिहर्तुं शक्यते । तथाहि महच्छब्दस्य तावत्पूजितवचनत्वमधिकपरिमाणवाचित्वं चोभयं प्रसिद्धम् । तथा च पूजितो देवो **महादेव** इत्येकत्रार्थः । अन्यत्र तु सर्वव्यापी देवो **महादेव** इति । तथा–'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने' इति स्मरणात्**कपर्द**शब्दादेकत्र प्रशंसार्थ इत्यपरत्र नित्ययोग इत्यपौनरुक्त्यम् । तथा वामो वननीयो देवो **वामदेव** इत्येकत्रार्थः । श्रूयते ह्यैतरेयके– 'तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वामयति तस्माद्वामदेव' इति । अपरत्र तु वामेन भागेन दीव्यतीत्यर्धनारीश्वरप्रतिपादको वामदेवशब्दः । विपुलं ललाटमक्षि यस्येति **विरूपाक्ष** इत्येकत्र व्युत्पत्तिः । अपरत्र तु विशिष्टरूपाण्यक्षाणीन्द्रियाणि यस्येति । ऐन्द्रियकदेहस्येश्वरोपाधेर्विशुद्धसत्त्वपरिणामात्मकत्वादित्येषा दिक् । **योगादिति** । विष्णुमूर्तौ रूढा अपि नारायणादिशब्दा रुद्रमूर्तौ महता प्रयासेनावयवव्युत्पत्तिबलादेव कथंचिद्वर्तन्त इति विलम्बितप्रतीतिजनकत्वाच्छिवरुद्रादिशब्दवन्न मुख्याः ॥ २६ ॥

मूल (सबको बाँधने वाला), आयतन (आयाम रूप), महान् (पूज्य), दहर (अत्यल्प दहराकाश में प्रकाशित होने वाला), दिव्य (द्युलोक में रहने वाला), अद्वैत (दो तरह बँटा कुछ भी जिसमें नहीं है), अनाख्य (जिसका कोई नाम नहीं), वस्तु (सबमें वास करने वाला), वास्तव (जिसमें सब वास करते हैं) ॥ २४ ॥ भूमा (व्यापक), भोजयिता (भोग कराने वाला), भोक्ता (भोग करने वाला), रुचि (भोग की अभिलाषा रूप), भस्म (संसार में भस्मरूप से सबको उपलब्ध), अनुभू (प्रत्यक्ष ज्ञान रूप), रस (सब जिसका स्वाद लेते हैं), हकार (मंगलरूप), हुम् (तेजोरूप), फट् (राक्षस, पिशाच आदि से बचाने वाला तेजस्वरूप), अग्रस्त (अधर्षणीय), हार्द (हृदय में वर्तमान), हृत्पावन (हृदय पवित्र करने वाला), अवधि (बाध की सीमा–जिसका बाध नहीं होता) ॥ २५ ॥

ये नाम रूढिवश ही आदितत्त्व श्रीमहेश का बोध कराते रहते हैं । नारायण, हरि, मुरजित्, वासुदेव आदि शब्द इनकी तरह परमेश्वर अर्थ में रूढ़ नहीं (किंतु रूपविशेष में ही शक्त हैं) । योगवृत्ति से भले ही वे शब्द भी किसी तरह परमात्मा का बोध करा दें किंतु वासुदेव आदि शब्द निज सामर्थ्य से वैसा नहीं कर पाते । अतः पूर्वोक्त नामों का ही सदा कीर्तन करना शुद्ध बुद्धि वालों के लिये उचित है ॥ २६ ॥ जो मनुष्य शिव आदि शब्दों का परित्याग कर नारायण, विष्णु आदि शब्दों का ही उच्चारण करते हैं उन्हें मोक्ष सद्यः नहीं मिल सकता । हाँ सांसारिक ऐश्वर्य पाकर क्रममोक्ष के भागी वे भी बन ही सकते हैं ॥ २७ ॥

शिवादिशब्दं परिवर्ज्य मर्त्या वदन्ति नारायणविष्णुपूर्वम् ।
मुनीश्वरा नास्ति विमुक्तिरेषां विभूतिरेव क्रमशो विमुक्तिः ॥ २७ ॥
सद्य एव परमं पदं ययुः सद्य एव सकलं सुखं ययुः ।
मुख्यशब्दपरिकीर्तनेन ते सत्यमेव पठितं मयैव तु ॥ २८ ॥
नामानि सर्वाणि च कल्पितानि स्वमायया नित्यसुखात्मरूपे ।
तथाऽपि मुख्यास्तु[1] शिवादिशब्दा भवन्ति संकल्पनया शिवस्य ॥ २९ ॥
मुख्यशब्दजपतो मुनीश्वराः सत्यमेव परमेश्वरे भवेत् ।
तस्य वक्त्रकमले सदाशिवो नृत्यति स्म परमेशया सह ॥ ३० ॥
पापवह्निपरिदग्धमानसो देवरुद्रशिवशंकरादिषु ।
क्रोधमेति मुनयस्त्वहो नरः कीटपूर्वजनिरेव तस्य हि ॥ ३१ ॥
बहुप्रलापेन किमास्तिकोत्तमाः शिवादिनामानि परात्परस्य तु ।
अधोक्षजादेस्तु विशेषतः स्वतो भवन्ति नामानि परस्य चाऽऽज्ञया ॥ ३२ ॥

विभूतिरेवेति । ऐश्वर्यमेवेत्यर्थः ॥ २७–३३ ॥

मुख्य शब्दों का (शिवादि शब्दों का) कीर्तन करने वाले सद्यः ही मोक्ष व सकल सुख पा जाते हैं ॥ यह सत्य ही आपको मैंने सुनाया है ॥ २८ ॥ यद्यपि नित्य सुख आत्मा में सभी नाम कल्पित ही हैं तथापि शिव की ही कल्पनानुसार शिवादि नाम ही मुख्य हैं ॥ २९ ॥ मुख्य शब्दों के जप से साधक स्वयं परमेश्वर बन जाता है । उसके मुख में सदा पार्वती समेत शंकर नाचते रहते हैं (उन्हीं का कीर्तन वह करता रहता है) ॥ ३० ॥ पापाग्नि से जला व्यक्ति ही देव, रुद्र, शिव, शंकर आदि नामों पर क्रोध करता है । निश्चित समझ लेना चाहिये कि ऐसा व्यक्ति पूर्वजन्म में कीट आदि घोरपापयोनि वाला था ॥ ३१ ॥ बहुत क्या कहें ? शिवादि नाम परमेश्वर के हैं । विष्णु आदि के विशेष नाम परमेश्वर की ही आज्ञा से प्रसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥ (क्योंकि वाच्यवाचकभाव का विभाजन महादेव ने ही यों बनाया है) इसलिये जो साधक नारायणादि शब्दों का परित्याग कर महादेव, शिव आदि शब्दों का प्रतिदिन प्रमाद किये बिना जप करता है, उसके समस्त अशुभ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

---

१ मुख्यत्वं मोक्ष उपयोगितरत्वम् । तुनाऽमुख्यत्वमितरेषामल्पोपयोगात्तेषां तत्र ।

अतो महादेवशिवादिशब्दं द्विजो मुदा नित्यमतन्द्रितो[1] यः ।

विहाय नारायणपूर्वशब्दं जपेदशेषाशुभनाशनाय ॥ ३३ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे परतत्त्वनामविचारो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि संप्रदायसमन्वयम् ।

महादेवप्रसादस्य कारणं झटिति द्विजाः ॥ १ ॥

सत्यास्तेयदयापूर्वैः सर्वधर्मैः समन्वितः । कामक्रोधमहालोभपैशुन्यादिविवर्जितः[2] ॥ २ ॥

आचार्यं सत्यसंपन्नं[3] साक्षात्कारुणिकोत्तमम् । अभिगम्य महात्मानं प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ३ ॥

॥ ३२–३३ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां परतत्त्वनामविचारो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

प्रागुक्तशिवस्वरूपसाक्षात्कारस्य परमपुरुषार्थत्वेन गुरूपसदनव्यतिरेकेणासंभवात्तत्प्रकारं वक्तुं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १–९ ॥

(इस प्रसंग में इतना याद रखना चाहिये कि शास्त्रीय मर्यादा है 'निन्दा इसलिये नहीं की जाती कि जिसकी निंदा कर रहे हैं उसका त्याग किया जाये, किन्तु इसलिये की जाती है कि जिसका विधान कर रहे हैं उसकी स्तुति हो और उसमें प्रवृत्ति हो' । अतः नारायणादि नामों के जप के निषेध में पुराण का तात्पर्य नहीं, किन्तु शिवादि शब्दों का जप करना चाहिये, यह अभिप्राय है ।)

महादेव के प्रसाद के कारण का कथन नामक चौंतीसवा अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं सम्प्रदाय से सम्बन्ध स्थापित करने के ढंग को बताऊँगा । साम्प्रदायिक बनने से शिव तुरंत प्रसन्न होते हैं । (जिस परम्परा में विद्या भली प्रकार से दी जाये उसे संप्रदाय कहते हैं । अध्यात्मशास्त्र अनुभवारूढ होने वाला ज्ञान है, परोक्षमात्र रहने वाला नहीं । साथ ही इसका विषय अत्यंत सूक्ष्म है । अतः इसकी सारी बातें शब्दों में बाँधी नहीं जा सकतीं । इसलिये गुरु से ही अध्यात्मविद्या ग्राह्य है । वह गुरु भी ऐसा होना चाहिये जिसने स्वयं किसी गुरु से ज्ञान लिया हो । एवं च गुरुओं की परम्परा होनी स्वाभाविक है । इसे ही सम्प्रदाय कहते हैं । साम्प्रदायिक ज्ञान पाये विना बड़े से बड़ा

---

१ ख. ग. घ. ०न्द्रितश्च ॥ वि० । २ अमानित्वमदम्भित्वमित्यादयः शास्त्रप्रसिद्धाः शिष्यगुणा इत्यानन्दगिरिस्वामी । ३ 'आचार्यश्चोहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टयोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी'- त्याचार्याः साहस्रयाम् ।

चन्दनागरुकर्पूरप्रमुखैः पूज्य[1] देशिकम् । त्रिसहस्रं सहस्रं वा द्विसहस्रमथापि वा ॥ ४ ॥

उत्तमं काञ्चनं दत्त्वा यथाशक्ति धनं तु वा ।

बहुशो दण्डवद्भूमौ प्रणम्य श्रद्धया सह ॥ ५ ॥

तस्य पादाम्बुजं मूर्ध्नि निधाय परयोगिनः । अधीहि[2] भगवो ब्रह्मेत्येवं विज्ञापयेत्सुधीः ॥ ६ ॥

सोऽपि कारुणिकः श्रीमान्गुरुः सर्वार्थवित्तमः । सुसमे सुप्रदेशे तु निर्जने निर्भये शुभे ॥ ७ ॥

गोमयेनोपलिप्ते तु पुष्पैरभ्यर्चिते तथा । पूर्णकुम्भैश्च संयुक्ते दीपैर्दिक्षु समन्विते ॥ ८ ॥

वितानतोरणैर्युक्ते धूपदीपादिवासिते । अपक्वैस्तण्डुलैः शुद्धैः शुद्धैर्वा शालितण्डुलैः ॥ ९ ॥

विलिख्य मण्डलं साक्षाद् गुरूक्तेनैव वर्त्मना । एतन्मन्त्रेण संपूज्य कुसुमैश्चन्दनादिभिः ॥ १० ॥

विद्वान् भी मूर्ख ही रह जाता है, ऐसा भगवान् शंकर ने गीताभाष्य में कहा है । कारण यही है कि केवल स्वमनीषा से सर्वांगीण परिशोध असंभव है । अपने कल्याण का उपाय कथंचित् सम्प्रदाय के बिना मिल भी सकता है किन्तु नानाविध अधिकारियों के अनुकूल निष्कण्टक पथ का बोध उसके बिना संभव नहीं । आस्तिक ही नहीं, नास्तिक अध्यात्मविद्या भी संप्रदाय के बिना ठीक से नहीं समझी जा सकती । इसमें कुमारिल भट्ट का इतिहास प्रमाण है । अतः गंभीरता से जिस किसी रास्ते साधना करनी हो उस मार्ग को साम्प्रदायिक ढंग से समझ लेना ही श्रेयस्कर है ।)

सत्य, चोरी न करना, दया आदि सब उत्तम गुणों से युक्त होकर तथा काम, क्रोध, अधिक लोभ, चुगलखोरी आदि से रहति होकर सत्यवस्तु को समझ चुके करुणावान् श्रेष्ठ आचार्य के पास जाकर उन महात्मा को दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये ॥ २—३ ॥ चन्दन, अगरु, कपूर आदि से गुरु की पूजा कर उन्हें तीन हज़ार, दो हज़ार, एक हज़ार या यथाशक्ति स्वर्णमुद्रायें या अन्य धन समर्पित करना उचित है ॥ ४$^1/_2$ ॥ अनेक बार श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनके चरणकमलों को सिर पर रख यों प्रार्थना करनी चाहिये 'हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दें ।' ॥ ५—६ ॥

करुणाशील सर्वज्ञ श्रीगुरु को भी चाहिये कि निर्जन निर्भय शुभ समतल जगह को गोबर से लिप्त करा, पुष्पसज्जित करा, वहाँ पूर्णकुम्भ स्थापित कर तथा सब दिशाओं में दीपक रखवा कर, ऊपर वितान (तम्बू) तथा द्वारों पर तोरण लगवाकर, धूप-दीप आदि से सुवासित कर कच्चे साफ किये चावलों से या

---

१ आर्षो ल्यप् । २ अध्यापयेत्यर्थः । 'अन्तर्णीतणिजन्तस्य ह्यधीहीति भवेद्यतः' इति सुरेश्वरोक्तेः । इक् स्मरणे (अ.प.अ.) अयमप्यधिपूर्व इति भट्टोजी । तस्य लोण्मध्यमे रूपमधीहि ।

पारम्पर्यक्रमं बुद्ध्वा संचिन्त्य श्रद्धया सह ।

स्थापयित्वा गुरुः शिष्यं मण्डलस्य तु मध्यमे ॥ ११ ॥

कृताञ्जलिपुटं पूर्णप्रकाशनिकरात्मके । शिवानन्दे समासीनमेवं भावनया युतम् ॥ १२ ॥

देशिकः स्वात्मनाऽऽत्मानमवलोक्य सुनिश्चलः ।

शिष्यं चाऽऽत्मतया साक्षाद् दृढं संचिन्त्य साक्षिणः ॥ १३ ॥

स्वात्मनोऽन्यतया भातं स्वात्ममात्रतया स्वयम् । चिन्तयेन्निश्चलो मन्त्रं जपित्वा पूर्वमेव तु ।

ग्रन्थिच्छेदं पुनः कुर्याद्गुरूक्तेनैव वर्त्मना ॥ १४ ॥

विलिख्य मण्डलमिति । अधिकारानुरूपेण कुण्डमण्डपादिनिरपेक्षा चाक्षुषी दीक्षा प्रागुक्ता । अधुना तु तत्सापेक्षा क्रियावती दीक्षा प्रतिपाद्यते । अतो मण्डपादिकं निर्माय तत्र दीक्षामण्डलं सर्वतोभद्रादिकं विलिखेदित्यर्थः । **गुरूक्तेनेति** । आचार्यैः प्रपञ्चसारादिषूक्तमार्गेण । 'ततो मण्डपमध्ये तु स्थण्डिलं गोमयाम्बुना' इत्यादिनेत्यर्थः ॥ १०–१२ ॥ **स्वात्मनाऽऽत्मानमिति** । स्वात्मभावेन परमात्मानं साक्षात्कृत्येत्यर्थः । **साक्षिण** इति । [1]साक्षिरूपेणावस्थितात्स्वात्मनोऽन्यत्वेनावगतं शिष्यं स्वात्ममात्रत्वेन गुरुश्चिन्तयेत् । उभयत्रानुगतस्य साक्षिचैतन्यस्यैकत्वादित्यर्थः । **ग्रन्थिच्छेदमिति** । उक्तं ह्यागमिकैर्निर्वाणदीक्षामधिकृत्य–'सूत्रं मूलेन बध्नीयान्मुमुक्षोस्तु [2]शिखाग्रके । तत्सूत्रं दक्षिणे भागे पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत् ॥ मुमुक्षोर्विपरीतेन नारीणां वामभागके । मलाद्यन्तस्थपाशस्य निवृत्तिस्थानगस्य च । गुल्फान्तं वाञ्छितस्यास्य कुर्यात्पाशस्य च्छेदनम्' इति । ईदृग्विधेन गुरूपदिष्टमार्गेण षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकस्य पाशस्य यो ग्रन्थिस्तस्य छेदनं कुर्यादित्यर्थः ॥१३–१४ ॥

शालि-अन्न से वैसा मण्डल बनाये जैसा उसके गुरु ने उसे दीक्षा देते समय बनाना सिखाया हो । फिर उसका मंत्रपूर्वक चंदन पुष्पादि से पूजन करे ॥ ७–१० ॥ परम्परा के क्रम को समझकर श्रद्धासहित उसका स्मरण करे और मण्डल के मध्य शिष्य को स्थापित करे ॥ ११ ॥ शिष्य उस समय अंजलि बाँधे रहे और 'पूर्ण प्रकाशपुंजरूप शिवात्मक आनंद में मैं स्थित हूँ' ऐसी भावना करे ॥ १२ ॥ आचार्य स्थिर भाव से परमात्मा को निजात्मरूप समझते हुए शिष्य को भी निजात्मरूप से देखे । क्योंकि साक्षी अभिन्न है, इसलिये उस दृष्टि से ऐक्य-दर्शन आचार्य कर सकता है ॥ १३ ॥ यद्यपि शिष्यदेह अपने से भिन्न दीख रहा है तथापि 'शिष्यात्मा मैं ही हूँ' ऐसा दृढ चिंतन गुरु करे और पहले मंत्र का जप कर फिर गुरु प्रदर्शित प्रकार से ग्रंथिच्छेदन करे । (शिखा से पादांगुष्ठ तक सूत्र बाँध कर उसे काटा जाता है जिसे ग्रंथिच्छेदन कहते हैं ।) ॥ १४ ॥

---

१ ख. घ. ङ. च. छ. ज. साक्षिणा ॥ २ ङ. च. ज. शिवाग्र० ।

कृते कारुणिकेनैवमाचार्येण द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

महादेवो महानन्दो महाकारुणिकोत्तमः । स्वात्मभूतां परां शक्तिं प्रेरयत्येव सुव्रताः ॥ १६ ॥

प्रसन्ना सा महादेवी महाकारुणिकोत्तमा ।

शिष्यस्याऽऽत्मनि चिद्रूपे स्वयं पतति निर्मला ॥ १७ ॥

शक्तिपाते तु संजाते शिष्यस्याऽऽत्मनि संस्थिता ।

माया दग्धा भवेत्किंचिन्नात्र संदेहकारणम् ॥ १८ ॥

सर्वसाधनसंयुक्तः साक्षादास्तिक्यसंयुतः । महादेवस्य भक्तश्चेच्छिष्यः सद्गुरुभक्तिमान् ॥ १९ ॥

तस्य शिष्यस्य विप्रेन्द्राः कर्मसाम्ये सति द्विजाः ।

शांभवी शक्तिरत्यर्थं तस्मिन्पतति चिद्घने ॥ २० ॥

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी ।

माया दग्धा भवेत्किंचित्तदा पतति विग्रहः ॥ २१ ॥

स्वात्मभूतां परामिति । सच्चिदानन्दरूपस्य[1] स्वप्रतिष्ठस्य[2] परशिवस्वरूपस्यैव शक्यप्रतियोगिकमायापरिणामरूप-जगदङ्कुरात्मकशक्त्याकारानुप्रवेशेन शक्तित्वात्परा शक्तिः परशिवस्वरूपान्न व्यतिरिक्तेत्यर्थः । तदेतदुक्तं प्राक्–'चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः । अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयंप्रभा ॥ सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी । सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवंकरी' इति ॥ १५–१९ ॥ **कर्मसाम्ये सतीति** । परमेश्वरानुग्रहवशाद्दीक्षासंस्कारेण भाविजन्मापादककर्मक्षयाद्वर्तमानजन्मनि च सुखदुःखहेतुभूतयोः पुण्यपापयोरुपभोगेन क्षीणत्वादारब्धफलयोः संचितवर्तमानकर्मणोः । तदुक्तम्–'जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये [3]निःशेषपाशपटलच्छिदुरानिमेषात् । कल्याणदेशिककटाक्षसमाश्रयेण कारुण्यतो भवति शांभववेददीक्षा' इति ॥ आगमिका अप्याहुः–'अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ । ज्ञानात्मिका परा शक्तिः शंभोर्यस्मिन्निपातिता' इति ॥ २० ॥

आचार्य द्वारा यों कर दिये जाने पर परम करुणावान् परमानन्दरूप महादेव स्वात्मभूत परा शक्ति को प्रेरित करते हैं ॥ १५–१६ ॥ वे महादेवी करुणा कर शिष्य की चिद्रूप आत्मा में स्वयं आ जाती

---

१ ग. °न्दस्वरू° । २ ङ. °तिष्ठितस्य । ३ ङ. °पापप° ।

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा धरण्यां पतिते सति ।
प्रसादः शांकरस्तस्य द्विजाः संजात एव हि ॥ २२ ॥
यस्य प्रसादः संजातो देहपातावसानकः ।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥
तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
[1]दहत्यविद्यामखिलां तमः [2]सूर्योदयो यथा ॥ २४ ॥
शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग्गुरुभक्तिमान् ।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत[3] बन्धनात् ॥ २५ ॥

मोहरूपिणीति । शिष्यस्य चिद्रूपे स्वात्मनि चिच्छक्तितिरोधायिका हेयोपादेयविवेकज्ञानमावृण्वती मोहात्मिका या मायाऽऽश्रिता सा सच्चिद्रूपिण्याः शिष्यस्य स्वात्मन्यभिव्यक्तायाः परशक्तेः प्रसादेन किंचिदपसरतीत्यर्थः । **तदा पतति विग्रह इति** । मायासंबन्धनिबन्धनो ह्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंबन्धस्तथाविधस्याऽऽत्मनः स्वोपभोक्तव्यसुखदुःखहेतुभूतपुण्यपापात्मककर्मनिबन्धनो भोगायतनभूतदेहेन संबन्धस्तथा च शक्तिपातेन मायाया अपसरणादात्मनः

हैं ॥ १७ ॥ परा शक्ति का यों शिष्य में आपतन हो जाने पर निश्चय ही अज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥ शिष्य यदि सब साधनों समेत होता है, श्रद्धालु होता है, महादेव तथा सद्गुरु में भक्ति वाला होता है और उसके पुण्य व पाप लगभग समान होते हैं तो शांभवी शक्ति का उसमें अवश्य संचार होता है ॥ १९–२० ॥ तब शिष्य का अज्ञान कुछ नष्ट होता है और उसका शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ता है (अर्थात् मैं देह हूँ ऐसा अभिमान हटता है फलतः देह को खड़ा रखने की चेष्टा वह करता नहीं जिससे शरीर गिर जाता है । शरीर अपनी सामर्थ्य से खड़ा रह भी जाये तो भी उसे वह वैसा ही लगता है जैसे पृथ्वी पर पड़ी कोई चीज़ ।) ॥ २१ ॥ जब यों शिष्य का शरीर ज़मीन पर गिर पड़ता है तब समझ लेना चाहिये कि शिष्य पर शिवकृपा हो चुकी है ॥ २२ ॥ जिस पर इतनी कृपा हो गयी कि उसका शरीर देहाध्यासनिवृत्ति के कारण गिर पड़ा, उसका पुनर्जन्म असंभव है ॥ २३ ॥ ऐसे शिष्य को जब वेदान्त श्रवण कराया जाता है तब उसका समस्त अज्ञान समाप्त हो जाता है । (शक्तिपात से उस तरह अज्ञान हटा था जैसे पौ फटने पर अंधेरा और अब) सूर्य का उदय होने पर अंधकार के समान अविद्या रह नहीं जाती ॥ २४ ॥

जिस शिष्य में शक्तिपात की योग्यता नहीं, वह भी यदि सदा सत्य बोले और गुरु में भक्ति रखे

---

१ ङ. दहेदवि° । २ ग. घ. ङ. च. छ. सूर्योदये । ३ विवेकः पदार्थशोधनं मननं निदिध्यासनं चात्र क्रमः । इतरस्तु कृतविवेकादिरिति श्रवणमात्रेणाप्रतिबद्धं ज्ञानं लभते ।

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।

यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः ॥ २६ ॥

शक्तिपातप्रकारस्य[1] रहस्यांशश्च कश्चन । मया नोक्तो रहस्यत्वादाज्ञाभङ्गभयादपि ॥ २७ ॥

प्रसादकामी विप्रेन्द्राः प्रसन्नो गुरुभक्तिमान् ।

दिने दिने गुरोः पूजां कुर्यादर्थादिभिर्नरः ॥ २८ ॥

संप्रदायसमन्वयमुत्तमं गुह्यमेतदिदं कथितं मया ।

शंकरेण पुरा कथितं गुरोः शंकरः खलु सर्वहिते रतः ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे महादेवप्रसादकारणकथनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंबन्धशैथिल्ये पुण्यमात्रनिमित्तस्य देहसंबन्धस्यापि गलितत्वात्तभिमानाभावेन तत्पात इत्यर्थः । तदुक्तमागमे– 'देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे । स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्' इति ॥ २१–२६ ॥ **रहस्यांशश्च कश्चनेति** । अयमत्र रहस्यांशः–परमेश्वरस्वरूपभूतेन सर्वगतायाः[2] संविद्रूपिण्याः परशक्तेः पतनासंभवाच्छिष्यस्याऽऽत्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेन तिरोहिता सती पश्चाद्दीक्षासंस्कारेणाऽऽवरणापनये सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतितेत्युपचर्यते । ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं न खलु तादृशमस्याः संभवतीति । आगमेऽप्युक्तम्–'व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम् । ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ॥ सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता । किं त्वियं मलकर्मादिपाशबन्धेषु संवृता ॥ पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते' इति ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे महादेवप्रसादकारणकथनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

तो गुरु से वेदान्त का श्रवण करने के फलस्वरूप क्रमशः मोक्ष पा सकता है ॥ २५ ॥ शक्तिपात वाला तो वेदान्त श्रवणजन्य अखण्डबुद्धि के होते ही तत्क्षणमुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

शक्तिपात के प्रकार का कुछ गुह्य हिस्सा मैंने यहाँ नहीं बताया है क्योंकि वह है ही गुह्य (केवल अधिकारी को गुरुकृपा से अनुभूत हो सकता है) । उसका प्रकाशन करना गुरु की आज्ञा के विरुद्ध होगा क्योंकि मेरे गुरु ने उसका सर्वसामान्य को उपदेश देना मना कर रखा है ॥ २७ ॥ शिव की कृपा चाहने वाले को प्रतिदिन भक्तिपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये ॥ २८ ॥ सर्वलोकहित में निरत शंकर ने मेरे गुरु को जो संप्रदायदीक्षा की विधि बतायी थी उस रहस्यभूत विधान को मैंने यहाँ बता दिया है ॥ २९ ॥

---

१ ङ. काशस्य । २ छ. °तायाश्चिद्रू° ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि संप्रदायपरम्पराम् ।
यज्ज्ञानेन द्विजश्रेष्ठो गुरुर्भवति सुव्रताः ॥ १ ॥
यः शिवः सर्वभूतानामीश्वरः स्वत एव तु ।
ईशानः सर्वविद्यानां स एवाऽऽदिगुरुर्बुधाः ॥ २ ॥
तस्य शिष्यो महाविष्णुः सर्वज्ञानमहोदधिः । तस्मादात्तपरिज्ञानो ब्रह्मा सर्वजगत्प्रभुः[१] *॥ ३ ॥*
सनत्कुमारो भगवान्ब्रह्मणा श्रुतवेदनः । सनत्कुमारात्सर्वज्ञात्कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ ४ ॥
अवाप्ताखिलविज्ञानस्तस्मादेव श्रुतं मया । मत्तो लब्धपरिज्ञाना यूयं सत्यपरायणाः ॥ ५ ॥
एवं बुद्ध्वा मुनिश्रेष्ठाः संप्रदायपरम्पराम् । तत्तन्नाम्न नमस्कृत्य श्रद्धया देशिकानिमान् ॥ ६ ॥
पूर्वोक्तेनैव मार्गेण कुर्यादज्ञाननाशनम् । आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः सत्यवाग्गुरुभक्तिमान् ॥ ७ ॥

गुरूपसत्तिवद्गुरुपरम्पराज्ञानमपि विद्याहेतुरिति तदुक्तं प्रतिजानीते–**अथात** इति ॥ १–७ ॥

सप्रदायपरम्परा-विचार नामक पैंतीसवा अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं संप्रदायपरम्परा बताता हूँ जिसे जानकर ही गुरु बना जा सकता है ॥ १ ॥ शिव ही आदि गुरु हैं । वे स्वयं सबके शासक हैं और सब विद्याओं के अधिपति हैं ॥ २ ॥ उनके शिष्य सर्वज्ञ महाविष्णु हैं । सारा संसार बनाने वाले ब्रह्मा ने विष्णु से ज्ञान पाया है ॥ ३ ॥ ब्रह्मा से सनत्कुमार ने विद्या ग्रहण की है । सनत्कुमार के शिष्य हैं मुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ॥ ४ ॥ उनसे मैंने और मुझसे आप लोगों ने ज्ञानलाभ किया है ॥ ५ ॥ यों गुरुपरम्परा को जानकर उस-उस नाम से इन आचार्यों को प्रणाम करना चाहिये (शिवाय नमः, नारायणाय नमः इत्यादि) ॥ ६ ॥ तदनंतर पूर्वोक्त प्रकार से सत्य बोलने का नियम रखते हुए और प्रेम से गुरु की सेवा करते हुए उनसे वेन्दान्त श्रवण कर अज्ञाननाश करना चाहिये ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति गुरुपरम्परा जाने बिना स्वयं गुरु बन जाता है वह निःसंदेह घोर नरक को जाता है ॥ ८ ॥

---

१ घ. °गद्गुरुः ॥ ३ ॥

यो विद्यासंततिज्ञानविहीनो देशिको भवेत् ।

स घोरं याति नरकं नास्ति संदेहकारणम् ॥ ८ ॥

यो विद्यासंततिज्ञानविहीनो देशिको भवेत् ।

स नभोभक्षणेनैव [1]क्षुद्व्याधिं [2]विनिवर्तयेत् ॥ ९ ॥

यो विद्यासंततिज्ञानविहिनो देशिको भवेत् ।

स विनैव तिलांस्तैलं लभते सिकतासु च ॥ १० ॥

यो विद्यासंततिज्ञानसहितो देशिको भवेत् । सोऽनायासेन संसाराद्भृणामुत्तारको भवेत् ॥ ११ ॥

स्वगोत्रर्षिं नमस्कृत्य गुरूक्तेनैव वर्त्मना ।

स्वगुरुं च नमस्कृत्य श्रद्धया च गुरोर्गुरुम् ॥ १२ ॥

विघ्नेशं षण्मुखं चापि शिवां विद्यास्वरूपिणीम् ।

अन्यांश्च [3]सकलान्देवान्ब्रह्मविष्णुपुरोगमान् ॥ १३ ॥

पुनः शिष्यस्य मेधावी चित्तपाकं परीक्ष्य च ।

अविद्यापाशविच्छेदं कुर्यात्प्राज्ञस्तु देशिकः ॥ १४ ॥

गुरुपरम्पराऽवश्यं ज्ञातव्येत्यमुमर्थं व्यतिरेकमुखेण द्रढयति—**यो विद्यासंततिज्ञानविहीन** इति ॥ ८–१४ ॥

गुरुपरम्परा जाने बिना गुरु बनना वैसी ही मूर्खता है जैसे आकाश खाकर भूख मिटाना । ॥ ९ ॥ जो परम्परा समझे बिना गुरु बन जाता है वह तो शायद तिलों के बिना ही तेल भी पा लेगा ! ॥ १० ॥

गुरुपरम्परा को जानकर गुरु बनने वाला अनायास ही लोगों को संसारसागर से पार करा देता है ॥ ११ ॥ निजगुरु द्वारा बताये ढंग से पहले अपने गोत्रप्रवर्तक ऋषि को प्रणाम करना चाहिये । फिर क्रमशः गुरु, परमगुरु, गणेश, कार्तिकेय, ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य देवताओं को नमन करना चाहिये ॥ १२–१३ ॥ शिष्य की मेधा और मनःस्थिति की परीक्षा कर तदनुरूप उपदेश द्वारा

---

१ घ. क्षुधादि । २ क. ङ. विनिवर्तते । ३ छ. °ह्मरुद्रपु° ।

विदित्वा शिष्यचित्तस्य विपाकं पुनरास्तिकाः । दद्यात्पाकानुरूपेण विद्यामेतां महेश्वरीम् ॥ १५ ॥

मुर्खशिष्योपदेशेन विद्यागर्वेण सुव्रताः । गुरुद्रोहेण सर्वज्ञोऽप्यन्धकूपे पतत्यधः ॥ १६ ॥

तस्मात्संवत्सरं शिष्यं परीक्ष्याकृत्रिमं पुनः । प्रदद्याद्वैदिकीं विद्यां गुरुर्विद्याभिवृद्धये ॥ १७ ॥

विद्यासंततिविज्ञानं शिष्यचित्तपरीक्षणम् । अवश्यंभावि विप्रेन्द्रा देशिकस्येश्वराज्ञया ॥ १८ ॥

संप्रदायविहीना या विद्या वेदान्तपारगाः ।
साऽविद्या नैव विद्या स्यादिति तत्त्वविदां स्थितिः ॥ १९ ॥

पारम्पर्यपरिज्ञानं परविद्याप्रवर्तकम् । पारम्पर्यावबोधेन विद्या सा वीर्यवत्तरा ॥ २० ॥

पारम्पर्यपरिज्ञानादेव पाशनिकृन्तनम् । तस्मात्प्राज्ञः स्वविद्यायाः संततिज्ञानवान्भवेत् ॥ २१ ॥

यथा गोत्रपरिज्ञानं विवाहस्योपकारकम्[1] । पारम्पर्यपरिज्ञानं तथा ज्ञानोपकारकम् ॥ २२ ॥

दद्यात्पाकानुरूपेणेति । शिष्यस्य चित्तं बुद्ध्वा परीक्ष्य तद्गतमलकर्मादिपाशजालपाकानुसारेण विद्यामुपदिशेदित्यर्थः । उक्तं हि तत्त्वप्रकाशे–'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन । योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इति ॥ १५-१६ ॥ **तस्मात्संवत्सरमिति** । 'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ नासंवत्सरवासिने[2] प्रब्रूयात्' इति हि श्रुतिः ॥ १७–२० ॥ अतः स्वगुरुपरम्पराज्ञानस्य विद्याहेतुत्वेन श्रुत्यादिप्रतिपादितत्वात्तत्तत्स्वकीयगुरुपरम्पराज्ञानमवश्यमेष्टव्यमित्युपसंहरति–**तस्मात्प्राज्ञ** इत्यादिना ॥ २१–२२ ॥

उसके अविद्याबंधन को काटना प्रारम्भ करना चाहिये ॥ १४ ॥ इस माहेश्वरी विद्या का उपदेश शिष्य के मन की पक्वता को जानकर तदनुरूप ही देना उचित है । (विवेक, वैराग्यादि का आधिक्य ही पक्वता है । जितना ये अधिक और उतना ही सूक्ष्म तत्त्व का उपदेश सार्थक है । जितना ये कम हों उतना ही साधनोपदेश अधिक और साध्यपरिचय कम हो सकता है ।) ॥ १५ ॥ मूर्ख शिष्य को सूक्ष्मतम उपदेश करने से, विद्या के बल पर गर्वित होने से और गुरुद्रोह से सर्वज्ञ का भी घोर अज्ञान में अधःपतन होता है । (गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव न रखना, आज्ञोल्लंघन करना व अन्य तरह से उन्हें कष्ट देना गुर-द्रोह है ।) ॥१६ ॥ अतः गुरु को चाहिये कि विद्यावंश की उन्नति के लिये वैदिक ज्ञान का उपदेश देने से पूर्व (कम से कम) एक साल शिष्य की खरी परीक्षा कर ले ॥ १७ ॥ गुरुपरम्परा जानना और शिष्य की परीक्षा करना–ये आचार्य के आवश्यक कर्तव्य हैं ॥ १८ ॥ सम्प्रदायक्रम से जो प्राप्त नहीं हुई है वह विद्या नहीं अविद्या ही है ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का निर्णय है ॥ १९ ॥ परा विद्या की प्रवृद्धि परम्परा-प्राप्त ज्ञान से ही होती है । परा विद्या तभी अतिशय सामर्थ्य वाली हो पाती है जब उसे परम्परापूर्वक ग्रहण किया हो ॥ २० ॥ गुरुपरम्परा जानने से ही पाश कटते हैं । अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि जिस विद्या को ग्रहण कर रहा हो उसकी आचार्यपरम्परा को जाने ॥ २१ ॥ जैसे गोत्र की जानकारी विवाह कर्म में उपकार करती है (गोत्राचार विवाह का आवश्यक अंग है), वैसे ही गुरुपरम्परा का ज्ञान ज्ञान का उपकार करता है ॥ २२ ॥ श्रुति में नाना प्रकार की गुरुपरम्परायें बतायी गयी हैं । तत्तद् विद्या की

---

१ ग. °रणम् । २ ङ. °ने प्रब्रूयान्नैवासंवत्सरवासिने प्र° ।

विद्यासंततयो विप्रा बहुरूपाः श्रुतौ श्रुताः ।

तत्तत्संततिविज्ञानं विद्यासिद्धेस्तु कारणम् ॥ २३ ॥

यो गुरुर्भवति यस्य सुव्रताः सोऽपि तस्य परवेदनाय तु ।

स्वस्य देशिकपरम्परामिमां तस्य भक्तिसहितस्य बोधयेत् ॥ २४ ॥

शक्तिरस्य महती विजृम्भते यस्य देशिकपरम्परा धृता ।

मुक्तिसिद्धिरपि चास्ति सद्गुरोः शुद्धवंशपरवेदनेन तु ॥ २५ ॥

संतानविज्ञानविहीनदेशिकः पिशाचपूर्वैरतिपीडितो भवेत् ।

संतानविज्ञानवतः सदाशिवः स्वकं वपुस्तस्य ददाति चित्सुखम् ॥ २६ ॥

शृणुध्वमन्यत्प्रवदामि संततिप्रबोधहीनस्य नरस्य बाधनम् ।

न मुक्तिसिद्धिर्न च तस्य वेदनं न देशिकत्वं न सुखित्वमास्तिकाः ॥ २७ ॥

बहुरूपाः श्रुतौ श्रुता इति । वृहदारण्यकादिश्रुतिषु 'अथ वंशः पौतिमाष्यः' इत्यारभ्य 'ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' इत्यन्तेन बहुधा गुरुपरम्परा समाम्नातेत्यर्थः ॥ २३–२९ ॥

वीर्यवत्ता के लिये तत्तत् परम्परा को जान लेना चाहिये ॥ २३ ॥ जो जिसका गुरु बने उसका भी कर्तव्य है कि परमात्मज्ञान की सिद्धि के लिये अपने शिष्य को अपनी गुरुपरम्परा का ज्ञान करावे ॥ २४ ॥ गुरुपरम्परा के जानकार में महान् शक्ति आ जाती है और मोक्ष भी उसी का हो सकता है ॥ २५ ॥ परम्पराज्ञानरहित गुरु को पिशाच आदि पीडित करते हैं जबकि परम्परा के ज्ञाता को शिव अपना सच्चिदानंदरूप स्पष्ट कर देते हैं ॥ २६ ॥ हे आस्तिको ! और भी सुन लो—परम्पराज्ञानशून्य व्यक्ति के सामने बाधायें ही आती हैं । उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता । ज्ञान ही उसे नहीं हो पाता । वह न कभी सही अर्थ में गुरु बन सकता है और न कभी सुखी हो सकता है ॥ २७ ॥ ऐसे का शिष्य मोक्ष, परमात्मज्ञान,

---

१ ङ. °कं पुनस्त° ।

शिष्यस्तु मुक्तिं परवेदनं सुखं चित्तस्य शुद्धिं न च याति सुव्रताः ।

बद्धश्च कष्टश्च विमोहितश्च भ्रष्टश्च सत्यं परिभाषितं मया ॥ २८ ॥

किमिह बहुभिरुक्तैः संततिज्ञानहीनाः सकलदुरितराशिं [1]सत्यमुक्तं विशन्ति ।

परमपदसमाख्यं ब्रह्मरूपं न यान्ति स्फुरणसुखमनन्तं संततिज्ञानहीनाः ॥ २९ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे संप्रदायपरम्पराविचारो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि सद्योमुक्तिकरं परम् ।

आम्नायान्तैकसंसिद्धं सुकरं सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥

पुरा भगवती देवी भोगमोक्षफलप्रदा । पुराणी पूर्णविज्ञानस्वरूपा परमा शिवा ॥ २ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे संप्रदायपरम्पराविचारो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

गुरुपरम्पराज्ञानवत्कालहस्त्याख्यक्षेत्रविशेषे व्रतविशेषानुष्ठानमप्यनायासेन मुक्तिहेतुरिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति ॥ १-२ ॥

सुख तथा चित्तनैर्मल्य कभी नहीं पाता । वह बद्ध ही बना रहता है और मोह में पड़ा कष्ट ही पाता है । वह मार्गभ्रष्ट बना रहता है यह निश्चित जानो ॥ २८ ॥ अधिक क्या कहें ? गुरुपरम्परा को जो नहीं जानते वे पापी ही हैं । वे परमपदनामक ब्रह्मरूप को कभी प्राप्त नहीं करते और अनंत चित् सुखरूप मोक्ष उन्हें कभी नहीं मिलता ॥ २९ ॥

सद्यः मुक्ति देने वाले क्षेत्र की महिमा का कथन नामक छत्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं सद्यः मोक्षप्राप्ति के उपाय के विषय में बताऊँगा । वेदान्तसिद्ध व सबके लिए सुकर उपाय अब बताऊँगा । (तप को विविदिषा की प्राप्ति का उपाय उपनिषत् में बताया गया है । तीर्थवास तपोविशेष है । अतः यह वेदांतसिद्ध है ।) ॥ १ ॥ प्राचीन काल में एक बार भोग व मोक्ष प्रदान करने वाली पूर्णज्ञानरूपिणी परमेश्वरी शिवा ने महादेव से प्रश्न किया । महादेव संसार के नाथ हैं । देवता, मनुष्य,

---

१ ग. ङ. सत्यमुक्ति ।

देवदेवं जगन्नाथं देवेषु च नरेषु च । क्रिमिकीटपतंगेषु समं सर्वेषु संस्थितम् ॥ ३ ॥

सत्यविज्ञानसंपूर्णं सुखलक्षणमव्ययम् । स्वप्रकाशैकसंसिद्धं स्वविलक्षणवर्जितम् ॥ ४ ॥

घृतकाठिन्यवद्विप्राः केवलं कृपयैव तु । आविर्भूतमहानन्दताण्डवं करुणालयम् ॥ ५ ॥

गुणातीतं गुरुं गुह्यमुपास्यं गुणमूर्तिभिः । प्रणम्य दण्डवद्देवी शिवाऽपृच्छदिदं बुधाः ॥ ६ ॥

समं सर्वेषु संस्थितमिति । 'तत्सृट्वा तदेवानुप्राविशत्[1]' 'एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुतेः । देवतिर्यङ्मनुष्यादिषु[2] क्रिमिकीटकादिषु तद्धि चैतन्यरूपेण साम्येनावस्थितमित्यर्थः । यद्वा प्राणरूपेण सर्वजन्तुषु [3]साम्येनावस्थितम् । तथा च बृहदारण्यके समाम्नायते '[4]यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' इति । गीतासु च स्मर्यते–'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इति ॥ ३ ॥ **स्वविलक्षणवर्जितमिति** । स्वस्मात्स्वप्रकाशचिद्रूपाद्विलक्षणो जडप्रपञ्चस्तस्य मायामयत्वेनापरमार्थत्वात्तद्रहितमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अत्र दृष्टान्तो–**घृतकाठिन्यवदि**त्यर्थः । यथा घृतस्य काठिन्यमग्निसंयोगाद्विलीनावस्थायां घृतस्वरूपातिरेकेण नोपलभ्यत एवमेवाद्वितीयपरशिवस्वरूप साक्षात्कारेण तदाश्रितायां मायायां विलापितायां तन्मयस्तत्स्वरूपे परिकल्पितः प्रपञ्चोऽपि तत्रैव[5] लीयत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ **गुणातीतमिति** । [6]प्रकृत्यवयवाः सत्त्वाद्या गुणास्तानतिक्रम्य वर्तमानमित्यर्थः । **गुणमूर्तिभिरित** । सृष्टिस्थितिसंहृतिव्यापारा ब्रह्मविष्णुरुद्रा गुणमूर्तय इत्यर्थः ॥ ६–२१ ॥

कृमि, कीट, पतंग आदि सबमें समान रूप से शिव अवस्थित हैं ॥ २–३ ॥ सत्य विज्ञान से वे भरे हुए हैं । उनका स्वरूप ही है अव्यय सुख । उनकी सिद्धि स्वयं उन्हीं के प्रकाश से होती है । वे कभी किसी की अपेक्षा 'दूसरे' नहीं हो पाते क्योंकि उनसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ॥ ४ ॥ जैसे घी का डलारूप (जमा हुआ खण्डरूप) पिघलने पर घृतमात्र बचता है ऐसे अद्वितीय परमशिव के स्वरूप के साक्षात्कार से उनकी माया उन-मात्ररूप बचती है । पृथग् उपलब्धि-दशा में भी डलारूप वस्तुतः घी से अतिरिक्त था नहीं, केवल लगता था । ऐसे ही माया शिव से अतिरिक्त कुछ नहीं है । शिव से भिन्न उसका जो स्वरूप है वह केवल 'लगना'-मात्र है । वे महादेव केवल कृपा से महानन्दताण्डव को व्यक्त करते हैं । करुणा के तो वे निधान हैं ॥ ५ ॥ सत्त्वादि सभी गुणों से शिव अतीत हैं । वे ही एकमात्र गुरु हैं । हृदय गुहा में स्थित वे ही शिष्य भी बनते हैं । गुणोद्रेकोपहित ब्रह्मा आदि मूर्तियों के वे ही उपासनीय हैं । उन शिव को प्रणाम कर देवी ने यों पूछा–॥ ६ ॥ श्री देवी ने कहा–'हे देवाधिदेव ! हे जगन्नाथ !

---

१ ख. °तू । स एतमे° । २ ग. °षु सिद्धिचै° । घ. °षु सह चे° । ३ ख. ग. घ. सामान्येना° । ४ ख. ग. घ. ङ. च. छ. यदेव । ५ ख. °व विली° । ६ ङ. प्रत्यगव° ।

श्रीदेव्युवाच– देवदेव जगन्नाथ जगतामार्तिभञ्जन ।

सद्योमुक्तिकरं पुंसां सुकरं ब्रूहि मे शिव ॥ ७ ॥

सूत उवाच– एवं पृष्टो महादेवो महादेव्या वृषध्वजः ।

हिताय जगतां तस्यै बभाषे तन्महेश्वरः ॥ ८ ॥

महेश्वर उवाच– साधु साधु महादेवि त्वया पृष्टं जगद्धितम् ।

इतः पूर्वं मया नोक्तं वदामि तव तच्छृणु ॥ ९ ॥

ब्राह्मणो वाऽन्त्यजो वाऽपि स्त्री पाखण्डोऽथवा बुधः ।

दरिद्रो वा [1]समृद्धो वा मूर्खो वा पण्डितोऽथ वा ॥ १० ॥

समर्थो वाऽसमर्थो वा बालो वा स्थविरोऽपि वा ।

आस्तिको वा महादेवि नास्तिक्येन युतोऽथवा ॥ ११ ॥

भूमौ दक्षिणकैलासे सर्वस्थानवरे शुभे । सुवर्णमुखरीतीरे सुस्थिते सर्वसेविते ॥ १२ ॥

हे जगत् के दुखों के समापक ! हे शिव ! मुझे वह सुकर उपाय बताइये जिससे सभी लोगों को सद्यः मोक्ष मिल जाये' ॥ ७ ॥ सूत जी बोले–महादेवी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर परमेश्वर ने सबके हित के लिये यों उत्तर दिया–॥ ८ ॥

महेश्वर ने कहा–हे पार्वति ! तुमने संसार का हित करने वाला बहुत अच्छा प्रश्न किया है । इसका उत्तर अब से पहले मैंने कभी नहीं दिया था । अब तुम्हें इस के विषय में बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥ ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, स्त्री, पाखण्डी, जानकार, दरिद्र, समृद्ध, मूर्ख, पण्डित, सामर्थ्यवान्, सामर्थ्यहीन, बाल, वृद्ध, आस्तिक, नास्तिक, चाहे कोई हो उसके सद्यः मोक्ष का सरल उपाय है कि वह सर्वश्रेष्ठ स्थान दक्षिण कैलास जाये । सुवर्णमुखरी नदी के किनारे वह स्थान है ॥ १०–१२ ॥ तुम, मैं, हमारे दोनों पुत्र, नन्दी, मेरे सब भक्त, विष्णु, इन्द्रादि लोकपाल, सोम-सूर्य आदि ग्रह, सब देवता, यक्ष व राक्षस सभी उस स्थान

---

१ ग. समर्थो ।

त्वया मया च पुत्राभ्यां नन्दिना वृषभेण च ।
मम भक्तैरशेषैश्च ब्रह्मणा विष्णुनाऽपि च ॥ १३ ॥
इन्द्रादिलोकपालैश्च सोमसूर्यादिभिस्तथा । देवताभिश्च सर्वाभिर्यक्षराक्षसपूर्वकैः ॥ १४ ॥
सर्वदा सेविते शुद्धे सर्वकामार्थसाधके । संवत्सरव्रतं कुर्यात्सद्योमुक्तिकरं तु तत् ॥ १५ ॥
आदित्ये मेषसंयुक्ते चित्रानक्षत्रके नरः । सुवर्णमुखरीतोये पवित्रे पापनाशने ॥ १६ ॥
प्रातः स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वा प्रियेण तु ।
श्रीकालहस्तिनाथाख्यं देवि मामादरेण तु ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणं यथाशक्ति कृत्वा भूमौ तु दण्डवत् ।
प्रणम्य दृष्ट्वा देवेशि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ १८ ॥
आदित्ये वृषभं प्राप्ते विशाखर्क्षे समाहितः ।
सुवर्णमुखरीतोये प्रातः स्नात्वा यथाबलम् ॥ १९ ॥
दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा देवं दृष्ट्वाऽभिवन्द्य च ।
समाहितमना भूत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ २० ॥
आदित्ये मिथुनं प्राप्ते मूलाख्ये तारके बुधः ।
सुवर्णमुखरीस्नानं कृत्वा प्रातः समाहितः ॥ २१ ॥

का सेवन करते हैं । सभी इच्छाओं को पूरा करने वाला वह स्थान है । वहाँ जाकर मुमुक्षु को संवत्सरव्रत करना चाहिये । वहाँ किया व्रत सद्यः मोक्ष देने वाला है ॥ १३–१५ ॥ सूर्य जब मेष राशि में स्थित हो तब चित्रानक्षत्रयुक्त दिन में सुवर्णमुखरी के पवित्र जल में स्नान करना चाहिये ॥ १६ ॥ प्रातः स्नान कर प्रेम से यथाशक्ति धनदान करे । 'श्रीकालहस्तिनाथ' नाम से स्थित मेरी यथासामर्थ्य प्रदक्षिणा करे व दण्डवत् प्रणाम कर मेरा दर्शन करे । उस दिन केवल रात को ही भोजन करे ॥ १७–१८ ॥ सूर्य जब वृष राशि में हो तब विशाखानक्षत्रयुक्त दिन में प्रातः सुवर्णमुखरी में स्नान कर यथाशक्ति दान और देवप्रक्षिणा कर, उनका दर्शन और अभिवादन कर एकाग्रचित्त से रात्रि के समय भोजन करे ॥ १९–२० ॥

प्रदत्त्वा धनमन्यद्वा यथाशक्ति महर्षयः[1] । देवं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य भुवि दण्डवत् ।

दृष्ट्वा तथैव मां देवि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ २२ ॥

आदित्ये कर्कटं प्राप्ते गर्भर्क्षे सुसमाहितः ॥ २३ ॥

सुवर्णमुखरीस्नानं कृत्वा प्रातर्द्विजोत्तमाः । दृष्ट्वा तत्रैव मां देवि देवं भक्तिपुरःसरम् ॥ २४ ॥

प्रदक्षिणं यथाशक्ति कृत्वा दृष्ट्वाऽऽभिवन्द्य च ।

त्यक्त्वाऽहर्भोजनं धीमान्रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २५ ॥

सिंहराशौ स्थिते सूर्ये वैष्णवे तारके नरः ।

प्रातरेव महानद्यामस्यां स्नात्वा यथाबलम् ॥ २६ ॥

दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा स्तुत्वा मामभिवन्द्य च ।

त्यक्त्वाऽहर्भोजनं मर्त्यो रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २७ ॥

आदित्ये कन्यकायुक्ते तथाऽजैकपदे दिने ।

स्नात्वा चास्यां नरः प्रातर्दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ २८ ॥

श्रीकालहस्तिनाथाख्यं देवं पूर्वोक्तवर्त्मना ।

दृष्ट्वाऽहर्भोजनं त्यक्त्वा रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २९ ॥

प्रदत्त्वेति । छान्दसो ल्यबभावः । यद्वा प्रोपसर्गो व्यस्तनिर्दिष्ट इति समासाभावाल्ल्यपो न प्रसक्तिः । **महर्षय** इति चतुर्थ्यन्तः पाठः ॥ २२ ॥ **गर्भर्क्ष** इति । गर्भर्क्षं पूर्वाषाढाख्यं नक्षत्रम् । तथा ज्योतिर्विदः—'पूर्वाषाढागते भानौ जीमूतैः परिवेष्टिते । आर्द्रादीनि प्रवर्ष्यन्ते(?)[2] त्वेकैकस्य त्रयोदश' इति । ॥ २३–२५ ॥ **वैष्णवं** श्रवणनक्षत्रम् । 'विष्णुर्देवता' इति श्रुतेर्वैष्णवं श्रवणाख्यम् । ॥ २६–२७ ॥

सूर्य जब मिथुन राशि में हो तब मूल नक्षत्रयुक्त दिन में पुनः पूर्ववत् आचरण करे ॥ २१–२२ ॥ ऐसे ही जब सूर्य कर्क राशि में हो तब पूर्वाषाढा नक्षत्रयुक्त दिन में, जब सूर्य सिंह राशि में हो तब श्रवणनक्षत्रयुक्त दिन में पूर्ववत् करना चाहिये ॥ २३–२७ ॥ सूर्य जब कन्या राशि में हो तब पूर्वप्रोष्ठपदा नक्षत्र युक्त दिन में, जब तुला राशि में हो तब अश्विनी नक्षत्र युक्त दिन में, जब वृश्चिक राशि में हो तब कृत्तिका नक्षत्र

---

१ अत्र 'महर्षये'–इति पाठेन भाव्यमिति टीकाऽभिप्रायः । २ ख. °न्तेऽस्यैके° ।

तुलां प्राप्ते तु मार्तण्डे चाश्विन्यां प्रातरेव च ।
नवामस्यां नरः स्नात्वा दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ ३० ॥
प्रदक्षिणप्रणामादि कृत्वा नक्तं समाचरेत् ।
सूर्ये वृश्चिकसंयुक्ते कृत्तिकायां द्विजर्षभाः ॥ ३१ ॥
पूर्वोक्तेनैव मार्गेण नरः कृत्वा समाहितः ।
त्यक्त्वाऽहर्भोजनं मर्त्यो रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ ३२ ॥
आदित्ये चापसंयुक्ते चान्द्रनक्षत्रके नरः । कृत्वा तु पूर्ववद्देवि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३३ ॥
सूर्ये मकरसंयुक्ते पुष्यनक्षत्रके नरः । पूर्ववत्सकलं कृत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३४ ॥
माघे मासि मघर्क्षे तु कृत्वा पूर्ववदास्तिकाः ।
त्यक्त्वाऽहर्भोजनं विप्रो नक्तभोजनमारेत् ॥ ३५ ॥
मार्तण्डे कुम्भराशिस्थे मघानक्षत्रके नरः । पूर्ववत्सकलं कृत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३६ ॥
आदित्ये मीनराशिस्थे फल्गुन्यां देवि मानवः ।
पूर्ववत्सकलं कृत्वा रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ ३७ ॥

अजैकपद इति । 'अज एकपाद्देवता प्रोष्ठपदा न' इति श्रुतेः पूर्वप्रोष्ठपदाख्यमजैकपदम् ॥ २८–३२ ॥ चान्द्रेति । मृगशीर्षं नक्षत्रम् । 'सोमो देवता' इति श्रुतेश्चान्द्रं मृगशीर्षाख्यम् । पूर्ववदिति । सुवर्णमुखरीस्नानादिकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ३३–३७ ॥

युक्त दिन में, जब धनु राशि में हो तब मृगशीर्षनक्षत्र युक्त दिन में, जब मकर राशि में हो तब पुष्य नक्षत्र युक्त दिन में, माघ मास में मघानक्षत्र वाले दिन में, सूर्य जब कुंभ राशि में स्थित हो तब भी मघा नक्षत्र युक्त दिन में, जब मीन राशि में हो तब फल्गुनी नक्षत्र युक्त दिन में पूर्ववत् सब कुछ करे तथा (कन्याराशि में स्थित सूर्य के काल से अंत तक सभी उक्त दिनों में) एक ब्राह्मण को भोजन भी दे ॥ २८–३७ ॥ प्रसन्नतापूर्वक हर महीने ऐसा करने वाला जब मरने लगता है तब मैं उसे परम ज्ञान दे देता हूँ ॥ ३८ ॥ इस व्रत के पालन से मनुष्य मेरा परम पद अवश्य पा लेता है । यह सबके लिये सुकर उपाय मैंने बता दिया है ॥ ३९ ॥ दक्षिणकैलास में थोड़ा सा भी दान मेरुदान के तुल्य है । यहाँ नित्य निवास करना निःसंशय मोक्ष देता है ॥ ४० ॥ समस्त दोषों को तुरंत नष्ट करने की सामर्थ्य इस स्थान में है । कामनावान् को भोग प्रदान करना भी इस स्थान की विशेषता है ।

मासि मासि मनुजः समाचरेदेवमेव परया मुदा सह ।
देहनाशमवलोक्य [1]तत्क्षणे ज्ञानमस्य परमं ददाम्यहम् ॥ ३८ ॥
व्रतसमाचरणेन महेश्वरि ध्रुवमवाप पदं मम मानवः ।
इति समीरतिमीश्वरि ते मया सुकरमेतदशेषजनस्य तु ॥ ३९ ॥
अत्र दत्तमणुमात्रमप्युमे मेरुतुल्यमिति शास्त्रनिश्चयः ।
नित्यमत्र मनुजस्य वर्तनं मुक्तिसिद्धिकरमित्यसंशयः ॥ ४० ॥
स्थानमेतदमरेन्द्रवन्दिते दोषतूलनिकरस्य पावकः ।
भोगहेतुरपि कामिनां नृणां [2]भागधेयसहितस्य सिध्यति ॥ ४१ ॥
अस्य वैभवमशेषनायिके नैव वेद परिमोहितो जनः ।
मत्प्रसादमवलम्ब्य केवलं देवि वेद न च कारणान्तरैः ॥ ४२ ॥
पापराशिसहितोऽपि नास्तिकश्चाविवेकसहितोऽपि मानवः ।
कालहस्तिमवलम्ब्य केवलं देवि याति परमं पदं मम ॥ ४३ ॥

अत्र द्वादशस्वपि मासेषु तिथिविशेषस्यानुपादानात्पौर्णमासीयोगाभावेऽपि चित्रादितत्तन्नक्षत्रमेव प्राधान्यात्तद्व्रताङ्गत्वेन विवक्षितम् ॥ ३८–४३ ॥ परमेश्वरादन्यस्य परित्यागेन तस्यैव मुक्त्युपायत्वेनाऽऽश्रयणे श्रुतिं संवादयति–साध्वीति ।

यहाँ रहने वाले के वंशजों का भी कल्याण हो जाता है ॥ ४१ ॥ अज्ञानवश अविवेकग्रस्त लोग इस स्थान की महत्ता नहीं समझते । केवल मेरी कृपा से ही यह समझा जा सकता है ॥ ४२ ॥ पापराशियुक्त नास्तिक हो या अविवेकी पुरुष, कालहस्तीश्वर का अवलंबन लें ले तो परम पद पा जाता है ॥ ४३ ॥ सद्यः मोक्ष देने वाला, सकल अभीष्टप्रद, सम्यग् ज्ञान प्रदान करने वाला यह परम स्थान मेरे, हरि के, ब्रह्मा के व देवों के द्वारा भी प्रेम से प्राप्य है । बुद्धिमानों में श्रेष्ठ को अप्रमादी हो, सदा इसका सेवन करना चाहिये । अन्य सब छोड़कर परमेश्वर का ही सहारा लेना मोक्ष का एकमात्र उपाय है, ऐसा निर्दुष्ट श्रुति ने बताया है ॥ ४४ ॥

---

१ घ. °त्क्षणाज्ज्ञान° । २ भागधेयो दायादे हैमकोशे प्रसिद्धः ।

सद्योमुक्तिकरं[1] परं सकलदं सम्यक्परिज्ञानदं
भक्त्या लभ्यमिदं मयाऽपि हरिणा धात्राऽपि देवैरपि ।
स्थानं नित्यमतन्द्रितो मतिमतामग्रेसरश्चाऽऽश्रये[2]
त्यक्त्वा सर्वमशङ्कितः परतरा साध्वी श्रुतिश्चाऽऽह हि ॥ ४४ ॥

सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेव्यै महाताण्डवपण्डितः ।
आलिलिङ्गे शिवां शंभुः स्मरन्नैक्यं तयाऽऽत्मनः ॥ ४५ ॥

देवदेवी जगन्माता दयार्द्रहृदयाम्बुजा । प्रणम्य पूजयामास भवं भवहरं परम् ॥ ४६ ॥

यदुक्तं देवदेवेन देव्यै रहसि तद्द्विजाः । मयोक्तं परमप्रीत्या युष्माकं ब्रह्मवादिनाम् ॥ ४७ ॥

भवन्तोऽपि परित्यज्य समस्तं परया मुदा । सद्योमुक्तिकरं स्थानं भजध्वमिदमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

सर्वमुक्तं समासेन सादरं मुनिपुंगवाः । एतदन्यन्मनुष्याणां कालक्षेपस्य कारणम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमकथनं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सा च 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इत्यादिका ॥ ४४ ॥ **स्मरन्नैक्यमिति** । परशिवस्वरूपस्यैव शक्यप्रतियोगिशक्त्यनुप्रवेशेन शक्तित्वादुपाधिकृतं शिवशक्त्योर्भेदं परित्यज्य पारमार्थिकमेकत्वमनुसंदधान इत्यर्थः । प्रागप्युक्तम्– 'न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः । उमाशंकरयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति' ॥ ४५–४९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमकथनं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सूत जी बोले–ऐसा कहकर महाताण्डव में कुशल महादेव ने देवी व अपने अभेद का स्मरण कर उनका आलिंगन कर लिया ॥ ४५ ॥ भगवती ने भी उन्हें प्रणाम कर उनकी अर्चना की ॥ ४६ ॥ यों मैंने आपको सुकर उपाय प्रेमपूर्वक समझा दिया है । आप लोग परम भक्तिपूर्वक अन्य सब कुछ छोड़कर सद्यः मोक्ष देने वाले उत्तम स्थान का सेवन कीजिये ॥ ४७–४८ ॥ इस प्रकार संक्षेप में मैंने सारी बात (साध्य-साधन दोनों के संबंध में) बता दी है । इससे अतिरिक्त वार्तायें तो लोगों का समय बिताने का साधन ही है, (उनसे तत्त्व की बात इतनी ही निकलती है कि अन्य सब काम छोड़कर शिव का भजन व गुरु की सेवा करते हुए वेदान्तविचार से मोक्ष पावे ।) ॥ ४९ ॥

---

१ ग °रं समस्तफल° । घ. °रं तथा सकल° । २ आश्रयेदित्यर्थः ।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि मुनयः शंसितव्रताः ।
मुक्त्युपायमयत्नेन मया नोक्तमितः पुरा ॥ १ ॥
पुरा जैमिनिरत्यन्तश्रद्धया सह सुव्रताः । स्वगुरुं वेदवेदान्तविशारदमनुत्तमम् ॥ २ ॥
तपसा दीप्तसर्वाङ्गं पराशरसुतं प्रभुम् । प्रणम्य परया प्रीत्या दण्डवत्पृथिवीतले ॥ ३ ॥
निधाय मूर्ध्नि तत्पादपङ्कजं भवभेषजम् । अपृच्छल्लोकरक्षार्थमतिगुह्यमनुत्तमम् ॥ ४ ॥
जैमिनिरुवाच— भगवन्सर्वजन्तूनामयत्नेन विमुक्तिदम् ।
वद कारुण्यतो नाथ मम मायाविषापहम् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच— साधुसाधु मुनिश्रेष्ठ त्वया पृष्टं जगद्धितम् ।
पुरा पुराणं ब्रह्माणमिदं पृष्टं मयाऽपि च ॥ ६ ॥
ब्रह्मणा च महाविष्णुः पृष्टस्तेनापि शंकरः ।
स पुनः शंकरः श्रीमानम्बिकापतिरुत्तमः ॥ ७ ॥
स्वस्वरूपमहानन्दप्रमोदजलधिस्थितः । विष्णवे लोकरक्षार्थं बभाषे करुणानिधिः ॥ ८ ॥

श्रीकालहस्तिस्थानवद्व्याघ्रपुरादिस्थानविशेषेष्वनुष्ठितव्रतस्यापि मुक्त्युपायत्वमीश्वरप्रोक्तमिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति ॥ १–५ ॥ **ब्रह्माणमिदं पृष्टमिति** । प्रष्टव्यार्थस्य सामान्यावगतत्वेन प्राधान्यविवक्षणाद् ब्रह्मणश्चोपदेष्टृत्वेन गुरुत्वात्प्राधान्यं विवक्षितमिति पृच्छेरप्रधाने कर्मणि निष्ठा । प्रधानकर्मणि त्वनभिहिताधिकारविहिता द्वितीयैव । स्मर्यते हि–'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति ॥ ६–८ ॥

मुक्ति के उपाय का विचार नामक सैंतीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–विना प्रयत्न के मोक्ष पाने का उपाय जो अभी तक मैंने नहीं वताया है, अब बताता हूँ ॥ १ ॥ पूर्वकाल में जैमिनि ने अत्यन्त श्रद्धा से अपने गुरु पराशर-सुत व्यासदेव से इस संवंध में पूछा था । व्यासजी वेद व उसके सिद्धान्त के मर्म के ज्ञाता हैं । उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है जो वेदविद्या में पारंगत हो । तपस्या के तेज से उनका देह सदा दीप्तिमय रहता है । उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर भवरोग की औषधिरूप उनके चरणकमल को अपने मस्तक पर रख लोकरक्षा के लिये यह रहस्य पूछा– ॥ २–४ ॥ जैमिनि बोले–'हे भगवन् ! हे नाथ ! मुझ पर करुणा कर वह उपाय बताइये जिससे विना प्रयत्न के सभी जन्तु मायाविष को निर्वीर्य कर मोक्ष पा जायें ॥ ५ ॥

व्यासजी ने कहा–हे श्रेष्ठ मुनि ! सबके हित की तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है । पहले मैंने भी ब्रह्मा जी से यह पूछा था ॥ ६ ॥ ब्रह्मा जी ने महाविष्णु से और उन्होंने शंकर से यही जिज्ञासा की। अम्बिकापति सर्वश्रेष्ठ श्रीमान् शंकर ने संसारी लोगों की रक्षा के लिये विष्णु को इस प्रश्न का उत्तर दिया था । महादेव निजस्वरूपात्मक परमानन्द के उद्रेकरूप समुद्र में ही स्थित रहते हैं और करुणा की अगाध खान हैं ॥ ७–८ ॥

ईश्वर उवाच— स्थाने पृष्टं त्वया विष्णो जगतः पालने रतः ।

वदामि संग्रहेणाहं मुक्त्युपायमयत्नतः ॥ ९ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरं नाम स्थानमस्ति महीतले । सर्वदा परमप्रीत्या यत्र नृत्यं करोम्यहम् ॥ १० ॥

तत्र मामादरेणैव नृत्यमानं दिने दिने । दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं मन्त्रं सतारं सर्वसिद्धिदम् ॥ ११ ॥

यस्तु द्वादशसाहस्रं जपति श्रद्धया सह ।

तस्य सिद्धा परा मुक्तिर्विना विज्ञानमुत्तमम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासे तथा वृद्धाचलाभिधे । तथा गोपर्वते शुद्धे तथा वल्मीकसंज्ञिते ॥ १३ ॥

अधिग्रामसमाख्ये च स्थाने सर्वफलप्रदे । सोमनाथे तु गोकर्णे तथा भीमेश्वराभिधे ॥ १४ ॥

वेदारण्ये विशिष्टे तु श्वेतारण्ये तु शोभने ।

हस्तिकाननसंज्ञे च तथा जप्येश्वराभिधे ॥ १५ ॥

कुम्भकोणे महास्थाने तथा मध्यार्जुनाभिधे ।

वाराणस्यां तु केदारे तथा रामेश्वराभिधे ॥ १६ ॥

हालास्ये च हरे नित्यं दृष्ट्वा मामादरेण च ।

जपित्वा पूर्ववन्मन्त्रं मुच्यते भवबन्धनात् ॥ १७ ॥

स्थाने पृष्टमिति । सतारं सप्रणवमित्यर्थः ॥ ९–१७ ॥ महापातकदूषितस्यापि स्थानविशेषमहिम्ना मुक्तिसिद्धिरितीतिहासमुखेन दर्शयति–**पुरा कश्चिदित्यादिना** ॥ १८-३२ ॥

ईश्वर ने कहा–हे विष्णु ! तुम जगत् का पालन करने में तत्पर हो, अतः तुमने सबके हित में उचित प्रश्न किया है । मैं संक्षेप में ही तुम्हे वह उपाय बताता हूँ जिससे यत्न के बिना ही मोक्ष मिलता है ॥ ९ ॥ पृथ्वी पर व्याघ्रपुर नामक स्थान है जहाँ मैं परम प्रसन्नता से नृत्य करता हूँ ॥ १० ॥ वहाँ रहकर श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन मेरा दर्शन (मेरी नटराज मूर्ति का दर्शन) और बारह हजार जप प्रणवयुक्त पंचाक्षर का जो करता है उसे अन्य साधनों से विज्ञान पाने का यत्न किये बिना ही मोक्ष मिल जाता है ॥ ११–१२ ॥ इसी प्रकार पूर्वोक्त जप तथा मेरा दर्शन करते हुए इन स्थानों पर रहने से भी भवबंधन से बिना अन्य आयास किये छूट जाता है–दक्षिण कैलास में, वृद्धाचल में, गोपर्वत में, वल्मीक में, सर्वफलप्रद अधिग्राम में, सोमनाथ में, गोकर्ण में, भीमेश्वर में, वेदारण्य में, श्वेतारण्य में, हस्तिकानन में, जप्येश्वर में, कुम्भकोण में, मध्यार्जुन में, वाराणसी में, केदारनाथ में, रामेश्वर में तथा हालास्य में ॥ १३–१७ ॥

पुरा कश्चिन्महापापी[1] द्विजः पुण्यविवर्जितः ।

महामोहावृतः साक्षान्मातरं तु पतिव्रताम् ॥ १८ ॥

गत्वा संवत्सरं हत्वा पितरं वृत्तसंयुतम् ।

निर्घृणो निर्भयो नित्यं चचार वसुधातले ॥ १९ ॥

चरतस्तस्य मूर्खस्य सदा तीव्रभयंकरः । मुसलोद्यतपाणिस्तु विभाति ब्रह्मराक्षसः ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा भीतिसंयुक्तः पूर्वपुण्यबलेन तु । हालास्याख्यं महास्थानमगमत्पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥

अदृष्टस्तत्क्षणादेव तेनैव ब्रह्मराक्षसः । सोऽपि विस्मयमापन्नो विचार्य कमलेक्षण ॥ २२ ॥

अहो माहात्म्यमस्यैव स्थानस्यातिभयंकरः ।

अस्मिन्देशे न दृष्टस्तु मया स ब्रह्मराक्षसः ॥ २३ ॥

अतो देहविनाशान्तं मयैवात्रैव वर्तनम् । कार्यमित्यभिसंधिं च हरे कृत्वा सुनिश्चलः ॥ २४ ॥

महापातकदूषितस्यापि स्थानविशेषमहिम्ना मुक्तिसिद्धिरितीतिहासमुखेन दर्शयति—पुरा कश्चिदित्यादिना ॥ १८ ॥

प्राचीन काल में एक महापापी ब्राह्मण था । पुण्य की तो उसमें गंध भी नहीं थी । अत्यन्त अविवेकी उसने एक साल में ही अपनी पतिव्रता माता और धनी पिता को मार दिया । निष्करुण व निर्भय हो वह यथेष्टाचरण करने लगा ॥ १८–१९ ॥ यों इधर-उधर घूमते हुए उसे एक बार एक भयंकर ब्रह्मराक्षस दीखा जो हाथ में मूसल लिये था ॥ २० ॥ उसे देख डर के मारे तथा पूर्वकृत किसी पुण्य के कारण वह हालास्य नामक उत्तम स्थान पर गया ॥ २१ ॥ वहाँ पहुँचते ही उसे वह ब्रह्मराक्षस दीखना बंद हो गया । वह ब्राह्मण आश्चर्य चकित हो सोचने लगा—'अहो इस स्थान का कितना माहात्म्य होगा कि यहाँ वह अतिभयंकर ब्रह्मराक्षस दीख भी नहीं सकता ! अतः अब मरणपर्यंत मैं यहीं रहूँगा ।' ऐसा उसने निश्चय कर लिया ॥ २२–२४ ॥ उस स्थान के सेवन से उसके सब पाप नष्ट हो गये ॥ २५ ॥ मेरी कृपा से किसी पंडित से उसने मेरे दर्शन और षडक्षरमंत्र जप की महत्ता सुनी और उनका अनुष्ठान करने

---

१ ख. ग. घ. ०पी पुण्यलेशवि० ।

अवर्तत महास्थाने सेवनेनैव तस्य तु । समस्तानि च पापानि विनष्टानि जनार्दन ॥ २५ ॥

मत्प्रसादेन विप्रस्य कस्यचिद्वचनं हरे ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा तु मां नित्यं हालास्याख्येऽतिशोभने ॥ २६ ॥

जपित्वा पूर्ववन्मन्त्रं षडक्षरसमाह्वयम् । अयत्नेन विमुक्तोऽभूत्संसारजलधेस्तु सः ॥ २७ ॥

अत्र दत्तं महादानं भवेत्स्थाने मम प्रिये । हुतमिष्टं तपश्चाल्पमप्यत्र सुमहद्भवेत् ॥ २८ ॥

अतो विशिष्टे मत्स्थाने चात्रैवान्यत्र वा नरः ।

दृष्ट्वा मामादरेणैव जपेन्मन्त्रं षडक्षरम् ॥ २९ ॥

एवमाचरतस्तस्य प्रसादादेव मे हरे । मुक्तिसिद्धिरयत्नेन भवत्येव न संशयः ॥ ३० ॥

इतोऽन्यत्सकलं विष्णो नराणां पापकर्मणाम् ।

अशक्यं कर्तुमत्यर्थं तस्मादुक्तं समाचरेत् ॥ ३१ ॥

सूत उवाच– एवं शिवेनैव समस्तदेहिनां विमुक्तिसिद्ध्यर्थमयत्नतः पुरा ।

सुभाषितं कारुणिकेन तन्मया प्रभाषितं वो मुनयः सुसाधनम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्त्युपायविचारो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्त्युपायविचारो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

लगा । यों नित्य करते रहने से वह अनायास ही संसारसागर से तर गया ॥ २६–२७ ॥ हालास्य में जो कुछ दिया जाता है वह महादान ही हो जाता है । छोटा भी यज्ञादि व तप यहाँ किया जाये तो महान् फल वाला होता है ॥ २८ ॥ अतः इस या अन्य मेरे किसी स्थान पर रहते हुए प्रतिदिन मेरा दर्शन और बारह हज़ार षडक्षर जप करना चाहिये ॥ २९ ॥ ऐसा करने वाले को मेरी कृपा से बिना यत्नान्तर किये मोक्ष मिल जायेगा ॥ ३० ॥ हे विष्णु ! इससे अन्य सभी शास्त्रोक्त साधन पापयुक्त लोग कर नहीं सकते, अतः मैंने जितना बताया है उतना ही उन्हें कर लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

सूत जी ने कहा–इस प्रकार शिव ने ही सब देहधारियों को अनायास मुक्ति देने वाला उपाय पहले ही बता दिया था । उसे ही करुणावान् मैंने आप लोगों को सुना दिया है ॥ ३२ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि सर्वसाधनमुत्तमम् । शृणुतातिप्रियेणैव द्विजाः सारतरोत्तमम् ॥ १ ॥
पुरा सत्यवतीसूनुः सर्वविज्ञानसागरः । सर्ववेदोदधेः पारो गुरुर्मे करुणानिधिः ॥ २ ॥
सर्वलोकोपकाराय साम्बं संसारभेषजम् । ध्यायमानो महाभक्त्या तताप परमं तपः ॥ ३ ॥
पुनः पुष्पादिभिर्देवं समाराध्य यथाबलम् । षडक्षरेण मन्त्रेण तुष्टाव[1] च महेश्वरम् ॥ ४ ॥
परतत्त्वाय तत्त्वानां तत्त्वभूताय वस्तुतः । स्वस्मादन्यविहीनाय नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥ ५ ॥

व्याघ्रपुरादिशिवक्षेत्रानुष्ठितव्रतच्छिवोपदिष्टं भुक्तिमुक्त्योरसाधारणं वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति । **सर्वसाधनमिति** । ऐहिकामुष्मिकभोगात्मिकाया भुक्तेः परापरमुक्त्योश्चायमसाधारण उपाय इत्यर्थः । **सारतरोत्तममिति** । सांख्यादिभिः श्रेयःसाधनतया प्रतिपदितोऽर्थः सारः । तदपेक्षया स्वतःप्रमाणत्वेन निर्दुष्टवेदवाक्यप्रतिपादितानि ज्ञानकर्माणि सारतराणि तेषूत्तममिति पुरुषोत्तमपदवत्सप्तमीसमासः । षष्ठीसमासस्तु न शक्यः 'न निर्धारणे' इति तन्निषेधात्[2] । न च 'सन्महत्परमोत्तम' इति प्रथमासमासोऽपि । सारतरशब्दस्य पूज्यमानवचनत्वाभावात् ॥ १–४ ॥ सच्चिदानन्दस्वप्रतिष्ठाद्वितीयसायुज्यरूपाया मुक्तेः साधनस्य प्राधान्येन बुभुत्सितत्वात्तदनुगुणैर्विशेषणैः परमेश्वरं स्तोतुमारभते–**परतत्त्वायेत्यादिना** । षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतत्वेन परतत्त्वात्परमार्थत्वाच्च सच्चिदानन्दैकरसं स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परशिवस्वरूपं परं तत्त्वम् । तस्य परतत्त्वत्वमुपपादयति–**तत्त्वानां तत्त्वभूतायेति** । आप्रलयस्थायीनि शिवतत्त्वशक्तितत्त्वशक्तितत्त्वादीनि [3]पृथिव्यन्तानि शुद्ध मिश्राविशुद्धादिभेदेनावस्थितानि षट्त्रिंशत्तत्त्वानि । तदुक्तम्–'आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् । तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादितत्त्वमतः' इति ॥ यथा रज्ज्वामारोपितस्य मायामयस्य स्रक्सर्पदेर्वाधोत्तरकालं तत्रैव लयादधिष्ठानभूता रज्जुरेव तत्त्वम्, एवमुक्तानां तत्त्वानामपि प्रागुक्तपरशिवस्वरूपे परिकल्पितत्वात्तेषां वास्तवं रूपं सच्चिदानन्दात्मं सर्वाधिष्ठानं परशिवस्वरूपमेवेत्यर्थः । **स्वस्मादिति** । यतस्तत्परशिवस्वरूपं तत्त्वानामपि तत्त्वमतः परशिवः स्वस्मादन्यविहीनः । ननु वियदादिभूतभौतिकप्रपञ्चः परमेश्वररूपादन्यतयाऽनुभूयत एवेत्यत आह–**वस्तुत** इति । अनुभूयमास्य सर्वस्य माया परिकल्पितस्यावस्तुत्वात् परमार्थतोऽन्यस्य विरहादन्यविहीनत्वम् । नमस्कारस्य नन्तृनन्तव्यसापेक्षत्वान्नन्तव्यात्परशिवस्वरूपादन्यो नन्ताऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः । तथा च कथमन्यविहीनतेति तत्राऽऽह–**स्वस्मादिति** । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेः । जीवभावेनानुप्रविश्य परशिवस्वरूपस्यैवावस्थानान्नन्तुः स्वात्माऽपि न ततोऽतिरिक्त इत्यर्थः । **स्वयंभुव** इति । स्वयमेव भवति सत्तां लभत इति स्वयंभूः स्वात्मनैव लब्धसत्ताको न वस्त्वन्तरवदन्याधीनसत्ताक इत्यर्थः । 'नेह नानाऽस्ति किंचन' 'अथात आदेशो नेति' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'स्वयंभु ब्रह्म परमं तपो यद् ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' इत्यादिश्रुतिषु परशिवस्वरूपस्यान्यविहीनत्वं स्वयंभुत्वं च बहुशः आम्नातम् ॥ ५ ॥

मुक्तिसाधन-विचार नामक अड़तीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं भोग व मोक्ष का वह साधन बताता हूँ जो उत्तम उपायों में श्रेष्ठ है । अत्यंत प्रेम से सुनिये ॥ १ ॥ पूर्व काल मे सत्यवतीपुत्र, सब विज्ञानों के सागर, सब वेदों में पारंगत, करुणावान्, मेरे गुरु व्यास जी ने सब लोगों का उपकार करने के लिये भगवान् साम्ब सदाशिव का ध्यान करते हुए घोर तप किया था ॥ २–३ ॥ पुष्पादि से यथाशक्ति उनकी पूजा की, षडक्षर मंत्र का जप किया और महेश्वर की स्तुति की ॥ ४ ॥

स्वयं होने वाले परमशिव को नमस्कार है । वे छत्तीस तत्त्वों से परे हैं तथा वास्तविक हैं, (अविद्या, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच रूपादि विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अंतःकरण, भोग, वासना, कामना, कर्म, जीव और ईश्वर–ये छत्तीस स्फुट तत्त्व है । दार्शनिक परिगणन अन्यत्र देखना चाहिये ।) अन्य सभी तत्त्व मानी गयी वस्तुयें उनमें ही परिकल्पित हैं । एवमपि वस्तुतः उनसे भिन्न तात्त्विक या अतात्त्विक कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥ सर्वात्मा महादेव को प्रणाम है । चिच्छक्ति, जडशक्ति व उनके भेद सभी वस्तुतः शिवरूप

---

१ च. "व परमश्व° । २ यस्मान्निर्धार्यते यश्चैकदेशो निर्धार्यते यश्च निर्धारणहेतुः–एतत्त्रितयसंविधाने सत्येवायं निषेध इति कैयटः (५.३.५७) इति ज्ञेयम् ३ घ. पृथिव्यादीनि ।

चिच्छक्तिर्जडशक्तिश्च तद्भेदाश्च तथैव च । यदेव तत्त्वतो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।

विराडाद्याश्च देवाश्च यन्मात्रं तं नुमः शिवम् ॥ ७ ॥

महासत्त्वाश्च ये जीवा मध्यसत्त्वाश्च चेतनाः ।

विहीनाश्चैव यन्मात्रं तं नमामि महौजसम् ॥ ८ ॥

एतदेवान्यविहीनत्वमुपपादयति–**चिच्छक्तिरि**त्यादिना । स्रष्टव्यजगदात्मकशक्यप्रतियोगिको मायापरिणामविशेषो **जडशक्ति**स्तदवच्छिन्ना परशिवस्वरूपभूता चिदेव **चिच्छक्तिः** । **तद्भेदा** इति । तयोः शक्त्योर्भेदा इच्छाज्ञानक्रियाद्याः । अखिलजगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्योपकरणभूतं चिच्छक्त्यादिकं सर्वं तत्त्वतः परमार्थतो निरूपणे तदेव वस्तु भवति । अयमभिप्रायः–येयं परमेश्वरस्य जडशक्तिर्ये च तद्भेदास्तस्य सर्वस्य मायामयत्वेन स्वरूपतोऽपि परतत्त्वेऽध्यासाद् यदिदं रजतं न तद्रजतं किंतु शुक्तिरिति तद्बाधायां सामानाधिकरण्यं यदिदं जडशक्त्यादिकं नैतदपि तु परतत्त्वमेवेति । अत एव पञ्चपादिकायां जडप्रपञ्चस्य स्वरूपतोऽप्यध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वं सत्यानृते मिथुनीकृत्येतिभाष्यव्याख्यानावसरेऽभिहितम् 'सत्यमनिदं चैतन्यमनृतं युष्मादर्थस्तस्य स्वरूपतोऽप्यध्यस्तत्वाद्'इति । चिच्छक्तेस्तु परशिवस्वरूपत्वेन यथार्थत्वात् । द्वौ चन्द्रमसावित्यादौ भेद एव केवलं मायामयत्वेनाध्यस्तः अतस्तन्निवृत्तये संसर्गसामानाधिकरण्यम् येयं परशिवस्वरूपभूता चिद्या च चिच्छक्तिर्न ते भिन्ने अपि त्वेकैव चिदिति । एवमुत्तरत्रापि सामानाधिकरण्यविशेषो द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥ **ब्रह्मे**ति । सृष्टिस्थितितिरोधानानुग्रहनिग्रह-व्यापाराः सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममूर्तयो ब्रह्माद्या विराडाद्या इत्याद्यपदेन स्वराट्सम्राजोः संग्रहः । ते च शिवमाहात्म्यखण्डे पूर्वमेवोक्ताः–'द्विधाकृत्य मुनिश्रेष्ठा अर्धेन पुरुषो भवेत् । अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्पुनः' इति ॥ आदिशब्देनोक्तव्यतिरिक्ता इन्द्राद्या इत्यर्थः । **यन्मात्रमि**ति । रज्ज्वा इदमंशे स्रक्सर्पादिवत्सर्वाधिष्ठानभूते सच्चिदानन्दात्मके परशिवस्वरूपे तदाश्रितमायावशेन ब्रह्मादीनां परिकल्पितत्वाद्वास्तवमेतेषामधिष्ठानादनन्यत्वं तन्मात्रमवधार्यते ॥ ७ ॥ **महासत्त्वा** इति । गजाद्या महासत्त्वाः । मध्यमसत्त्वा मनुष्याद्याः । **विहीनाः** क्रिमिकीटादयः । एवं प्रतीयमानस्य ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य मायामयप्रपञ्चाधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनापोह्यमानस्य बाधावधित्वेन परशिवस्वरूपं ताटस्थ्येन लक्षितम् ।

ही हैं अतः वे सब के आत्मा–सर्वात्मा हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, विराट् आदि सभी देवता रज्जु में सर्प की तरह जिन पर अध्यस्त हैं उन शिव को नमस्कार है ॥ ७ ॥ महान् तेजस्वी (शक्तिशाली) उन परमेश्वर को नमस्कार है जिनका ही स्वरूप अत्यधिक बल वाले, मध्यम

यस्य सत्ता जगत्सत्तारूपेणैवावभासते[1] । यं विना न जगत्तस्मै सदा साक्षात्सते नमः ॥ ९ ॥

यस्य भानं जगद्भानस्वरूपेण विभासते । यमृते न जगद्भानं तस्मै भानात्मने नमः ॥ १० ॥

यदानन्दोऽखिलानन्दो विभाति स्वयमेव तु । तं नुमः परमानन्दं परापरविवर्जितम् ॥ ११ ॥

यद्देशकालदिग्भागैर्न भिन्नं सर्वदाऽद्वयम् । यदेव विश्वं तद् ब्रह्म यथार्थं प्रणमाम्यहम् ॥ १२ ॥

[2]अनन्तमद्वयं पूर्णमेकमित्यामनन्ति यत् । आगमा अखिला नित्यं वन्दे तद्ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ १३॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय सांख्ययोगौ विनिर्गतौ । तं तदज्ञानचित्रस्य भित्तिभूतं नुमः शिवम् ॥ १४ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय [3]शब्दशास्त्रं समुद्बभौ । तं तदज्ञानचित्रस्य भित्तिभूतं नुमः शिवम् ॥ १५ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय कारणं परमाणवः । कल्पिता जगतो विप्रास्तं नुमः परमेश्वरम् ॥ १६ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय क्रियां सर्वफलप्रदाम् । कल्पयन्ति विना देवं तं वन्दे सकलप्रदम् ॥ १७ ॥

अथ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तत्स्वरूपं लक्षयन्नग्रतः पूर्वोक्तमधिष्ठानमात्रत्वं समर्थयते– यस्य सत्तेत्यादिना । प्रागुदीरितस्य सर्वजगदधिष्ठानस्य परशिवस्वरूपभूतं सत्त्वमेव तस्मिन् माययाऽऽरोपिते जगति स्रक्सर्पादिषु रज्ज्वा इदन्तानुगतिरिव ॥ ९-७५ ॥[4]

बल वाले और अत्यल्प बल वाले सब प्राणी हैं ॥ ८ ॥ उन साक्षात् सद्रूप शिव को प्रणाम है जिनका सद्रूप ही जगत् की सत्ता के रूप में प्रतीत होता है तथा जिनके विना जगत् की कोई स्थिति नहीं है ॥ ९ ॥ भानरूप उन सदाशिव को नमस्कार है जिनका स्वरूपभूत भान ही जगत् के भानरूप से प्रतीत होता है तथा जिनके बिना जगत् का भान असंभव है ॥ १० ॥ पर-अपर विभाजन रहित परमानन्दरूप महेश्वर को प्रणाम है जिनका स्वरूपभूत आनन्द ही स्वयं सब विषयानंदों के रूप में प्रतीत हो रहा है ॥ ११ ॥ जो देश, काल, दिशा इत्यादि विभाजनों में बँटा नहीं है, हमेशा अद्वितीय है और सर्व है वही यथार्थ ब्रह्म है, उसे प्रणाम है ॥ १२ ॥ उस ब्रह्म नामक परमात्मा को नमस्कार है जिसे शास्त्र अनन्त, अद्वय, पूर्ण व एक बताते हैं ॥ १३ ॥ जिनके स्वरूप को न समझने से सांख्य व योग मत बने हैं उन शिव को हम प्रणाम करते हैं जो उन विचारकों के अज्ञानप्रसूत चित्र की आधारशिला बने हैं ॥ १४ ॥ जिन शिव के स्वरूप को न जाननें से शब्दशास्त्र की उत्पत्ति हुई और उस समग्र कल्पनामयचित्र का आधार जो बन गये, उन्हें हम नमस्कार करते हैं ॥ १५ ॥ जिसकें स्वरूप को न जानने से जगत् के कारण रूप से परमाणु स्वीकार लिये गये हैं उन परमेश्वर को हम नमस्कार करते हैं ॥ १६ ॥ सकल-फल-प्रदाता जिन महादेव को समझे बिना ही यह मान्यता पनपी है कि कर्म बिना ईश्वरव्यापार के ही फल दे दिया करता है, उन्हें हम प्रणाम करते हैं ॥ १७ ॥ शरीररहित उस ईशान की हम वंदना करते हैं जिन्हें

---

१ ख. ग. ङ. "णैवविभा" । २ ङ. "आनन्दम" । ३ शब्दब्रह्मवादो व्याकरणशास्त्रमित्यर्थः । ४ बालमनोरमासंस्करणे ९–७८ श्लोकानां टीका 'बहुषु कोशेषु न दृश्यत' इत्युक्त्वाऽपि मुद्रिता ।

यत्स्वरूपमविज्ञाय देहमात्मेति मन्यते । तर्काभासैस्तमीशानं वन्दे देहविलक्षणम् ॥ १८ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय देहजानीन्द्रियाणि तु । आत्मेति मन्यते वन्दे तमिन्द्रियविलक्षणम् ॥ १९ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय प्राणमात्मेति मन्यते ।
वन्दे तं प्राणवेत्तारं प्राणं प्राणस्य सर्वदा ॥ २० ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय मनः संकल्पलक्षणम् ।
आत्मेति मन्यते भक्त्या वन्दे तं मनसः परम् ॥ २१ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय बुद्धिमात्मेति मन्यते । तं वन्दे बुद्धिबोद्धारं बोधरूपमविक्रियम् ॥ २२ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय सर्वप्रत्ययकारणम् । अन्तःकरणमात्मेति मन्यते तं नुमः शिवम् ॥ २३ ॥

यस्मिञ्जाग्रदवस्थैषा भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २४ ॥

यस्मिन्स्वप्नप्रपञ्चोऽयं भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २५ ॥

यस्मिन् सुषुप्त्यवस्थेयं भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २६ ॥

यस्मिन्क्लृप्तं तुरीयत्वं त्रिधामापेक्षयैव तु । तं तुरीयत्वनिर्मुक्तं वन्दे चिद्घनमीश्वरम् ॥ २७ ॥

यस्मिंस्तुरीयातीतत्वमध्यस्तं तदभावतः । तं वन्दे केवलं शुद्धं निर्विशेषं महेश्वरम् ॥ २८ ॥

न जानकर सदोष तर्कों से शरीर ही आत्मा मान लिया गया है ॥ १८ ॥ इंद्रियों से भिन्न उस आत्मतत्त्वरूप शिव को हम प्रणाम करते हैं जिनका स्वरूप गलत समझकर इंद्रियाँ चेतन मान ली गयी हैं ॥ १९ ॥ सदा सबके प्राण के भी प्राण, प्राण को जानने वाले जिस महेश्वर के विषय में ज्ञान न होने से प्राण को आत्मा मान लिया जाता है उन्हें हम नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥ भक्ति पूर्वक उन परमात्मा की वंदना करते हैं जिनके अज्ञान से ही संकल्प-रूप मन को हम आत्मा मान लेते हैं ॥ २१ ॥ ज्ञान रूप, अविकारी, निश्चयात्मिका बुद्धि के भी साक्षी उन शंभु को नमस्कार है जिनकी वास्तविकता न जानने से बुद्धि ही आत्मा समझ ली जाती है ॥ २२ ॥ उन शिव को हम नमन करते हैं जिनकी चिन्मात्ररूपता को न जानने के कारण सब ज्ञानों के कारणरूप अंतःकरण को आत्मा माना जाता है ॥ २३ ॥ उस ईश्वर को प्रणाम है जिसमें यह प्रत्यक्षानुभूत जाग्रदवस्था प्रतीत होती है और रहती भी है किंतु जो उस जाग्रदवस्था व उसकी प्रतीति इस द्विविध भ्रान्ति का अधिष्ठान और साक्षी है ॥ २४ ॥ जिसमें यह स्वप्नप्रपंच प्रतीत होता और रहता है तथा इस भ्रान्ति का जो अधिष्ठान साक्षी ईश्वर है उसे प्रणाम है ॥ २५ ॥ सुषुप्ति अवस्था जहाँ प्रतीत होती है, जिसमें रहती है, जो उसका अधिष्ठान है उस साक्षी से अभिन्न ईश्वर को नमस्कार है ॥ २६ ॥ चैतन्यातिरिक्त सभी स्वभावों से रहित उस ईश्वर की वन्दना करते हैं जो यद्यपि चौथेपन से रहति है तथापि तीन अवस्थाओं की दृष्टि से चौथा कहा जाता है ॥ २७ ॥ अद्वितीय, शुद्ध विशेषतारहित उस महेश्वर को प्रणाम करते हैं जिसमें वस्तुतः न होने पर भी तुरीयातीतता अध्यस्त है । (प्राप्तिपूर्वक प्रतिषेध का स्वारस्य होता है । तुरीयता ही अप्राप्त होने से तन्निषेधक अतीतता का विधान असंगत है, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ संख्या से असंबद्ध शिव को नमन है जिसमें एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि कल्पित है ॥ २९ ॥ किन्हीं दुर्लभ महात्माओं को ही प्राप्त होने वाले उस ईश्वर का हम वन्दन करते हैं जिसे कुछ लोग जीव से

एकत्वं च तथा द्वित्वं त्रित्वं यस्मिन्प्रकल्पितम् ।
बहुत्वं च तमीशानमसंख्येयं नुमः शिवम् ॥ २९ ॥
अभिन्नं च तथा भिन्नं भिन्नाभिन्नं वदन्ति यम् ।
तं सदा केवलं वन्दे केषांचिल्लभ्यमीश्वरम् ॥ ३० ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३१ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सदेश्वरसदाशिवौ[1] । यथार्थं ब्रह्म जानीतस्तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३२ ॥
यस्य विज्ञानासंपन्नाः सर्वदेवानशङ्किताः[2] । यथार्थं ब्रह्म जनन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३३ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना विभिन्नाजीवचेतनान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३४ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्ववेदानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३५ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः स्मृतीः सर्वा अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३६ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः पुराणानि च भारतम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३७ ॥

अभिन्न कहते हैं, कुछ भिन्न कहते हैं व कुछ उभयथा कहते हैं । (सिद्धान्त की आद्यकोटि, माध्वादि की द्वितीय तथा निम्बार्कादिकी तृतीय कोटि है ।) ॥ ३० ॥ जिसका अनुभव पाकर ब्रह्मा विष्णु व रुद्र ब्रह्म को यथार्थ समझ पाये हैं उस अद्वय परम तत्त्व को प्रणाम है ॥ ३१ ॥ उस परम अद्वितीय वस्तु को नमस्कार है जिसे जानने से ही ईश्वर और सदाशिव को सदा ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान रहता है ॥ ३२ ॥ जिनके स्वरूप को समझ लेने से सब देवता निःशंक हो ब्रह्मयाथार्थ्य का ज्ञान रखते हैं उन अद्वितीय परमात्मा को प्रणाम है ॥ ३३ ॥ उस परमेश्वर को नमन करते हैं जिन्हे सही तरह जानने से परमार्थदर्शी लोग सभी जीव-चेतनों को यथार्थ ब्रह्म समझते हैं । (विद्वान् ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ऐसा कभी समझता नहीं । जो भी कुछ प्रतीत होता है वह ब्रह्ममात्र है । जैसे सर्प, जलधारा आदि जो भी कुछ प्रतीत होता है वह रज्जुमात्र है ऐसा रज्जुवेत्ता का अनुभव है वैसे समझना चाहिये ।) ॥ ३४ ॥ जिनके जानकार विदान् निःशंक हो समस्त वेदों को ब्रह्ममात्ररूप समझते हैं उन परमात्मा को नमस्कार हैं ॥ ३५ ॥ जिन अद्वितीय महेश्वर को जानने वाले महात्मा सब स्मृतियों को ब्रह्मरूप मानते हैं उन्हें प्रणाम है ॥ ३६ ॥ पुराण व महाभारत जिन्हें जान लेने पर ब्रह्म मात्र ही समझे जाते हैं उन परमशिव को नमस्कार है ॥ ३७ ॥ जिनको समझ चुके लोग सब शैवागमों को केवल ब्रह्म रूप जानते हैं उन शशिशेखर को प्रणाम है ॥ ३८ ॥ जिनको जानने वाले विद्वान् विविध वैष्णवागमों को, ब्राह्म आगमों को, बौद्ध व जैन आगमों को,

१ भूतानां देवतात्वेन पूर्वं (४.१४) पञ्चब्रह्माध्याये निगदितानामिह ग्रहणम् । २ ये विज्ञानसंपन्नास्ते देवान् ब्रह्म जानन्ति ब्रह्मव्यतिरिक्ता देवा न सन्तीत्यत्र ते निःशंका इत्यर्थः यद्वा देवाः न शङ्किताः-इति च्छेदः ।

यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्वाञ्शैवागमानपि । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३८ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना विविधान्वैष्णवागमान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३९ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्राह्मानेतांस्तथाऽऽगमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४० ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना बुद्धार्हतागमानिमान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४१ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः शब्दान्सत्येतरादिकान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४२॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः विद्याः सर्वा अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४३ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नास्तर्कानन्योन्यबाधकान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४४ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना मानमध्यक्षपूर्वकम् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४५ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्राह्मणान्क्षत्रियान्विशः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४६ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः शूद्रानपि च संकरान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४७ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना आश्रमानखिलानपि । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४८ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना धर्माधर्मानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४९ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना वर्ज्यावर्ज्यानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५० ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना विद्याविद्या[1] अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५१ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना देहादीनखिलानिमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५२ ॥

सत्य व मिथ्या शब्दों को, सभी विद्याओं को, परस्पर विरोधी तर्कों को, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को, ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, वैश्यों को, शूद्रों को, संकरजाति वालों को, ब्रह्मचर्यादि सब आश्रमों को, धर्मों व अधर्मों को,

---

१ उपासनकर्मणी विद्याविद्ये ता इत्यर्थः । ज्ञानार्थकविद्यापदस्य पूर्वं (श्लो ४३) गतत्वात् ।

यस्य विज्ञानसंपन्ना जाग्रदादित्रयं सदा । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५३ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नास्तुरीयत्यादिकल्पनाम् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५४ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना भूमिं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५५ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना जलं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५६ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना अग्निं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५७ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना वायुं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५८ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना आकाशं तत्र कल्पितम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५९ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः शब्दस्पर्शादिकानिमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६० ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना महदाद्यखिलं जगत् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६१ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्वमेतदशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६२ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना [1]महामायामशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६३ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाश्चिच्छक्तिं विमलामिमाम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६४ ॥

वर्जित व अवर्जित (खाद्य आदि) को, विद्या व अविद्याओं को, समस्त शरीरादि को, जाग्रद् आदि अवस्थात्रय को, तुरीयता आदि की कल्पनाओं को, भूमि और उसके (ऊषरादि) भेदों को, जल और उसके (मीठा हल्का आदि) भेदों को, अग्नि और उसके (लौकिक, शास्त्रीय आदि) भेदों को, वायु और उसके (प्रवह आदि) भेदों को, आकाश और उसमें कल्पित दिशा आदि को, शब्द स्पर्श आदि को, महत्तत्त्व आदि सारे जगत् को, किम्बहुना ! इस सभी को यथार्थतः ब्रह्मरूप ही समझते हैं उन परम अद्वितीय महादेव को पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ३९–६२ ॥ जिनका ज्ञान पाये हुए लोग निःशंक हो महामाया को वस्तुतः ब्रह्मरूप जानते

---

१ नन्वज्ञानं कुतो ज्ञानरूपम् ? भ्रान्तोऽसि, बाधसामानाधिकरण्यस्येह प्रसंगे विवक्षणात् ।

यस्य विज्ञानसंपन्नाः प्रतीतमखिलं जगत् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६५ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः फलावाप्त्यै कदाचन ।

न किंचिदपि कुर्वन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६६ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः प्रत्यग्ज्योतिषि संस्थिताः । तमेव प्रत्यगात्मानं वन्देऽहंतादिवर्जितम् ॥ ६७ ॥

इदंरूपमहंरूपं यस्य भाति तमीश्वरम् । वन्देऽलक्षणमद्वंद्वमनिर्देश्यं स्वयंप्रभम् ॥ ६८ ॥

स्तुतिमितिनिवहस्य नैव गोचरं भवभयजलधेः सदैव तारकम् ।

अहमहमिति सततोदितप्रभं निखिलजगद्रहितं नमामि शश्वत् ॥ ६९ ॥

सूत उवाच– एवं व्यासेन सर्वज्ञः साम्बः सर्वफलप्रदः ।

अभिष्टुतो महादेवः प्रत्यक्षमभवन्मुने ॥ ७० ॥

हैं उन शिव को नमस्कार है ॥ ६३ ॥ जिसे समझ लेने पर इस निर्मला चिच्छक्ति को ब्रह्म रूप ही जाना जाता है उसे प्रणाम है ॥ ६४ ॥ जिस अद्वितीय शिवतत्त्व को जानकर सन्त लोग प्रतीत होने वाले सारे जगत् को यों समझते हैं कि यह वस्तुतः ब्रह्म ही है, उसे हम प्रणाम करते हैं ॥ ६५ ॥ (स्मर्तव्य है कि सर्प वस्तुतः रस्सी है कहने का गम्यमान यही अर्थ है कि सर्प है ही नहीं, रस्सी है । इसी रीति से प्रकृत प्रसंग स्पष्ट समझा जा सकता है । चिच्छक्ति आदि स्थल में शक्तित्वेन स्वरूपः कल्पित ही मानकर इसी ढंग से समझ सकेत हैं । अन्यथा उक्त स्थल पर मुख्य अभेद समझ सकते हैं ।) जिन परमेश्वर के अनुभव को पा चुके लोग फलप्राप्ति के लिये कुछ नहीं करते उन्हें नमस्कार है ॥ ६६ ॥ 'मैं'पना आदि से रहित उसी प्रत्यग्-आत्मा की वन्दना करते हैं जिस प्रत्यक्-प्रकाश में उसके जानकार स्थित रहते हैं । (विषयत्वेन प्रकाशमान पराक्-शब्द का वाच्य होता है । पराक्त्वका निषेध प्रत्यक्-शब्द का अर्थ है । वही आत्मा व प्रकाश शब्द का अर्थ है । उसे जानने वाला उससे अभिन्न ही है । अतः आत्मा क्योंकि कहीं–किसी पर–स्थित नहीं, कारण कि 'कुछ' है नहीं जहाँ वह स्थित हो व स्वयं में खुद स्थित होना संभव नहीं, इसलिये उसका जानकार अर्थात् वह खुद कहीं स्थित नहीं है ।) ॥ ६७ ॥ जिसका लक्षण 'यह' और 'मैं' रूप से प्रतीत होता है उस द्वन्द्वशून्य, अनिर्देश्य, स्वयम्प्रकाश ईश्वर की वंदना करते हैं । (ज्ञान कराने वाले को लक्षण कहते हैं–जिसके द्वारा लखाया जाये, दिखाया जाये, वह लक्षण है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' आदि से 'यह' अर्थात् विषयमात्र व 'मैं' अर्थात् विषयिमात्र परम शिव का ही ज्ञान कराते हैं । वे स्वयं 'यह-मैं' इस द्वन्द्व से रहित हैं । अत एव उनका 'यह' इस रूप से या 'मैं' इस रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता फलतः उनका कोई निर्देश नहीं ।) ॥ ६८ ॥ स्तुतियों से व सभी बुद्धियों से जिसे विषय नहीं किया जा सकता, भव रूप भय के समुद्र से तारने वाला जो सदा विद्यमान है, 'मैं, मैं' यों जो हमेशा भासता रहता है, सारा संसार जिसमें शशशृंगवत् है ही नहीं उस नित्य महेश को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६९ ॥

तं दृष्ट्वा देवदेवेशं देव्या सहितमव्ययम् । प्रणम्य प्रार्थयामास सर्वसाधनवेदनम् ॥ ७१ ॥

देवदेवोऽपि सर्वज्ञः प्रसन्नः सर्वसाधनम् । प्राह गम्भीरया वाचा मुनये मुनिसत्तमाः ॥ ७२ ॥

ईश्वर उवाच– वक्ष्ये विप्र समासेन सर्वसाधनमुत्तमम् ।

शृणुष्व श्रद्धया सार्धं मया नोक्तमितः पुरा ॥ ७३ ॥

अपेक्षितार्थः सर्वेषां भुक्तिर्मुक्तिश्च सुव्रताः । मुक्तिर्नानाविधा प्रोक्ता मया वेदानुसारतः ॥ ७४ ॥

तत्र सायुज्यरूपाया मुक्तेः साक्षात्तु साधनम् ।

सम्यग्ज्ञानं न कर्मोक्तं न तयोश्च समुच्चयः ॥ ७५ ॥

नित्यसिद्धाऽथवा मुक्तिः साध्यरूपाऽद्वयी गतिः ।

नित्यसिद्धा तु सर्वेषामात्मरूपाऽथवाऽपरा ॥ ७६ ॥

आत्मरूपैव चेन्मुक्तिर्नित्यप्राप्ता हि साऽऽत्मनः ।

नित्यप्राप्तस्य चाप्राप्तिर्विभ्रमः खलु देहिनाम् ॥ ७७ ॥

विभ्रमस्य निवृत्त्या सा प्राप्तेति व्यपदिश्यते ।

विभ्रमस्य निवृत्तिस्तु सिध्यत्यज्ञाननाशतः ॥ ७८ ॥

अज्ञानस्य विनाशस्तु ज्ञानादेव न चान्यतः ।

ज्ञानादज्ञाननाशस्तु प्रसिद्धः सर्वदेहिनाम् ॥ ७९ ॥

[1]लौकिकविभ्रमे प्रसिद्धेति दर्शयति–ज्ञानादिति ॥ ७९ ॥ एवं सिद्धान्तमभिधाय पूर्वपक्षं दूषयितुमाद्यपक्षस्य द्वितीयं

सूत जी बोले–व्यासदेव द्वारा इस प्रकार प्रशंसित हो साम्ब सदाशिव उनके संमुख प्रत्यक्ष उपस्थित हुए ॥ ७० ॥ उमा देवी सहित परमेश्वर का दर्शन कर उन्हें प्रणाम कर उनसे सभी मुक्तियों के साधनों के विषय में प्रश्न किया ॥ ७१ ॥ गंभीर वाणी में देवाधिदेव ने उत्तर दिया ॥ ७२ ॥

ईश्वर ने कहा–हे वेदज्ञ ! मैं संक्षेप में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ श्रद्धा से सुनो । इसको उपदेश अब से पहले मैंने कभी नहीं किया है ॥ ७३ ॥ सभी लोग (राग रहने तक) भोग और (वैराग्य हो जाने पर) मोक्ष चाहते हैं । (आनंदलक्षण मोक्ष सब को इष्ट है । रागी भी आनन्दाभिलाषी है । अतः मोक्ष की अव्यभिचरित पुमर्थता है ।) मुक्ति नाना प्रकार की है । इस मोक्षवैविध्य में श्रुति प्रमाण है ॥ ७४ ॥ उन मुक्तियों में जो परमसायुज्य मोक्ष है उसका साक्षात् साधन शिवात्मतत्त्व का सही ज्ञान है । कर्म या कर्मज्ञानसमुच्चय (सह-अनुष्ठान) परमसायुज्य का उपाय नहीं ॥ ७५ ॥ मोक्ष को या नित्यसिद्ध (सदा प्राप्त) मान सकते हैं या साध्य (प्राप्य) मान सकते हैं – ये दो ही संभावनाये हैं । नित्यसिद्ध मानने पर उसे आत्मरूप स्वीकार सकते हैं या आत्मा से भिन्न ॥ ७६ ॥ यदि नित्यसिद्ध मोक्ष को आत्मरूप मानें तब तो आत्मा को वह हमेशा प्राप्त ही है । फिर भी सदा प्राप्त मोक्ष को जो हम अप्राप्त समझते हैं वह देहधारियों का भ्रम है और वही उसकी अप्राप्ति है ॥ ७७ ॥ विभ्रम की निवृत्ति हो जाने से उस

१ ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः शुक्तिरजतादिवे" इति बाल. अधिकोऽपेक्षितश्च ।

अपरा सा परा मुक्तिर्नाऽऽत्मरूपैव चेन्मतम् ।
तदाऽपि मुक्तिः प्राप्या वा न प्राप्या वाऽऽत्मनो भवेत् ॥ ८० ॥
प्राप्या चेदात्मनो मुक्तिरप्राप्तप्राप्तिरेव सा । अप्राप्तप्राप्तिरप्यस्य संबन्धो वैक्यमेव वा ॥ ८१ ॥
संबन्धश्चेत्स साध्यो वा नित्यो वा साध्य एव चेत् ।
अनित्यः स तु संबन्धो भवेन्नित्यो न सर्वथा ॥ ८२ ॥
साध्यानामपि भावानामनित्यत्वं व्यवस्थितम् ।
अभावस्य न साध्यत्वं प्रध्वंसाख्यस्य सर्वदा ॥ ८३ ॥

विकल्पमाशङ्कते-**अपरेति** । सा नित्यसिद्धा मुक्तिर्नाऽऽत्मरूपाऽपि **त्वपरा**ऽऽत्मनोऽन्यैव चेन्मतमित्यर्थः । विकल्पासहत्वेनेमं पक्षं दूषयितुं विकल्पयति-**तदेति** ॥ ८० ॥

आत्मव्यतिरिक्ता किंवा प्राप्या, न प्राप्या वाद्यं पुनर्विकल्पं दूषयितुं फलितमर्थमाह-**प्राप्यात चेदिति** । अथ तमाद्यं पक्षं विकल्पयति-**अप्राप्तप्राप्तिरिति** । अप्राप्तप्राप्तिरूपा प्राप्या मुक्तिः किं संबन्धिद्वयघटितसंबन्धात्मिकोत संबन्धिनोस्तादात्म्यरूपा ? प्रथमेऽपि किमसौ संबन्धः साध्यो नित्यो वेति ? विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह-**साध्य एव चेदिति** । साध्यसंबन्धात्मिका मुक्तिः सर्वप्रकारेणानित्या स्यान्न च नित्यत्वमासादयेत् । तथा च मुक्तानामपि पुनः संसारप्रसङ्गः ॥ ८१-८२ ॥ व्याप्तिं दर्शयति-**साध्यानामिति** । चक्रचीवरतुरीवेमादिसाध्यानां घटपटादीनां भावानामनित्यत्वं दृष्टं । अतः साध्यत्वमनित्यत्वेन व्याप्तमित्यर्थः । अनैकान्तिकत्वं परिहरति-**अभावस्येति** । प्रध्वंसाभावस्य भावरूपसाध्यत्वधर्मयोगो न घटते । तथाविधधर्मयोगे तस्य घटादिवद्भावत्वमेव स्यात् । केनचिदपि धर्मेण निरुपाख्यस्यैवाभावत्वात् । अङ्गीकृत्येदं

प्राप्त होने वाला कह ज़रूर दिया जाता है पर वह प्राप्ति कहने भर की है क्योंकि प्राप्त वह सदा है । भ्रम की निवृत्ति उसके हेतुभूत अज्ञान के नाश से ही हो सकती है और अज्ञान का विनाश ज्ञान से ही संभव है अन्य किसी तरह नहीं । सभी लोग यह जानते हैं कि ज्ञान से अज्ञाननाश होता है ॥ ७८-७९ ॥ यदि उस परम नित्यसिद्ध मोक्ष को, जिससे परे और कुछ नहीं है, आत्मरूप न मानें तो भी उसे या प्राप्य मानना होगा या अप्राप्य ॥ ८० ॥ यदि आत्मा का प्राप्य उसे मानेंगे तो वह अप्राप्त की प्राप्ति होगी । उस प्राप्ति को आत्मा से सम्बंधमात्र स्वीकारेंगे कि आत्मा से ऐक्य ? ॥ ८१॥ यदि सम्बन्ध हो तो वह साध्य है या नित्य ? यदि साध्य ही है तो अनित्य ही होगा । साध्य कभी नित्य हो नहीं सकता (मोक्ष-सम्बन्ध अनित्य होने पर मोक्ष अर्थतः अनित्य हो जायेगा जो कोई मोक्षवादी स्वीकारता नहीं) ॥ ८२ ॥ कहा जा सकता है कि साध्य होने पर अनित्यता केवल भाववस्तुओं में होती है, अभाव में नहीं । किन्तु यहाँ जानने योग्य वात यह है कि प्रध्वंस नामक अभाव कभी साध्य होता ही नहीं है । साध्यत्वरूप विशेषता का आश्रय अभाव क्योंकर हो सकेगा ? (अभाव को किसी भी धर्म से निरुपाख्य मानना आवश्यक है, अन्यथा सोपाख्य होने पर वह भाव ही हो जायेगा । 'न होना' ही अभाव है । न होने में कुछ हो, यह तो असंभव ही है ।) अतः यह नियम सिद्ध होता है कि जो साध्य होता है वह अनित्य ही होता है । मोक्ष सम्बन्ध द्वारा मोक्ष को साध्य मानने पर उसे अनित्य मानना रूप अनिष्ट प्रसंग होगा ॥ ८३१/२ ॥ यदि मुक्तिसम्बन्ध को नित्य ही मान लें तब तो नित्यसिद्ध मुक्ति नित्य सम्बन्ध

साध्यत्वाख्यस्तु धर्मश्च नैवाभावाश्रयो भवेत् ।
नित्यो यदि स संबन्धस्तर्हि संबन्धसंज्ञिता ॥ ८४ ॥
मुक्तिश्च नित्यसिद्धैव मुमुक्षोरात्मनो भवेत् । तदाऽपि नित्यप्राप्ताया मुक्तेः प्राप्तिस्तु पूर्ववत् ॥
विज्ञानेनैव नान्येन सत्यमुक्तं द्विजोत्तम ॥ ८५ ॥
अप्राप्तप्राप्तिरूपाया मुक्तेरैक्यं भवेद्यदि ॥ ८६ ॥
तन्न युक्तं द्वयोरैक्यं न सिध्यति कदाचन ।
भिन्नयोर्भेदनाशे वा मुक्तिर्भेदे स्थितेऽथवा ॥ ८७ ॥
भेदनाशे तयोरैक्यं घटते वेदवित्तम । भेदे सति[1] तयोरैक्यमिति चेत्तन्न संगतम् ॥ ८८ ॥
भेदस्य संनिधावैक्यं विरोधान्नैव सिध्यति ।
न प्राप्या ह्यात्मनो मुक्तिरिति चेत्तन्न संगतम् ॥ ८९ ॥

प्रध्वंसाभावस्य नित्यत्वमनैकान्तिकत्वं परिहृतम् । सोऽप्यनित्य इत्युपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यते । अथाप्राप्तप्राप्तिर्नित्यः संबन्ध इति प्रथमस्य द्वितीयं कल्पं दूषयति-**नित्यो यदीति** । नित्यसंबन्धात्मिका मुक्तिरपि नित्यसिद्धैव न केनचित्साधनेन निष्पाद्या । तथा च नित्यप्राप्तैव सेति पूर्वोक्तं ज्ञानमात्रसाध्यत्वमावर्त्तत इत्यर्थः ॥ ८३–८५ ॥

अप्राप्तप्राप्तिस्तादात्म्यमिति द्वितीयं दूषयितुमनुभाषते–**अप्राप्तेति** । तं दूषयति–**तन्नेति** ॥ ८६–८७ ॥ तत्र वक्तव्यं किं भिन्नयोर्जीवेश्वरयोर्भेदनाशे तादात्म्यमुत भेदे सत्येव ? तत्राऽऽद्यो भवद्भिर्भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वाङ्गीकारात्तस्य चानाद्यनन्तत्वादनङ्गीकारः[2] परास्त इत्याह–**भेदनाश इति** । नापि द्वितीय इत्याह–**भेदे सतीति** ॥ ८८ ॥ कुत इत्यत आह–**भेदस्येति** । अभेदैकार्थसमवायिन एकत्वस्य भेदेन सहावस्थानानुपपत्तेरित्यर्थः । एवमात्मस्वरूपव्यतिरिक्ताया मुक्तेः प्राप्यत्वपक्षं दूषयित्वाऽप्राप्येति द्वितीयपक्षमनूद्य दूषयति–**न प्राप्येति** । अप्राप्यस्वभावाया मुक्तेः साधनशतेऽप्यनुमितेऽप्यप्राप्यत्वमेव, स्वभावस्यानपायात् । अतः साधनापेक्षाभावादयत्नेन[3] सर्वे मुच्येरन्नित्यर्थः ॥ ८९–९० ॥

होगी जिससे उसे किसी उपाय से साध्य नहीं कहा जा सकेगा । इस तरह सदा प्राप्त मोक्ष की जो प्राप्ति होगी वह पूर्ववत् विज्ञान द्वारा भ्रमनिवृत्तिरूप ही माननी पड़ेगी । अन्य कोई 'साधन' सिद्ध नहीं होगा । ८४–८५ ॥ अप्राप्त की प्राप्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति यदि सम्बन्ध नहीं, आत्मा से ऐक्य है ऐसा कहें; तो वह कहना असंगत है । कारण कि दो वस्तुओं का कभी वास्तविक ऐक्य संभव नहीं ॥ ८६½ ॥ मोक्ष और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानने पर और उनका ऐक्य होने से आत्मा का मोक्ष मानने पर प्रश्न उठता है कि उनका आपसी भेद नष्ट होने पर मुक्ति होगी, या भेद के रहते ? ॥ ८७ ॥ क्योंकि मुक्ति उनका ऐक्य माना गया है इसलिये भेद का नाश मानना लाजमी है । भेद न रहने पर ही ऐक्य संभव हो सकता है । दो वस्तुओं का भेद रहते हुए ही उनकी वास्तविक एकता हो जाये, यह असंगत है । भेद की संनिधि में ऐक्य नहीं रहा करता क्योंकि दोनों का विरोध है ॥ ८८½ ॥ (पूर्व में (श्लो. ८0) सूचित कल्पान्तर की परीक्षा करते हैं–) यदि स्वीकारें कि नित्यसिद्ध मोक्ष न आत्मरूप है और न उसका प्राप्य, तो यह स्वीकृति अनर्गल है क्योंकि अप्राप्य मुक्ति को कभी साधनों की अपेक्षा नहीं हो सकती–

---

१ घ. "ति भवेदैक्य" । २ आद्यः परास्तो यतस्त्वया तस्यानंगीकार इति योज्यम् । अनंगीकारपरास्त इति समस्तपाठोपलम्भश्चेदृजुः स्यात् । ३ यत्ने कृतेऽपि सर्वे न मुच्येरन्निति भावः । अयत्ने मोक्षाशा नास्ति । अयत्ने यत्ने चेति साध्याहारं योजनीयम् ।

अप्राप्यायास्तु मुक्तेश्च नास्त्यपेक्षा हि साधने ।
साधनेऽसति सा मुक्तिरप्राप्यैव सदा खलु ॥ ९० ॥
न नित्यसिद्धा सा मुक्तिः साध्यरूपैव चेन्मतम् ।
साध्यत्वे सत्यनित्यत्वं पूर्वमेवाभिभाषितम् ॥ ९१ ॥
प्रध्वंसस्य तु नित्यत्वं सर्वथा न भविष्यति ।
अचिद्रूपस्य सर्वस्य विनाशो गम्यते यतः ॥ ९२ ॥
भावत्वे सति साध्यत्वाद्विनाशोऽचेतनस्य तु ।
प्रध्वंसस्य तु साध्यत्वेऽप्यभावत्वेन हेतुना ॥ ९३ ॥
न सिध्यति विनाशस्तु, तच्च नैव सुसंगतम् ।
प्रागभावसामख्यस्याप्यनित्यत्वस्य दर्शनात् ॥ ९४ ॥

एवं सायुज्यरूपा मुक्तिः किं नित्यसिद्धेत साध्यरूपेति ? विकल्प्याऽऽद्यपक्षसंभवच्छङ्कानिरासेन कर्मनैरपेक्ष्येण सम्यग्ज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वमुपपाद्योक्तदोषानुवृत्तेर्द्वितीयो न युक्त इत्याह–**न नित्यसिद्धेति** । मुक्तेः साध्यत्वे घटादिवदनित्यत्वं स्यादिति पूर्वमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ९१ ॥ ननु साध्यत्वेऽपि प्रध्वंसाभाववन्मुक्तेर्नित्यत्वं किं न स्यादित्यत आह–**प्रध्वंसस्येति** । चिदात्मव्यतिरिक्तस्य सकलस्य चेत्यप्रपञ्चस्य नेह नानाऽस्तीत्यादिनिषेधकश्रुत्या बाधितत्वादनित्यत्वमवश्यमेष्टव्यमित्यर्थः ॥ ९२ ॥ ननु संगतिग्रहणादौ प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणान्तरसापेक्षशब्दस्य तद्विरोधे प्रामाण्यानुपपत्तेर्भावत्वे सति साध्यत्वमनित्यत्वसाधनम् । तथा च न प्रध्वंसे व्यभिचारः । तस्य साध्यत्वेऽपि भावत्वाभावादिति शङ्कते-**भावत्वे सतीति** ॥ ९३ ॥ तदेतदव्याप्त्या दूषयति–**तच्च नैवेति** । भवतु भावत्वे सति साध्यत्वादनित्यत्वं घटादिषु, प्रागभावस्यानित्यत्वेऽवश्यं कारणान्तरं वक्तव्यमुक्तहेत्वभावात् । [1]तच्चाभावत्वमेवाभावे[2] धर्मान्तरसमन्वयस्य[3] प्रागेव निरस्तत्वात् । तद्वत्प्रध्वंसस्यापि समानमिति तस्याप्यनित्यत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ९४–९५ ॥ एवं च भावत्वे सति साध्यत्वं घटादीनां भावानामनित्यत्वे

जिसे प्राप्त होना ही नहीं है उसे साधनों से क्या ? और साधनों के बिना भी वह अप्राप्त ही रहेगी । एवं च अप्राप्य मोक्ष मानने का मतलव है आत्मा की मुक्ति न मानना । और किसी की मुक्ति की तो संभावना नहीं, अत एव यह मत अनर्गल है ॥ ८९–९० ॥ (प्रथम विकल्प (श्लो. ७६) के द्वितीय पक्ष का विचार करते हैं–) यदि मानें कि मोक्ष नित्यसिद्ध नहीं किन्तु साध्य है तो अनित्यत्व दोष आ जायेगा । यह बताया जा चुका है (श्लो. ८२–८४) कि जो साध्य होता है वह अनित्य होता है ॥ ९१ ॥ जो तो वैशेषिकों ने कल्पना कर रखी है कि ध्वंसाभाव साध्य किंतु नित्य है वह सभी तरह से ग़लत है । (प्रथमतस्तु अभाव में साध्यता संभव नहीं यह निरूपित किया जा चुका है । तथा) जड सभी वस्तुओं का विनाश होना ध्रुव है । (अभाव जड है ही अतः अवश्य नाशवान् है) ॥ ९२ ॥ यदि तर्क करें कि साध्य जड भाव वस्तुएँ ही नाशवान् होती हैं (क्योंकि घटादि जड भाववस्तुओं में ही साध्यता व नाशवत्ता देखी

---

१ अभावत्वस्यानित्यत्वप्रयोजकत्वेऽपि साध्यनिष्ठाभावत्वं न नाशहेतुरिति प्रागभावस्य ह्यसाध्यत्वात्तथात्वेऽपि ध्वंसो नित्य एवेत्याशंक्य, अभावे साध्यत्वं न स्यातुमर्हति तथात्वे तस्य भावत्वप्रसंगादिति पूर्वोक्तं (श्लो. ८४) स्मारयति-तच्चेत्यादिना । २ क. घ. "मेव ध" । ३ घ. "मवाय" ।

प्रागभावस्य साध्यत्वाभावे सत्यप्यभावतः ।
अनित्यत्वं यदीष्येत प्रध्वंसस्यापि तत्समम् ॥ ९५ ॥
भावानामप्यभावानां साध्यानां मुनिसत्तम । असाध्यानां च सर्वेषामनित्यत्वे प्रयोजकम् ॥ ९६ ॥
अचेतनत्वमेवोक्तं नेतरद्व्यभिचारतः । चेतनस्य तु नित्यत्वं श्रुतिराह सनातनी ॥ ९७ ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण मुक्तिः सायुज्यरूपिणी ।
ज्ञानलभ्या क्रियामात्रान्न लभ्या न समुच्चयात् ॥ ९८ ॥
ज्ञानं नामाखिलं चेदं सद्रूपेणावभासनम् ।
क्रिया तु कारकापेक्षा न ज्ञानालम्बिनी सदा ॥ ९९ ॥

प्रयोजकं, प्रागभावस्यानित्यत्वेऽभावत्वमिति प्रयोजकद्वयाङ्गीकारकल्पनागौरवं स्यात्तस्मादुभयत्रानुगतं जडत्वमेवानित्यत्वप्रयोजकमङ्गीकार्यमित्याह–**भावानामिति** । **असाध्यानामिति** । परमाण्वाकाशकालदिगादीनि परैर्नित्यतयाङ्गीकारादसाध्यत्वेनाभिमतानि तेषामपीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नेतरदिति । इतरत्कृतकत्वादिकमिति यावत्[१] । कुत इत्यत आह–**व्यभिचारत इति** । प्रागभावादावनित्यत्वे सत्यपि तदव्याप्त्याऽननुगमादित्यर्थः । **श्रुतिराहेति** । सा च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादिका । प्रतिपादितमर्थं निगमयति–**तस्मादिति** ॥ ९७–९८ ॥ किं तज्ज्ञानमित्यत आह–**ज्ञानं नामेति** । अखिलस्य भोक्तृभोग्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य योऽयं सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारस्तत्सायुज्यमुक्तिसाधनमित्यर्थः । श्रूयते हि–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'इदं सर्वं

गयी है), प्रध्वंस साध्य जड होने पर भी अभाव है अतः नाशवान् नहीं होगा; तो यह तर्क संगत नहीं है । कारण कि उक्त तर्क का आशय है कि नाशवत्ता में जडता कारण नहीं किंतु भाववस्तु में साध्यता उसकी नाशवत्ता में कारण है । ऐसा तर्क करने वाले से हम पूछते हैं कि प्रागभाव की नाशवत्ता में क्या कारण हैं ? वह तो न साध्य है और न भाव । अतः उसकी नाशवत्ता में अन्य कोई कारण मानना पड़ेगा । अभाव में अभावत्व से अतिरिक्त कोई धर्म माना नहीं जा सकता अतः प्रागभाव की नाशवत्ता में उसकी अभावरूपता को ही कारण कहना होगा । ऐसा होने पर प्रध्वसं भी अभाव होने से ही नाशवान् हो जायेगा । (किंच नाशवत्ता में भाव तथा अभाव वस्तुओं में विभिन्न प्रयोजकों को माननारूप गौरव से अतिरिक्त कोई लाभ वैशैषिक को नहीं होगा ।) ॥ ९३–९५ ॥ अतः भाव, अभाव, साध्य, असाध्य सभी की अनित्यता का एक ही कारण है–उनकी जडरूपता । इससे अतिरिक्त अन्य कारण मानना ग़लत है क्योंकि कि वह अन्य कारण सब नाशवान् वस्तुओं में अनुगत मिलता नहीं । सनातन श्रुति ने चेतन को नित्य बताया है । (अतः आत्मत्व ही नित्यत्वका और जडत्व ही अनित्यत्व का प्रयोजक लाघवादि युक्ति से स्वीकार्य है । एवं च आत्मातिरिक्त मोक्ष को साध्य या असाध्य दोनों मानना अयुक्त सिद्ध हुआ तथा आत्मरूप मानने पर भी उसे नित्यसिद्ध ही मानना आवश्यक है यह निश्चित हुआ । नित्यसिद्ध आत्मरूप वस्तु की अप्राप्ति उसका अज्ञान ही हो सकता है ।) ॥ ९७ ॥ इसलिये उक्त प्रकार से परमसायुज्यरूप मोक्ष एकमात्र ज्ञान से प्राप्य है, न अकेले कर्म से और न कर्म सहित विद्या से ॥ ९८ ॥ भोक्ता-भोग्यरूप सारा प्रपंच सच्चिदानंद

---

१ नन्वेवं चेत्कथं 'नास्त्यकृतः कृतेने' त्यचूचुदच्छ्रुतिः ? नायं दोषः । कृतेन कर्मणा मोक्षो न सम्भवतीत्येव श्रुतेरर्थो, न तु कृतकत्वानित्यत्वयो र्व्याप्तिरपि, वाक्यभेदापत्तेः । अत एव संसारे कश्चिदपि नित्यः पदार्थो नास्ति ततः किं कृतेन वहुलायासेन कर्मणा संसारफलकेनेति भाष्यकारो वभाषे ।

अतः क्रियाया ज्ञानेन विरोधादेव सर्वदा ।
समुच्चयो न युज्येत कुतस्तेन परा गतिः ॥ १०० ॥
सारूप्याख्या तु या मुक्तिः सामीप्याख्या च याऽपरा ।
सालोक्याख्या च या तासां केवलं कर्म साधनम् ॥ १०१ ॥
ऐहिकामुष्मिकाकारा मुक्तयः सर्वदेहिनाम् ।
कर्मणैव हि सिध्यन्ति न ज्ञानेन विरोधतः ॥ १०२ ॥
ज्ञानं कर्म च वेदोक्तमेव नान्योदितं भवेत् ।
अन्योदितं तु विप्रेन्द्र व्यवहारेऽविवेकिनाम् ॥ १०३ ॥

यदयमात्मा' इत्यादि । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्य प्रतिज्ञातं परमुक्त्यसाधनत्वमुपपादयति–**क्रियेति** । अग्निहोत्रक्रिया हि कर्तृकरणकर्मादिभेदभिन्नकारकसापेक्षा सती तद्गोचरं द्रव्यदेवतादिविषयं शास्त्रजनितं विज्ञानमेव केवलमवलम्बते, न तु कर्तृकारणादिसकलभेदोपमर्देन जायमानं प्रतीचः परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानम् । तेन सह विरोधात् । उक्तं हि भगवद्भाष्यकारैः–'अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च' इति । अतो विरोधित्वे समसमयवर्तित्वाभावाद्वैतज्ञानकर्मणोः समुच्चय एव न संभवति । कुतस्तेन मुक्त्याशङ्केत्यर्थः ॥ ९९–१०० ॥

केवलं कर्मेति । उक्ताद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानरहितं द्रव्यदेवतादिज्ञानसहकृतं चरमभावेनावस्थितमग्निहोत्रादिकं हिरण्यगर्भादिसगुणब्रह्मोपासनरूपं च कर्मैव सारूप्याद्यपरमुक्तेः साधनमित्यर्थः ॥ १०१–१०३ ॥

रूप अद्वितीय ब्रह्म ही है ऐसा साक्षात्कार ही वह ज्ञान है जो अविद्यानिवृत्ति कर मोक्षप्रद है । क्रिया तो कर्ता करण आदि विभिन्न कारकों की अपेक्षा रखा करती है, भेदबाधक ज्ञान के सहारे तो क्रिया टिक ही नहीं सकती ॥ ९९ ॥ अतः क्रिया और निरुक्त ज्ञान का शाश्वतिक विरोध होने से उनका समुच्चय असंभव है तो उससे परम गति की आशा शशशृंगधनुष से शिकार मारने की आशा की तरह है । (वस्तुतः क्रिया कर्ता आदि भेद को सत्य मान उनमें श्रद्धालु ही कर्म में अधिकारी है । ज्ञानाभ्यासी उनकी असत्यता समझता है । जैसे पित्तवश तीता लगने पर भी गुड तीता है ऐसी श्रद्धा नहीं होती वैसे कारकादि में ज्ञानवान् को श्रद्धा नहीं होती । श्रद्धारहित का कर्माधिकार नहीं । अतः ज्ञान व कर्म का सहभाव असंभव है । भाष्य व बृहद्वार्तिक में कई तरह से इस बात को समझाया है । संक्षिप्त युक्तियों व उदाहरणों से यह विषय भामती में 'नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः ?' इस आद्यसूत्रभाष्य की व्याख्या में (पृ. ५८ सकल्पतरु संस्करण) देखना चाहिये ।) ॥ १०० ॥

सारूप्य, सामीप्य व सालोक्य नामक मोक्षों का तो साधन कर्म ही है । (उपासना भी मानसकर्म ही है अतः अवधारण उचित है ।) ॥ १०१ ॥ इहलोक में मिलने वाली (जेल से छूटना आदि रूप) व परलोक में मिलने वाली (सालोक्यादि) मुक्तियाँ सभी को कर्म से ही मिल सकती हैं, ज्ञान से नहीं । ज्ञान का तो इन सबसे विरोध है । (जो इहलोक व परलोक को ही समाप्त करने वाला है वह उनमें कुछ दिलाये यह कैसे संभव है ?) ॥१०२ ॥ उभयविध (परमसायुज्य तथा त्रिविध अपर) मोक्षों के लिये साधनभूत ज्ञान व कर्म वे ही हैं जो वेद में प्रतिपादित हैं । अन्य ज्ञान या कर्म किसी मोक्षके उपाय नहीं हैं ।

अपेक्ष्य बुद्धिं विज्ञानं कर्म चेति विधीयते ।
तथाऽपि व्यवहारे ते व्यावहारिकसिद्धिदे ॥ १०४ ॥
तस्मात्सर्वत्र नास्तिक्यं न कुर्यान्मतिमत्तमः ।
नास्तिक्यादेव सर्वेषां संसारे परिवर्तनम् ॥ १०५ ॥
सर्वमुक्तं समासेन साधनं मुनिसत्तम । गोपनीयमिदं तस्मादास्तिकस्य सदाऽद्भुतम् ॥ १०६ ॥
सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेवः साम्बः सर्वावभासकः ।
प्रनृत्य संनिधौ तस्य तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ १०७ ॥
साधनं तु सकलं परिभाषितं केवलं कृपयैव तु वो मया ।
नेतरत्कथितव्यमिह द्विजा मोह एव हि समस्तमितोऽन्यथा ॥ १०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अपेक्ष्य बुद्धिमिति । उत्तममध्यमाधमभावेनावस्थितानामधिकारिणां बुद्धितारतम्यमपेक्ष्य हिरण्यगर्भादिसगुणब्रह्म-विज्ञानमग्निहोत्रादिकर्म चोभयं समुच्चित्याभिधीयते–'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह' इत्यादिना । एते च ज्ञानकर्मणी व्यवहारदशायां व्यावहारिकफलप्रयोजने इत्यर्थः ॥ १०४–१०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अविवेकियों के व्यवहार मात्र में वे ज्ञान और कर्म कहे जाते हैं । वस्तुतः वे ज्ञान और कर्म हैं ही नहीं । वेदोक्त ही ज्ञान तथा कर्म होते हैं ॥ १०३ ॥ ज्ञान व कर्म का विधान अधिकारी की बुद्धिशुद्धि के अनुसार शास्त्र करता है । एवमपि व्यवहार चलाने वाले होने से वेद द्वारा अनुक्त को भी ज्ञान व कर्म कह देते हैं ॥ १०४ ॥ इसलिये बुद्धिमान् को कहीं भी नास्तिकबुद्धि नहीं करनी चाहिये । (लौकिक ज्ञानादि को लौकिक फललाभ का साधन मान कर चलना चाहिये, उसका अपलाप नहीं करना चाहिये । शास्त्रीय ज्ञानादि को मोक्षादिका उपाय स्वीकारना चाहिये, उनका अपलाप नहीं करना चाहिये । ज्ञान से मोक्ष होता है इतना मानकर कर्म व्यर्थ है कुछ फल नहीं देता इत्यादि प्रलाप अनर्थक है । जिसे ज्ञान समझ आ गया उसके लिये यह कहना वैसे ही व्यर्थ है और जिसे समझ आया नहीं उसे कर्म से भी दूर कर देने से वह और अधिक भ्रष्ट होगा । अतः शास्त्र को पूरा स्वीकार लेना उचित है यह अभिप्राय है ।) । नास्तिक बुद्धि से ही सब लोग संसारचक्र में घूमते रहते हैं, अतः वैसा निश्चय नहीं करना चाहिये ॥ १०५ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ यों मैंने सब मोक्षों के साधन तुम्हे बता दिये । इस अद्भुत विद्या को सुरक्षित रखे यह आस्तिक का काम है ॥ १०६ ॥

सूतजी बोले–इस प्रकार उपदेश देकर तथा मुनि व्यास के संमुख आनंदपूर्वक नृत्य कर सर्वप्रकाशक साम्ब महादेव वहीं अंतर्धान हो गये ॥ १०७ ॥ हे ब्राह्मणो ! शिवोक्ति द्वारा सकल साधन मैंने आप लोगों को समझा दिये हैं । इससे अधिक कुछ वक्तव्य नहीं है । उक्त प्रकार से अन्य किसी भी प्रकार की बात को (जहाँ मोक्ष का ज्ञानेतर कोई साधन कहा जाता हो) अविवेकपूर्ण ही जानना चाहिये ॥ १०८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
अविरोधं[1] तु वेदानामशेषाणां मुनीश्वराः ॥ १ ॥

अद्वैतवत्कर्तृकरणफलादिभेदभिन्नस्य द्वैतस्यापि श्रुतत्वाद् द्वैताद्वैतश्रुत्योर्मिथो विरोधेनाप्रामाण्यमाशङ्क्य तयोरविरोधं प्रतिपादयितुमारभते–अथात इति ॥ १ ॥

वेदों के अविरोध का निरूपण नामक उनतालीसवा अध्याय

(शिवज्ञान मोक्षहेतु निश्चित किया गया है । यह ज्ञान अनुभवरूप है । भामतीकार ने कहा है कि अनुभवात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार ही अभीष्ट है क्योंकि वही सकल दुःखों का निवारक और परमानन्द का अनावरक है : 'अनुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थः, निर्मृष्टनिखिलदुःखपरमानन्दरूपत्वात् ।' (१.१.२) शिव सिद्ध वस्तु हैं अतः उनका अनुभव संभव है, संभव ही नहीं आवश्यक भी है । अनुभव के बिना शिव का सर्वतोभावेन अज्ञान हटता ही नहीं । पंचपादिकाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जिस किसी सिद्ध वस्तु को हम ग़लत समझते हैं, उसका मिथ्याज्ञान (तद्विषयक ग़ैरसमझी) तब तक नहीं हटता जब तक उस वस्तु का अनुभव न हो जाये : 'सिद्धस्य साक्षाद्रूपेण विपर्यासगृहीतस्य सम्यग्ज्ञानेन साक्षात्करणमन्तरेण न मिथ्याज्ञानोदयनिवृत्तिः, द्विचन्द्रादिषु तथा दर्शनात् ।' (पृ. ९२८ कल.) । यहाँ जन्मतः नेत्रदोष वाले की दृष्टि से दृष्टांत समझना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार शिवतत्त्व का अनुभव अपेक्षित है इसलिये तद्विषयक विरोध नहीं रहना चाहिये । विरोधज्ञान होने पर अनुभव शंकित हो जायेगा । जैसे सूर्य का चलना हमें विज्ञानविरुद्ध रूप से ज्ञात है तो सूर्य के चलने के अनुभव के होते हुए ही हम उसे भ्रम समझ लेते हैं । इसी तरह यदि शिवतत्त्व के अनुभव से विरुद्ध बात हमें प्रमारूप से ज्ञात होगी तो अनुभव होते हुए ही हम उसे गलत ही समझेंगे । एवं च निश्चय न होने से शंकाकलंकित शिवानुभव भी हमें वैसे ही फल नहीं दे पायेगा जैसे कपड़े में लिपटा पारस लोहे को सोना नहीं बना पता । एतदर्थ शिवात्मविषयक विरोध परिहार्य हैं । श्रुतिप्रामाण्य के विषय में आस्तिक निःसन्दिग्ध हैं । श्रुति से ही यदि शिवात्मैक्यका विरोध होगा तो कभी अभेदधी निश्चित अनुभव रूप हो यह अंसभव होगा । अतः यहाँ मुख्यतः अद्वैत में श्रुतिविरोध का परिहार किया जा रहा है । पाश्चात्य अध्येता श्रुति को एक प्रमाणग्रंथ न मानकर नाना ऋषियों के मत-संकलन के रूप में उसे मानते हैं और जो उन्हें विरोध प्रतीत होते हैं उनको वस्तुतः वेदनिष्ट स्वीकारने में संकोच नहीं करते । उन्हें यह कहने में लज्जा नहीं आती कि वेद के कुछ वाक्य अद्वैतसाधक व कुछ वाक्य भेदसाधक हैं । अतः वे तथा उनके अनुसर्ता अन्य विचारक विरोधपरिहार का प्रयास नहीं करते अपितु वैसे प्रयास को ग़लत भी मानते हैं । किन्तु उनकी ये संभी मान्यतायें कुछ अन्धविश्वासों पर ही टिकी हैं, युक्ति व प्रमाण पर नहीं । श्रुति व स्मृति दोनों ने घोषित किया है कि समस्त वेद की परमशिव में एकवाक्यता है । इसी आधार पर परमर्षि ने समन्वयाधिकरण किंवा समन्वयाध्याय का प्रणयन किया है ।

---

१ वेद एकः प्रमाणं च, न हि तेन विरुद्धार्थावुपदेष्टुं शक्यौ, प्रतिवाक्यं मानहानप्रसंगात्, नापि वस्तुयाथात्म्ये विरोधः प्रामाणिकः समस्ति, अनैकान्तिकत्वापत्तेः तस्य च याथात्म्यघातकत्वादिति समन्वयाधिकरणमुपनिषदामेवाविरोधं न वक्ति किन्तर्हि वेदमात्रस्य । अत एव वेदायत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य इत्यादि श्रुतिस्मृती संगच्छेते तस्माद्विषयव्यवस्थयैव स्यादुपपत्तिः । न च भेदसत्यत्वे शास्त्रतात्पर्यं वैयर्थ्याद्, धर्मविधायकत्वहानेश्च, अन्यथा वाक्यभेदप्रसंगादित्याद्यन्यत्र विस्तरः ।

द्विविधो वेदराशिस्तु मुनयः संशितव्रताः । सत्याद्वैतपरः कश्चिद्वेदभागः समासतः ॥ २ ॥

कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु वेदभागोऽपरस्तथा । सत्यमेव सदाऽद्वैतमसत्यं द्वैतमास्तिकाः ॥ ३ ॥

द्वैतस्यापि च सत्यत्वं वर्णयन्तीह केचन । तदसंगतमध्यस्तं द्वैतं यस्मात्परात्मनि ॥ ४ ॥

अध्यस्तं हि सदा द्वैतं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत् । दृश्यत्वं द्वैतजातस्य संमतं सर्वदेहिनाम् ॥ ५॥

कर्मज्ञानकाण्डयोरविरोधं दर्शयितुं तावद्विषयभेदमाह–**सत्याद्वैतेति** । कश्चिदुपनिषल्लक्षणो यो वेदभागः स सर्वदा दार्धाविधुर्मद्वितीयं परशिवस्वरूपं तात्पर्येण प्रतिपादयति । अपरस्तु कर्मकाण्डात्मको वेदभागस्तत्स्वरूपे परिकल्पितं द्वैतप्रपञ्चमुपजीव्य स्वर्गादिफलाय यागहोमादिकं तात्पर्येण विधत्ते । अतो विषयभेदादविरोध इत्यभिप्रायः । विपरीतं न कुत इत्यत आह–**सत्यमेवेति** ॥ २–३ ॥ नन्वद्वैतात्मतत्त्ववद् द्वैतस्य जडप्रपञ्चस्याप्यविसंवादिव्यवहारदर्शनेनाऽऽरोपितरजतादिवैलक्षण्यात्पारमार्थिकत्वं किं न स्यादिति पराभिमतां शङ्कामनुभाषते–**द्वैतस्यापीति** । परिहरति–**तदिति** । विमतमसत्यमध्यस्तत्वाच्छुक्तिरूप्यवदिति भावः ॥ ४ ॥ हेत्वसिद्धिं[3] परिहरति–**अध्यस्तं हीति** । अविसंवादिव्यवहारदर्शनेऽपि दृश्यत्वहेतुना शुक्तौ रूप्यवद्द्वैतप्रपञ्चस्यापि दृग्रूपेऽद्वितीये परमात्मन्यध्यस्तत्वमङ्गीकार्यं तेन चासत्यत्वमित्यर्थः । हेतोः पक्षधर्मतामाह–**दृश्यत्वमिति** । द्वैतप्रपञ्चस्य स्वतो जडत्वेन भानासंभवाद् दृग्रूपेण स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपचैतन्येनैव [2]भास्यत्वाद् दृश्यत्वहेतुः कृत्स्नं पक्षं व्याप्य वर्तत इत्येतत्सर्वसंमतमित्यर्थः ॥ ५ ॥

केवल औपनिषद ही नहीं सारे वेद का कोई भी सतात्पर्यवचन शिवात्मैक्य का विरोधी नहीं यही बादरायण का दृढ उपदेश है । इसके अनुसार वेदार्थ संभव होने पर उसे विरोधी ढंग से प्रतिपादित करना ग़लत ही है । प्रमाणविरह में वेद को आर्षकृति क्योंकर स्वीकारा जा सकता है ? सत्य वैकल्पिक हुआ भी नहीं करता । यह तो जो लोग वेद सत्यबोधक है ऐसा नहीं मानने वाले नास्तिक हैं उन्हीं की कल्पना है कि वेदवाक्य विरुद्धार्थप्रतिपादक हैं । पद-वाक्यशास्त्रों की मर्यादाओं के पालकों ने सर्वांश में अविरोध ही स्वीकारा है । वेद के किसी भी तात्पर्य वाले अंश को अप्रमाणादि न मानने वाले आचार्य शंकर ने गीताभाष्योपसंहार में कहा है 'न च कर्मविधिश्रुतेरप्रामाण्यम्, पूर्वपूर्वप्रवृत्तिनिरोधेनोत्तरापूर्वप्रवृत्तिजननस्य प्रत्यगात्माभिमुख्यप्रवृत्त्युत्पादनार्थत्वात् ।' (पृ. ५३५ आ.आ.) । शास्त्र उसे बताने में प्रवृत्त है जो हम अन्य तरह से नहीं जान सकते–'तत्प्रामाण्यस्याऽदृष्टविषयत्वात्' (वहीं पृ. ५३४) । भेदवास्तवत्व तो यों ही सब मान रहे हैं । उसका उपदेश शास्त्र क्यों देगा ? अतः वह शास्त्र का प्रतिपाद्य ही नहीं होने से अद्वैतवाक्यों का शास्त्र से कोई विरोध नहीं । इसी विषय को पुराण में समझाया जा रहा है–)

सूत जी बोले–अब मैं अधिक विस्तार किये विना यह समझाऊँगा कि सारा वेद एक अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक है । (कर्मभाग मनोनैर्मल्य द्वारा और ज्ञानभाग साक्षात् शिवात्मैक्य में ही तात्पर्य रखता है ।) ॥ १ ॥ वेदराशि दो प्रकार की है । एक हिस्से का संक्षिप्त तात्पर्य है सत्य अद्वैत ॥ २ ॥ दूसरा हिस्सा कल्पित द्वैत को मानकर सफल साधनों का उपदेशक है । अद्वैत सदा सत्य है और द्वैत सदा असत्य ।

---

१ घ. "सिद्धं प" । २ ननु नित्यातीन्द्रियादावसिद्धिः ? मैवम्, अस्तित्वप्रकारकधीविषयत्वसमानाधिकरणं यथाकथंचित चित्सम्बन्धित्वमिह विवक्षितम् । ईश्वरीयवृत्तिसाधारणं वा भास्यत्वमतोऽदोषः ।

तस्माद् द्वैतपरो भागः कल्पितद्वैतगोचरः । अद्वैतं सर्वदा सत्यं भेदाभावात्कथंचन ॥ ६ ॥

अद्वैतमपि चाध्यस्तं यदि वेदविदां वराः । कुत्रैवाद्वैतमध्यस्तं नाद्वैते तदभावतः ॥ ७ ॥

केवलं कल्पिते द्वैते नाद्वैताध्याससंभवः । व्यवहारदशायां तु सत्येऽध्यासस्य दर्शनात् ॥ ८ ॥

द्वैते चाद्वैतमध्यस्तमिति वक्तुं न शक्यते । तस्याध्यासस्वरूपत्वाद् द्वैतस्य ब्रह्मवित्तमाः ॥ ९ ॥

एतद्द्वैतजालस्य[१] परिकल्पितत्वप्रतिपादनात्तद्गोचरस्य कर्मकाण्डस्य कल्पितविषयत्वं सिद्धमित्युपसंहरति-**तस्मादिति** । नन्वेवमद्वितीयस्याऽऽत्मनोऽप्यसत्यत्वं कस्मान्न स्यादित्यत आह-**भेदाभावादिति** । ईदृग्रूपदृश्यभावस्य भेदसापेक्षत्वान्निर्भेदे परमात्मनि तस्याभावाद् दृश्यत्वादभावेनाध्यस्तत्वासंभवादद्वैतस्य सर्वदा बाधवैधुर्यात्सत्यत्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥ एतदेवोपपादयितुं विकल्पयति-**अद्वैतमिति** । अद्वैतमपि द्वैतवद्यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि तस्य केनचिदधिष्ठानेन भवितव्यम् । निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः । किं तदधिष्ठानमद्वैतमेवोत द्वैतमिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह-**नाद्वैत** इति । **तदभावत** इति । तस्याऽऽरोप्यादद्वैतादन्यस्याद्वैतान्तरस्याभावादित्यर्थः[२] ॥ ७ ॥ न द्वितीय इत्याह-**केवलमिति** । अद्वैतस्याऽऽरोपेऽन्यस्याधिष्ठानस्यासंभवात्केवलं कल्पिते द्वैते तदध्यासो वक्तव्यः, सोऽपि न युक्त इत्याह-**व्यवहारेति** । परमार्थभूते शुक्तिशकलादौ रजताद्यध्यासस्य लोके दृष्टत्वात्तदनुसारेणाद्वैताध्यासस्याप्यधिष्ठानत्वेन सत्यभूतमेव किंचिद्वक्तव्यं न परिकल्पितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ भवतु लोके सत्यधिष्ठानत्वमद्वैताध्यासे त्वन्यस्यासंभवात्कल्पितस्यैवाधिष्ठानत्वमिति नियमः कस्मान्न भवतीत्यत आह-**द्वैते चेति** । द्वैतस्याध्यस्तैकशरीत्वादध्यस्तस्य[३] चाधिष्ठानात्परमात्मस्वरूपादनतिरेकादेकस्यैवाधिष्ठानत्वमारोपितत्वं चेति व्याहतमित्यर्थः ॥ ९ ॥

(जो दो तरह से बँटा हो वही द्वैत है-द्विधा इतं द्वीतं, स्वार्थेऽणि द्वैतम् । यहाँ दो शब्द एक से अतिरिक्त के तात्पर्य से है । अतः जो अनेक विभाजनों वाला अर्थात् सकारण विषयप्रपंच है वह द्वैत है । और द्वैत जिसमें नहीं है वह परमशिव ही अद्वैतशब्दार्थ हैं-द्वैतं यत्र न तद् अद्वैतम् ।) ॥ ३ ॥ कुछ सांसारिक लोग द्वैत की सत्यता का वर्णन करते हैं किन्तु वह संगत नहीं, कारण कि द्वैत परमात्मा में अध्यस्त, कल्पित, है ॥ ४ ॥ सीप में चाँदी की तरह दृश्य होने से द्वैत हमेशा अध्यस्त ही है । द्वैतप्रपंच दृश्य है इसमें किसी को संदेह नहीं ॥ ५ ॥ अतः वेद का वह भाग जो द्वैत से सम्बन्ध रखता है उसका विषय कल्पित द्वैत ही है (क्योंकि द्वैत है ही कल्पित । कोई सत्य द्वैत होता तो वेदविषय बन सकता था, किन्तु द्वैतमात्र दृश्य होने से कल्पित है अतः कल्पित द्वैत ही वेद का भी विषय बनता है ।) अद्वैत सदा सत्य ही है क्योंकि उसमें किसी तरह का भेद नहीं । (भेद दृश्य अतः कल्पित में ही संभव है ।) ॥ ६ ॥ हे वेदवेत्ताओं ! अद्वैत भी अगर अध्यस्त हो तो प्रश्न होगा अद्वैत किस पर अध्यस्त है ? वह अद्वैत पर ही अध्यस्त है, यह कहा नहीं जा सकता (क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं अपने पर अध्यस्त हो नहीं सकती और अद्वैत दो हैं नहीं कि एक अद्वैत दूसरे अद्वैत पर अध्यस्त हो जाये । किंच वह दूसरा अद्वैत पुनः अनध्यस्त मानना ही पड़ेगा अन्यथा पूर्ववद् आत्माश्राय या अन्योन्याश्रय, चक्रिका या अनवस्था की आपत्ति होगी ।) ॥ ७ ॥

---

१ घ. °जातस्य । २ तथात्वेऽद्वैतत्वव्याहतेरिति ज्ञेयम् । ३ अध्यस्तस्यानतिरेकादिति सम्बन्धः । कुतोऽनतिरेकः ? तदाह-. अधिष्ठानात् । तत् किम् ? इत्याह-परमात्मेति ।

द्वैतं चापि तथाऽद्वैतमुभयं कल्पितं न हि । द्वैताद्वैतातिरेकेण नास्तित्वादेव[1] वस्तुनः ॥ १० ॥
शून्यमात्रे न चाध्यस्तमुभयं वेदवित्तमाः । निरुपाख्यस्य चाध्यासाधिष्ठानत्वाद्यसंभवात् ॥ ११ ॥
अतो द्वैतं समध्यस्तमद्वितीये परात्मनि । तस्मादुक्तेन मार्गेण कश्चिदंशः श्रुतेर्बुधाः ॥ १२ ॥
सत्याद्वैतपरः प्रोक्तः सर्वशास्त्रार्थवेदिभिः ।
तथैव वेदराशेस्तु कश्चिदंशस्तपोधनाः ।
कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु कथितः सत्यवादिभिः ॥ १३ ॥
द्वैताद्वैतश्रुतीनां तु विरोधोऽपि[2] प्रतीतितः । उक्तेनैव प्रकारेण विरोधाभाव एव हि ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वादद्वैतस्य तु सर्वदा । तत्रैवार्थवती साक्षादद्वैतश्रुतिरास्तिकाः ॥ १५ ॥

किंच द्वैतवदद्वैतस्यापि परिकल्पितत्वे निरधिष्ठानभ्रमप्रसङ्गादद्वैतस्य सत्यत्वमेष्टव्यमित्याह–**द्वैतं चेति** । यदि द्वैताद्वैते उभे अध्यारोपिते स्यातां तर्हि तद्व्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावान्निरधिष्ठानभ्रमप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु शून्यमेवाधिष्ठानमस्त्वित्यत आह–**शून्येति** । तत्र हेतुमाह–**निरुपाख्यस्येति** । केनचिदप्याकारेण निर्वक्तुमशक्यस्य शून्यस्याध्यासाधिष्ठानत्व-बाधावधित्वलक्षणधर्मयोगासंभवादित्यर्थः ॥ ११ ॥ एवमद्वैतस्याध्यासासंभवात्प्रतिपादितं द्वैतस्यैवाध्यस्तत्वं निगमयति–**अत इति** । कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रतिज्ञातं विषयभेदेनाविरोधं निगमयति–**तस्मादिति** ॥ १२–१३ ॥ मा भूत्कर्मज्ञान-काण्डयोर्विरोधः । ज्ञानकाण्ड एव 'द्वा सुपर्णे'त्यादिवाक्यात् क्वचिद्भेदोऽवगम्यते । क्वचित्पुनः 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यैस्तदभेद इति द्वैताद्वैतश्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–**द्वैताद्वैतेति** । विरोधस्य प्रातीतिकत्वमुपपादयति–**उक्तेनेति** । उक्तरीत्या कल्पितद्वैतपरैव भेदश्रुतिः, परमार्थाद्वैतपरा त्वभेदश्रुतिरिति तयोरविरोध इत्यर्थः । ननु भेदाभेदयोरुभयोरपि श्रुत्यर्थत्वे समानेऽप्यभेदस्यैव परमार्थत्वं भेदस्य तु परिकल्पितत्वमित्येतत्कुतो लभ्यते ? इत्यत आह–**प्रत्यक्षादेरिति** । अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणमिति मीमांसकाः[3] । अतः प्रमाणभूता श्रुतिः प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराविषयमर्थं प्रतिपादयन्ती प्रामाण्यं भजते । अद्वैतं च प्रत्यक्षाद्यगम्यमतस्तदेव श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपाद्यते ॥ १४–१५ ॥

द्वैत पर कैवल्य (अर्थात् अद्वैत) कल्पित है, यह भी संगत नहीं । कारण यह है कि कल्पित द्वैत पर अकल्पित अद्वैत का अध्यास संभव नहीं । व्यवहार में यही देखा गया है कि सत्य पर असत्य का अध्यास होता है । (व्यावहारिक सत्य शुक्तिका आदि पर व्यावहारिक असत्य रजतादि का अध्यास ही अनुभवसिद्ध है ।) ॥ ८ ॥ इसलिये द्वैत पर अद्वैत कल्पित है । यह नहीं कह सकते । वह द्वैत तो स्वयं अध्यासरूप (अर्थात् अध्यस्त) है । वह जिस अद्वैत से अनतिरिक्त है उस अद्वैत का अधिष्ठान क्योंकर हो सकेगा ? ॥ ९ ॥ द्वैत व अद्वैत दोनों ही कल्पित हों यह भी असंभव है क्योंकि इन दोनों से अतिरिक्त कुछ है नहीं जो इनका अधिष्ठान हो ॥ १० ॥ शून्यमात्र पर इन दोनों की कल्पना हो नहीं सकती, कारण कि शून्य निःस्वभाव होता है जिससे वह अधिष्ठानादि स्वभाव वाला नहीं हो सकता । (शंका होती है कि काल्पनिक अधिष्ठानता शून्य में भी संभव है ? इसका समाधान है कि यों शून्य की अधिष्ठानता का विचार तब हो जब पहले शून्य असंदिग्ध हो । शून्य प्रमाण-गोचर तो है नहीं और स्वप्रकाश भी है नहीं । इनसे भिन्न कोई चीज़ असंदिग्ध होती नहीं । एवं च स्वयं संदेहग्रस्त की अधिष्ठानता का निश्चय नतरां सम्भव है । शून्य को स्वप्रकाश मानने पर अद्वैत का ही नामान्तर होगा और प्रमाणगम्य मानने पर वह द्वैत ही होगा) ॥ ११ ॥ अतः यही निश्चय है कि अद्वितीय परमात्मा पर द्वैत कल्पित है । इस प्रकार पूर्वोक्त तरीके से श्रुति का एक हिस्सा सत्य अद्वैत में तात्पर्य वाला है और दूसरा हिस्सा कल्पित द्वैत को विषय करता है (एवं च वेद के किसी हिस्से का तात्पर्य किसी द्वैत या सत्य द्वैत में नहीं है ।) ॥ १२–१३ ॥ अतः द्वैत और अद्वैत बोधक श्रुतिवचनों में विरोध केवल आपाततः है । इस ढंग से विचार करें तो कहीं कोई विरोध नहीं ॥ १४ ॥

क्योंकि अद्वैत प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं इसलिये उसी में श्रुति तात्पर्य वाली हो सकती है । प्रमाणान्तर के अविषय को बताने से ही कोई प्रमाण सार्थक हुआ करता है ॥ १५ ॥ आगे श्रुति के विना ही भेद तो सर्वलोक प्रसिद्ध है । अन्यतः ज्ञात बात को ही बताने में श्रुति की कोई सार्थकता नहीं ॥ १६ ॥ श्रुति

---

१ ङ. "त्याद्द्वैतव" । २ ग. घ. "रोधेऽपि । ३ अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणमिति तत्सूत्रोक्तेः । स्वमते स्मृतिप्रामाण्यमभ्युपेतं न मीमांसकैः । न च तर्हि प्रकृतासंगतिः, स्वमतेऽबाधितविषयकत्वस्य स्वीकारान्नेह नानेत्यादिना च नानाशब्दितभेदस्य बाधितत्वादिति दिक् ।

अन्तरेण श्रुतिं भेदो लोकसिद्धः सदैव तु । तेन नार्थवती तत्र श्रुतिर्मानातिगामिनी ॥ १६ ॥
प्रमाणान्तरसंवादापेक्षा नास्ति श्रुतेः सदा[1] ॥ १७ ॥
स्वतश्च परतो दोषो नास्ति तस्याः श्रुतेरपि । प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दोषवद्भावता सदा ॥
अस्त्यतः श्रुतिरेतेषां प्रमाणानां बलीयसी ॥ १८ ॥

अन्तरेणेति । घटपटादिभेदस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणाधिगतत्वाच्छ्रुतेस्तत्र तात्पर्यं न युक्तम् । तथाच ह्यनुवादकत्वादप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः । ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयं शशविषाणकल्पमद्वैतं श्रुतिः कथं तात्पर्येण प्रतिपादयितुं शक्नुयादित्यत आह–**मानातिगामिनीति** । प्रत्यक्षादिप्रमाणान्यतीत्य तदविषयं [2]स्वर्गापवर्गादिकं[3] यथाऽवगमयति तद्वदद्वैतमपि बोधयितुं शक्तेत्यर्थः । ननु श्रुत्यर्थस्य प्रमाणान्तराविषयत्वे संवादज्ञानाभावाच्छ्रुतेरप्रामाण्यं स्यादित्यत आह–**प्रमाणान्तरेति** । सर्वज्ञानानां स्वतःप्रामाण्याङ्गीकाराच्छ्रुतेर्न संवादज्ञानापेक्षेत्यर्थः ॥ १६–१७ ॥ ननु मा भूत्संवादज्ञानापेक्षा, बाधादन्यथात्वं कस्मान्न भवतीत्यत आह–**स्वतश्चेति** । दुष्टप्रमाणजनितस्य हि बाध्यत्वं श्रुतेस्तावत्स्वतो **दोषो नास्ति** अर्थप्रत्यायनसमर्थत्वात् । **परतोऽपि दोषो नास्ति** अपौरुषेयत्वात् । एवं निर्दुष्टप्रमाणत्वेन बाधशङ्काया अप्यभावाच्छ्रुतेः स्वतः सिद्धं प्रामाण्यमप्रत्यूहमित्यर्थः । एवं श्रुतेर्निर्दोषत्वमभिधाय तस्याः प्रबलतरप्रामाण्यं प्रतिपादयितुं प्रत्यक्षादीनां दोषसद्भावमाह–**प्रत्यक्षादीति** । **दोषवद्भावतेति** दोषसाहित्येनोत्पन्नतेत्यर्थः ॥ १८ ॥

को कभी अपने अर्थ का ज्ञान कराने के लिये यह ज़रूरत नहीं पड़ती कि अन्य प्रमाण भी उस अर्थ को वैसा ही बतायें । (यद्यपि यह सभी प्रमाणों के लिये समान है तथापि प्रमाणान्तर उस रूपादि को विषय करते हैं जो श्रुतिबाधित हैं जबकि श्रुति ऐसी किसी वस्तु को विषय नहीं करती जो किसी प्रमाण से बाधित हो । इसे ही प्रमाणान्तरों की व्यभिचारिता कहते है । प्रत्यक्ष ब्रह्म को भी विषय करता है, रूपादि को भी । ब्रह्म और काल सर्वेन्द्रियविषय हैं ऐसा सिद्धि आदि में कहा गया है । इसी तरह अनुमानादि ब्रह्मविषयक भी होते हैं रूपादिविषयक भी । अतः वे सत्य और असत्य दोनों को विषय करने वाले होने से अकेले ही निश्चायक नहीं हो पाते, प्रमाणान्तर का सहारा चाहते हैं । श्रुति में यह व्यभिचार न होने से वह अन्य प्रमाण का सहारा चाहती नहीं । यद्यपि धर्म, सविशेष आदि को भी श्रुति विषय करती है जिससे पुनः व्यभिचार प्राप्त होता है तथापि यहाँ तात्पर्यतः विषय करना विवक्षित होने से यह दोष नहीं । प्रत्यक्षादि तो तात्पर्यतः रूपादि को विषय करते हैं । श्रुति तात्पर्यतः उन्हें विषय नहीं करती, द्वारमात्र रूप से उनका परिचय कराती है । एवं च अव्यभिचारी होने से श्रुति ही निरपेक्ष प्रमाण है ।) ॥ १७ ॥ उस श्रुति में न तो स्वतः कोई दोष है, न परतः । (वचन में साकांक्षता, अयोग्यता आदि दोष संभव हैं, वे श्रुति में न होने से वह स्वतः निर्दोष है । वक्ता की अनाप्तता आदि होने पर भी वचन अश्रद्धेय हो जाता है । श्रुति नित्य अपौरुषेय होने से उसमें इन दोषों की भी संभावना नहीं ।) इससे विपरीत, प्रत्यक्षादि

---

१ ननु कस्यचनापि मानस्य सा नास्तीति श्रुतेरिति विशेषणमयुक्तम् ? इत्याशंक्य मानान्तराणां व्यभिचारितया शंकास्पदत्वादुक्तापेक्षा-संभवेप्यस्या अव्यभिचारितया तदभावात्तदपेक्षासम्भव इत्याह–सदेति । २ देवाधिकरणन्यायेन स्वार्गादौ मानं श्रुतिरिति मीमांसावैलक्षण्यं द्योतयितुमुक्तं स्वर्गेति । ३ ख. छ. ज. "र्गापूर्वादि" ।

कल्पितद्वैतमात्रे तु नैव मानमियं श्रुतिः । तत्र प्रयोजनाभावात्परमार्थनिरूपणे ॥ १९ ॥

अद्वैतं परमानन्दं ब्रह्मवस्तु न चापरम् ।

तत्र प्रयोजनं विप्रा अस्त्येव हि न संशयः ॥ २० ॥

यत्र प्रयोजनं[1] तत्र श्रुतिर्मानमिति स्थितिः ॥ २१ ॥

अतः प्रयोजनाभावाद् द्वैतं न प्रतिपाद्यते । अनूद्य द्वैतमद्वैतं प्रतिपादयति श्रुतिः ॥ २२ ॥

स्मृतीनां च पुराणानां भारतादेस्तथैव च । तथा शैवागमादीनां तर्काणां च द्विजोत्तमाः ॥

अद्वैतनिष्ठतैवोक्ता न द्वैतपरता सदा ॥ २३ ॥

एवमनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमितिलक्षणपर्यालोचनया प्रत्यक्षाद्यनधिगतेऽद्वैते श्रुतेः प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । अथ प्रयोजनसद्भावादपि तत्रैव तत्प्रामाण्यं समर्थयितुं द्वैतपरत्वे प्रयोजनराहित्यमाह—**कल्पितेति** । **प्रयोजनाभावादिति** । कल्पितस्य द्वैतस्य मायामयत्वेनावस्तुत्वात्तत्प्रतिपादने श्रुतेः प्रेक्षावत्प्रवृत्तिहेतुभूतस्य कस्यचिदपि फलस्याभावादित्यर्थः । अद्वैतप्रतिपादने तु प्रयोजनसद्भावं दर्शयति—**अद्वैतमिति** । यस्मादद्वैतं ब्रह्मवस्तु निरतिशयानन्दरूपं तस्मात्तत्त्वप्रतिपादनेन तत्स्वरूपावाप्तिलक्षणं सर्वोत्कृष्टं प्रयोजनं विद्यत इत्यर्थः ॥ १९–२० ॥ ननु प्रयोजनवशात्प्रामाण्यव्यवस्था न युक्ता, प्रमाणानुवर्तित्वात् प्रयोजनस्येत्यत आह—**यत्र प्रयोजनमिति** । सत्यं, प्रत्यक्षादिषु प्रमाणानुवर्ति प्रयोजनम् । श्रुतिस्तु [2]प्रयोजनवशादेव पुरुषं स्वार्थे प्रवर्तयतीति तत्प्रामाण्यं प्रयोजनाधीननिरूपणम् । अतो यस्मिन्नर्थे प्रयोजनमस्ति तत्रैव श्रुतेः प्रामाण्यमिति प्रामाणिकानां स्थितिरित्यर्थः । ननु तर्हि 'द्वा सुपर्णे' त्यादिश्रुत्या निष्प्रयोजनो भेदः कस्मात्प्रतिपाद्यत इत्यत आह—**अनूद्येति** । द्वैतं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्लोकसिद्धं जीवेश्वरभेदमनूद्य 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न' इत्यादिना जीवभावस्याज्ञानमूलत्वप्रतिपादनपुरःसरमद्वैतमेव तात्पर्येण प्रतिपादयतीत्यर्थः । एवं सर्वत्र भेदश्रुतिर्लोकसिद्धभेदानुवादार्था । अभेदश्रुतिस्तु तात्पर्येण परमार्थाद्वितीयप्रतिपादनार्थेति द्रष्टव्यम् ॥ २१–२२ ॥ स्मृतिपुराणादीनामप्येवमेवाद्वैतपरत्वं न्यायतोऽवगन्तव्यमित्याह—**स्मृतीनामित्यादिना** । अद्वैतपरत्वं च स्मृत्यादीनां सर्वेषां षडक्षरमन्त्रार्थकथनप्रस्तावे प्रागेव प्रतिपादितम् ॥ २३ ॥

सदा ही दोषसहित उत्पन्न होते हैं । (यहाँ अविद्या को ही दोष समझना चाहिये । साहित्य भी यहाँ वह विवक्षित है जो दोष का छेदक न हो । अतः यद्यपि शास्त्र भी दोषसहित ही रहता है—'.......अध्यासं पुरस्कृत्य.......सर्वाणि च शास्त्राणि.......मोक्षपराणि' (अध्यासभाष्य)—तथापि दोष का छेदक होने से दोषसहित होने वाला नहीं कहा जा सकता । अतः शास्त्र निर्दोष व इतर प्रमाण सदोष हैं यह निश्चित है ।) अत एव सभी प्रमाणों में श्रुति ही अधिक बलशाली प्रमाण है ॥ १८ ॥ किन्तु कल्पित द्वैत के विषय में इस श्रुति को प्रमाण

---

१ तच्च साक्षाद्विवक्षितम् । यत्र साक्षात्प्रयोजनं तत्रेत्यर्थः । साक्षात्त्वं च ज्ञानेतरप्रयोजनरहितत्वम् ततो धर्मप्रवृत्तये द्वैतमुपदिशदपि शास्त्रं द्वैतज्ञानमात्रप्रयोजनवत्त्वाभावात्तत्रामानं, धर्मं कुर्यादिति द्वैतज्ञानेतरप्रयोजनेन द्वैतस्योक्तेरिति दिक् । २ क. घ. प्रमाणव ।

अध्यस्ताज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिद्वारतोऽद्वयम् । बोधयन्ति मुदा काश्चिच्छ्रुतयः पण्डितोत्तमाः[1] ***॥ २४ ॥***

साक्षाद्विधिमुखेनैव ब्रह्म सत्यादिलक्षणम् । बोधयन्ति मुदा काश्चिच्छ्रुतयः पण्डितोत्तमाः ॥ २५ ॥

ननु जातिगुणक्रियायदृच्छाभेदेन चतुष्टयी हि सकलशब्दानां प्रवृत्तिस्तत्कथं जात्यादिसकलधर्मरहितमद्वयं परशिवस्वरूपं श्रुतिस्तात्पर्येण प्रतिपादयितुं शक्नुयादित्यत आह-**अध्यस्तेति** । समस्तप्रपञ्चकल्पनामूलं मायाविद्यापरपर्यायं भावरूपमज्ञानं, तत्कार्यं भूतभौतिकदेहेन्द्रियादिकमेतत्सर्वं[2] परमार्थतो निरवद्ये[3] परशिवस्वरूपेऽनादिवासनयाऽध्यस्यते, तस्य च निवृत्तिस्तदधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानात् । एवं च तां मायां तत्कार्यनिवृत्तिं प्रतिपादयन्त्यः काश्चिच्छ्रुतयस्तद्द्वारोक्तविधमखण्डैकरसं परशिवस्वरूपं तात्पर्येण प्रतिपादयन्ति ताश्च श्रुतयः 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिकाः ॥ २४ ॥ **विधिमुखेनेति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिकाः काश्चिच्छ्रुतयो न पूर्ववन्निषेधमुखेनापि तु यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं **तद् ब्रह्मेति** विधिमुखेनैव प्रतिपादयन्ति । अस्थूलमनण्वह्रस्वमित्यादिनिषेधश्रुतिष्वपि यत्स्थूलत्वादज्ञानकार्यनिवृत्त्यवधिभूतं पारमार्थिकं वस्तु तद्ब्रह्मेत्यर्थाद्विधानमस्ति, ततो विशिनष्टि-**साक्षादिति** । अयमभिप्रायः । लोके तावत्सत्यत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन सत्यज्ञानादिशब्दा व्युत्पन्नाः । अखण्डैकरसेऽद्वितीये परमात्मनि तथाविधधर्मयोगो न संभवति । अतः सत्यादिशब्दा लौकिकमेव सत्यत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनोपादायाखण्डं वस्तु सर्वदा व्यभिचाररहितत्वाभिप्रायेण सत्यमिति लक्षयन्ति । स्वपरव्यवहारप्रकाशत्वाभिप्रायेण ज्ञानमिति । अत्यन्तानुकूलवेदनीयत्वेनाऽऽनन्दमिति । तथाच[4] सत्यादिशब्दा लौकिकमेव सत्यत्वादिकमादाय[5] साक्षाद्विधिमुखेनैवाखण्डं वस्तु लक्षणया प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । उक्तं हि-'लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि' इति । एवम् अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च श्रुतिस्तात्पर्येणाद्वैतं प्रतिपादयितुं शक्तेत्यर्थः ॥ २५ ॥

नहीं मान सकते क्योंकि द्वैतबोधन का कोई प्रयोजन नहीं है और निष्प्रयोजन बात शास्त्र का प्रतिपाद्य न होने से उसमें वह प्रमाण नहीं होता । (देवताधिकरणन्याय से निष्प्रयोजन में भी प्रामाण्य हो ?-यह शंका तुच्छ है । कारण यह है कि वह न्याय उसे विषय करता है जो बात मानान्तरगम्य तथा मानान्तरविरुद्ध न हो । द्वैत तो मानान्तरगम्य है । अतः उस न्याय से भी प्रामाणिकता अशक्यशंक है । द्वैत के विषय में शास्त्र अनुवादक अतः अप्रमाण ही है ।) ॥ १९ ॥ हाँ, अद्वैतप्रतिपादन सप्रयोजन है क्योंकि एक ब्रह्म ही परमानंद और वास्तविक है । अतः उसमें श्रुति प्रमाण हो, इसमें क्या संदेह ? ॥ २० ॥ यह निश्चित है कि जहाँ प्रयोजन होता है वहीं श्रुति प्रमाण होती है ॥ २१ ॥ अतः क्योंकि कोई प्रयोजन नहीं है इसलिये शास्त्र के द्वारा द्वैत का प्रतिपादन नहीं किया जाता । द्वैत का तो केवल अनुवाद कर श्रुति अद्वैत का ही प्रतिपादन करती है ॥ २२ ॥ स्मृति, पुराण, महाभारत, शैवागम तथा सत्तर्क भी अद्वैतविषयक ही हैं, द्वैतबोधन में तात्पर्य वाले नहीं ॥ २३ ॥

हे उत्तम पण्डितो ! कुछ श्रुतियाँ अध्यस्त अज्ञान के और उसके कार्यों के प्रतिषेध द्वारा अद्वय शिव का बोधन कराती हैं ॥ २४ ॥ और कुछ श्रुतियाँ सत्य आदि स्वरूप वाले ब्रह्म का बोध सीधे ही विधान

---

१ तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः 'अनात्माऽदर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' । २ ख. घ. "वं नि" । ३ ग. छ. ज निरविद्ये । ४ संक्षेपशारीरके (१.१५८-१९०) महता विस्तरेणायमर्थः प्रपंचितः । ५ क. ग. घ. ङ. च. छ. ज. "दिकं सा" ।

साधकस्यैव जीवस्य [1]स्वाभाविकशिवात्मताम् ।
बोधयन्ती श्रुतिर्भ्रान्तजीवत्वं बाधते खलु ॥ २६ ॥
जीवत्वं चेतनस्यास्य स्वाभाविकमिति द्विजाः ॥
केचिद्वदन्ति वार्तैषा न तत्स्वाभाविकं सदा ॥ २७ ॥
यदि स्वाभाविकं तर्हि जीवत्वं सर्वदा भवेत् ।
नास्ति तस्य निवृत्तिर्हि स्वतःसिद्धं न नश्यति ॥ २८ ॥

एवं श्रुतेरद्वितीयपरशिवस्वरूपप्रतिपादनप्रकारमभिधाय तत्त्वमस्यादिभिर्महावाक्यैर्जीवेश्वरतादात्म्यप्रतिपादनप्रकारं दर्शयति– **साधकस्यैवेति** । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुतेः परमेश्वर एव हि साक्षाज्जीवः । अतो जीवभावापन्नस्य यत्स्वाभाविकमद्वितीयपरशिवात्मत्वं तत्प्रतिपादयन्ती तत्त्वमस्यादिका श्रुतिर्मलिनसत्त्वप्रधानमायोपाधिकं परमार्थवत्प्रतीयमानमात्मनो यद्भ्रान्तं जीवत्वं तन्निवारयति । जगत्कारणोपाधिकं यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं यच्चाज्ञानतत्कार्योपाधिकं सर्वप्रत्यग्भूतं चैतन्यं तदुभयमेकमेवेति सोऽयं देवदत्त इतिवद्विरुद्धांशपरिहारेण वाक्यं बोधयतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ अथ पराभिमतमात्मस्वाभाविकजीवत्वपक्षमनुभाष्य दूषयति–**जीवत्वं चेतनस्येत्यादिना** । यद्यात्मनो जीवत्वं स्वाभाविकं स्यात्तर्हि तस्य मुक्तावस्थायामपि निवृत्तिर्न स्यात्स्वभावस्यानपायात् । अतो मुक्तानामपि सुखदुःखानुवृत्तिः स्यादित्यर्थः ॥ २७-२८ ॥

करते हुए करा देती हैं । (निषेध में विधान आर्थिक होता है और विधान में निषेध आर्थिक होता है । क्योंकि लक्ष्य सत्य व्यक्ति का परित्याग नहीं होता इसीलिये 'साक्षात्' शब्द सार्थक है । शक्ति से बोध करना नहीं कहा जा रहा । सत्यादि शब्द लक्षणावृत्ति से ही शिव का बोध कराते हैं । किन्तु जैसे अन्यत्र तट में लक्षणा होने पर गंगा का अर्थ सर्वथा छूट जाता है वैसा यहाँ नहीं होता । सत्य का अर्थ अबाध्यता लक्ष्य ब्रह्म में भी स्वरूपतः रहती है अतः साक्षात् कहा । ऐसा होने पर शक्ति ही क्यों न विषय कर ले ? इसलिये शक्ति विषय नहीं कर सकती कि वह धर्मविधया ही अबाध्यत्व को पहचान कर प्रवृत्त होती है । जहाँ अबाध्यत्व धर्मरूप से हो उसे शक्ति से सत्य कह सकते हैं । शिव अबाध्य होने पर भी उनमें वह धर्म नहीं है अतः शक्तिसंबंध भी नहीं है ।) ॥ २५ ॥ साधक जीव की ही वास्तविक शिवरूपता का ज्ञान कराती हुई श्रुति भ्रमसिद्ध जीवरूपता का बाध कर देती है ॥ २६ ॥ कुछेक विचारक मानते हैं कि 'मैं' रूप से प्रत्यक्षसिद्ध इस चेतन की जीवरूपता वास्तविक है (जीवरूपता अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्व ।) किन्तु यह बात ग़लत है ॥ २७ ॥ यदि जीवरूपता स्वाभाविक हो तो सदा रहेगी । उसकी कभी निवृत्ति न होगी । स्वतः सिद्ध–स्वाभाविक, वास्तविक–कभी नष्ट होता नहीं । (और ऐसा होने से मोक्ष असंभव हो जायेगा । मोक्ष को नित्य मानना यह मोक्षवादियों की सामान्य स्वीकृति है । वेदान्त से भिन्न मत उसे जन्य नित्य मानते हैं जिसका पर्यवसान अनित्य में ही होता है । साथ

---

१ वास्तवतत्त्वमिह स्वाभाविकत्वम् ।

यथा भेषजसंपर्कात्ताम्रस्य मलनाशनम् । तथा जीवस्य दुःखादिनिवृत्तिः केनचिद्भवेत् ॥ २९ ॥

रसविद्धमयः स्वर्णं यथा भवति सर्वदा । केनचित्साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत् ।

इति केचित्स्वमोहेन प्रवदन्ति तु वादिनः ॥ ३० ॥

तन्न संप्रतिपन्नं हि स्वतःसिद्धं न नश्यति[1] ॥ ३१ ॥

यथा स्वाभाविकं वह्नेरौष्ण्यं नैव विनश्यति ।

प्रकाशो वा[2] तथाऽस्यापि न दुःखादिर्विनश्यति ॥ ३२ ॥

जीवत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि मुक्तिसंभवमाशङ्कते–**यथेति** । यथाऽम्लसंपर्कात्ताम्रस्य स्वभावभूतं मलं निवर्तते, एवं केनचित्परमेश्वरसमाराधनादिना साधनेन जीवस्य सुखदुःखादिसंसारभावात्मकजीवत्वनिवृत्तौ सत्यां परशिवसायुज्यरूपा मुक्तिः किं न स्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥ अम्लेन निवर्तितस्यापि ताम्रमलस्य कालान्तरे[3] पुनरुद्भवदर्शनात्तद्वदेव मुक्तानामपि जीवत्वस्य पुनरुद्भवमाशङ्क्य निदर्शनान्तरेण तामाशङ्कां निरस्यति–**रसविद्धमिति** । अयसो यथा रसवेधेन स्वाभाविकमयस्त्वं निवर्तते स्वर्णत्वमेव सर्वदा भवति न पुनः कालान्तरेऽप्ययस्त्वस्यानुवृत्तिस्तथैव स्वाभाविकजीवत्वस्याप्यात्यन्तिकनिवृत्त्या हि शिवसायुज्यमित्यर्थः ॥ ३० ॥ तदेतन्निराकरोति–**तन्नेति** । **यथा स्वाभाविकमिति** । अग्निस्वभावभूतस्य दाहप्रकाशादेर्विनाशाभावात्स्वाभाविकजीवत्वस्यापि विनाशो दुर्घट इत्यर्थः ॥ ३१–३२ ॥

ही जीवभाव वास्तविक होकर यदि नष्ट होगा तब तो मुक्तता भी वास्तविक होने पर भी नाशवान् होगी । पुनरपि मोक्ष की नित्यता कथमपि नहीं रहेगी । मोक्ष मानें ही नहीं तो क्या आपत्ति है ? प्रथमतः तो शास्त्रविरोध होगा । शास्त्र ने मोक्ष का प्रतिपादन किया ही है जिसका अन्यथा अर्थ संभव नहीं । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' आदि निर्देशों से मोक्ष को स्वर्गादि माना जा नहीं सकता । तथा युक्ति का भी विरोध होगा । कर्तृत्वादि व्यभिचारी तथा इदमात्मनिष्ठ उपलब्ध होते हैं । अव्यभिचारी में व्यभिचारी धर्म औपाधिक ही संभव हैं । वास्तविक मानने पर उपाधिराहित्य में भी उपलब्ध होने चाहिये जो सुषुप्ति आदि के अनुभव से बाधित हैं । औपाधिकों की निवृत्ति संभव है । दुःख-हानि सबको अभिलषित है । एवं च सर्वाभिलषित संभव स्थिति को न मानना युक्तिविरुद्ध है । किं च विद्वद्-अनुभव का भी विरोध है । अतः मोक्ष स्वीकार्य है व जीवत्व को स्वाभाविक मानने पर वह असंभव होगा । फलतः उसे अध्यस्त ही स्वीकारना होगा, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ शंका होती है कि जैसे खटाई आदि दवा के संबंध से ताँबे की मैल नष्ट हो जाती है ऐसे परमेश्वर की आराधना आदि किसी साधन से जीव की स्वाभाविक भी दुःखादिजीवता की निवृत्ति हो जाये ? ॥ २९ ॥ जैसे पारे के सम्बन्ध वाला लोहा सोना हो जाता है, ऐसे ही किसी साधन से जीव अपनी वास्तविक जीवरूपता छोड़कर सदा के लिये शिव बन जाये ?–ऐसी शंकायें अविवेक

---

१ व्यक्ताऽव्यक्तोभयात्मनाऽसत्त्वं नैतीत्यर्थः । अदर्शनं तु प्राप्नोत्येव । हीति 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इत्यादि-स्मृतिप्रसृतयं । २ अतिदूरस्थस्य मन्दस्य वाग्नेरौष्ण्यं न भासत इति तत्स्वरूपान्तरं सदा भासमानं दर्शितम्–प्रकाशो वेति । ३ ग. "रेण पु" ।

मणिमन्त्रौषधादीनां शक्तिवैचित्र्यमात्रतः । नष्टवत्प्रतिबद्धं तु न नष्टं संमतं हि तत् ॥ ३३ ॥

यथा ताम्रमलं नैव केनचित्प्रविनश्यति । नष्टवत्प्रतिबद्धं हि विनष्टं मन्यतेऽबुधाः ॥ ३४ ॥

जीवत्वं च तथाऽस्यापि सुखदुःखादिलक्षणम् ।
नष्टवत्प्रतिबद्धं स्यान्नैव नश्यति केनचित् ॥ ३५ ॥

पयसा वेष्टितं तोयं पय इत्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

रजतं काञ्चनग्रस्तं हेम इत्यभिधीयते । तथैव रसवीर्येण वह्निसंपर्कतोऽपि च ॥ ३७ ॥

ननु मणिमन्त्रादिसामर्थ्यादग्नेरौष्ण्यप्रकाशयोर्निर्वृत्तिमुपलभामहे तद्वत्साधनवैचित्र्यात्स्वाभाविकजीवत्वस्यापि निर्वृत्तिरित्यत आह– **मणीति** । अस्मिन्स्वभावभूतमौष्ण्यादिकं मणिमन्त्रादिसामर्थ्यात्प्रतिबद्धमेव केवलं न तु नष्टम् ॥ ३३ ॥ एवमेव ताम्रमलस्यापि स्वभावसिद्धस्य नाशासंभवमाह– **यथेति** । **अबुधा** अज्ञजनाः । [१]प्रतिबद्धमित्येतदजानाना विनष्टमिति मन्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति– **जीवत्वमिति** । सुखदुःखादिलक्षणस्य स्वाभाविकस्य जीवत्वस्य केनचित्साधनेन प्रतिबन्ध एव केवलं स्यान्न तु नाशः संभवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ननूक्तं रसवेधदृष्टान्तेन स्वाभाविकस्याप्यत्यन्तनिर्वृत्तिरिति ? तत्राऽऽह–**पयसेत्यादिना** । यथा पयसा मिश्रितं नीरं पयोवर्णमेव यथा वा काञ्चनेन मिश्रितं रजतं काञ्चनवर्णमेव तथैव ह्ययो रसवीर्येण संपर्कात्केवलं हेमवर्णं

के कारण कुछ लोग उठाते हैं ॥ ३० ॥ इनका सीधा समाधान है कि जो वस्तु स्वतःसिद्ध—स्वाभाविक, सत्य—होती है वह कभी नष्ट नहीं होती ॥ ३१ ॥ जैसे आग स्वभाव से गरम है, उसकी गर्मी स्वतः-सिद्ध सत्य है, अतः आग की गर्मी कभी नष्ट नहीं होती । न उसका स्वाभाविक प्रकाश ही नष्ट होता है । ऐसे ही जीवरूपता स्वाभाविक सत्य हो तो कभी नष्ट नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥ मणि, मंत्र, दवा आदि से उनकी विलक्षण शक्तियों के कारण वास्तविक वस्तु नष्ट हुई जैसी लगती है किन्तु वह केवल प्रतिबद्ध रहती है, नष्ट नहीं होती ॥ ३३ ॥ जैसे तांबे की मैल किसी से भी नष्ट नहीं होती । प्रतिबद्ध हुई वह नष्ट हुई जैसी हो जाती है जिसे अविवेकी लोग उसका नाश समझ लेते हैं ॥ ३४ ॥ इसी प्रकार इस आत्मा की सुखदुःखादि जीवरूपता किसी कारण से प्रतिबद्ध तो हो सकती है, नष्ट की तरह तो लग सकती है, नष्ट नहीं हो सकती यदि सत्य हो ॥ ३५ ॥ दूध से मिला पानी दूध ऐसा कहा जाता है, दूध हो नहीं जाता ॥ ३६ ॥ सोने से मिली चाँदी सोना कही जाती है, हो नहीं जाती । ऐसे ही रस की (पारे की) सामर्थ्य से और वह्नि के संपर्क से लोहा सोने की तरह प्रतीत होता है, वह कभी सोना हो नहीं जाता । अत एव पारे की ताकत ख़तम हो जाने पर वह प्रतीयमान स्वर्णिमता समाप्त हो जाती है ॥ ३७–३८ ॥ संसार में निश्चित बात है कि जो कुछ भी कृतिसाध्य है—क्रिया का फल है—वह नित्य

---

१ केनचिद्धेतुनाऽन्यथाव्यवहारविषयत्वं प्रतिबद्धत्त्वम् । यथा वह्निरदाहकेति व्यवहारविषयो भवति । कारणान्तरेण श्रैष्ठ्यमापन्नमपि प्रतिबद्धमेव, कारणनिवृत्तौ श्रैष्ठ्यनिवृत्तेः ।

अयसो हेमवर्णत्वं न हेमत्वं कदाचन । रसवीर्यविनाशे तु वर्णस्तस्य विनश्यति ॥ ३८ ॥

कृतकस्य न नित्यत्वमिति वार्ता भुवि स्थिरा ।

तथाऽपि मानवा भ्रान्ताः काञ्चनं मन्यते ह्ययः ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मदर्शनहीनानां सुलभः खलु विभ्रमः ।

तथा शिवत्वं जीवस्य भ्रान्त्या सिद्धं भविष्यति ॥ ४० ॥

साधनेन स्वतो जीवो न शिवः सर्वथा भवेत् ।

ततो जीवः शिवः साक्षान्न भवेत्तु कदाचन ॥

शिव एव स्वतः साक्षाच्छिवो भवति नान्यथा ॥ ४१ ॥

यथैव वह्निसंपर्कात्तोयं वह्निर्न वस्तुतः । उष्णं तोयमिति प्राज्ञाः प्रतीतावपि देहिनाम् ॥ ४२ ॥

तथाऽशिवः स्वतो जीवः कदाचित्पण्डितोत्तमाः ।

शिवत्वेन प्रतीतोऽपि स्वतो नैव शिवो भवेत् ॥ ४३ ॥

ग्यान्न त्वयसः कदाचिदपि हेमत्वमिति संबन्धः ॥ ३६–३८ ॥ ननु रसवीर्यस्यामोघत्वेन विनाशाभावात्तत्कृतो वर्णनाशः कथं स्यादित्यत आह– **कृतकस्येति** । यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तेः सर्वत्र निरङ्कुशत्वादित्यर्थः ॥ ३९ ॥ **तथा शिवत्वमिति** । यथा सूक्ष्मदर्शनराहित्येन वर्णमात्रदर्शनादयसि काञ्चनत्वभ्रमस्तथा स्वभावतो जीवस्य शिवात्मकत्वं भ्रान्त्यैव भवेन्न तु परमार्थतः संभवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ कुत इत्यत आह–**साधनेनेति** । यदि परमार्थतो जीवः शिवादन्यः स्यात्साधनशतेनापि तस्य शिवत्वं न घटते । अन्योन्याभावस्यानाद्यनन्तत्वेन निवृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः । तस्माच्छिवस्य शिवत्वं न तु तद्व्यतिरिक्तस्य जीवस्य कदाचिदपि शिवत्वमिति प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति–**तत इति** ॥ ४१ ॥ ननु 'मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः । सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः' ॥ इत्यादिवचनप्रामाण्यात्स्वतो भिन्नानामपि जीवानां परमेश्वरानुग्रहवशाच्छिवत्वं किं न स्यादित्यत आह– **यथैवेत्यादिना** । अग्निधर्मस्यौष्ण्यस्य तत्संपर्कवशाज्जले प्रतीतावपि जलं नाग्निर्भवति किंतूष्णं जलमित्येव निर्दिश्यते । एवं स्वभावतो भिन्नस्य जीवस्य शिवस्वभावभूतधर्माश्रयत्वे सत्यपि न शिवात्मत्वमित्यर्थः ॥ ४२–४३ ॥

नहीं होता (नित्य अर्थात् अविनाशी) । फिर भी लोग भ्रान्त होकर लोहे को सोना मान लेते हैं ॥ ३९ ॥ सूक्ष्मता से विचार न करने वालों को भ्रम होना सहज है । जैसे लोहे का सोनापन भ्रम से प्रतीत होता है ऐसे ही उपासना आदि के कारण भ्रम से ही जीव की शिवरूपता प्रतीत होगी, यदि जीवरूपता वास्तविक है ॥ ४० ॥ वास्तविक जीव किसी भी साधन से सर्वथा शिव हो जाये यह असंभव है । अतः जीवरूपता सत्य मानने पर जीव कभी साक्षात् शिव नहीं होगा । शिव ही स्वयं साक्षात् शिव हो सकते हैं, अशिव कभी शिव नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ जैसे अग्निसम्बन्ध से पानी आग नहीं हो जाता ।

स्वतोऽशिवस्तु जीवोऽयं सर्वथा न शिवो भवेत् ॥ ४४ ॥

केनचित्साधनेनैव मुक्तौ शिवसमो भवेत् । इत्येवं केचिदिच्छन्ति वादिनो मुनिपुंगवाः ॥ ४५ ॥

वार्तामात्रमिदं प्रोक्तं सर्वथा न तदर्थवत् ।

एकदेशेन वा जीवः किंवा सर्वात्मना समः ॥ ४६ ॥

एकदेशेन चेत्सर्वे शिवाः संसारवर्तिनः । एकदेशेन सर्वेषामस्ति साम्यं शिवेन हि ॥ ४७ ॥

सर्वात्मना चेत्साम्यं तत्सर्वथा शिव एव सः ।

भेदकारणशून्यत्वाद्भेदाभावाच्च वस्तुतः ॥ ४८ ॥

किंच मुक्तौ शिवेनैव समो जीवो भवेद्यदि ।

ननु न वयं जीवस्य शिवतादात्म्यलक्षणां मुक्तिं ब्रूमः । अपि तर्हि ? तत्साम्यमिति केषांचिन्मतं दूषयितुमुपन्यस्यति-- **स्वतोऽशिव** इति ॥ ४४-४५ ॥ तन्निराचष्टे--**वार्तेत्यादिना** ॥ ४६ ॥ जीवस्य किमेकदेशेन शिवसाम्यं विवक्षितमुत सर्वात्मनेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह--**एकदेशेनेति** । संसारिणामपि जीवानां चेतनत्वादिनैकदेशेन शिवसाम्यं विद्यत[1] एवेति तेऽपि मुक्ताः स्युरित्यर्थः ॥ ४७ ॥ नापि द्वितीय इत्याह--**सर्वात्मनेति** । यदि सर्वेणैवाऽऽकारेण शिवसाम्यं विवक्षितं स्यात्तर्हि तत्साम्यं न युज्यते केनचिदाकारेण व्यावृत्तयोरेव हि समानधर्मयोगादुपमानोपमेयभाव इत्यभिप्रेत्याऽऽह--**भेदेति** । सर्वात्मना समयोर्जीवेश्वरयोर्भेदजनकव्यावृत्ताकारविरहादत एव भेदाभावाज्जीवः शिव एव स्यान्न तु शिवसम इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ किंचास्मिन्पक्षे मुक्तेरप्यनित्यत्वमापादयति--**किंचेति** ॥ ४९ ॥

यद्यपि सबको प्रतीति होती है 'पानी गर्म है' तथापि गर्म आग ही है, उसका पानी से संबंध होने से लगता है पानी गर्म है ॥ ४२ ॥ उसी प्रकार यदि जीव स्वभावतः अशिव होगा तो कभी शिवरूप प्रतीत होने पर भी सचमुच शिव नहीं हो जायेगा ॥ ४३ ॥ वस्तुतः अशिव जीव शिव हो जाये यह हर तरह से असंगत है ॥ ४४ ॥ अतः कुछ वादी कहते हैं कि मोक्ष में जीव शिव नहीं होता किन्तु शिव के समान हो जाता है ॥ ४५ ॥ यह भी कहने की ही बात है, विचारसह पक्ष नहीं । क्या एक अंश में समानता होती है या सब अंशों में ? ॥ ४६ ॥ यदि कहो एक अंश में, तब तो संसारावस्था में भी सभी जीवों में चेतनतारूप एक अंश में शिव से समानता है ही, मोक्ष में क्या विशेषता ॥ ४७ ॥ और यदि मानो कि मोक्ष में सब तरह से समानता होती है तब तो वह शिव हो जाता है, यही अर्थ हुआ । जब सब तरह से समानता है तो उन्हें परस्पर भिन्न कैसे कहा जा सकेगा ? असमानता अर्थात् भेद को निमित्त कर ही भिन्न ऐसा व्यवहार होता है । सभी तरह की समानता होने पर असमानता रही नहीं तो भिन्न नहीं रहे यही अर्थ हुआ ॥ ४८ ॥ और मोक्ष में शिवसमान होगा ऐसा मानने पर मोक्ष

---

१ घ. द्यत ।

कंचित्कालं हि तत्साम्यमागतं खलु गच्छति ॥ ४९ ॥

तस्माज्जीवः स्वतः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ।

अप्रच्युतात्मभावेन स्थितः सन्परविद्यया ॥ ५० ॥

स्वाज्ञानं तत्प्रसूतं च संसारं स्वात्मना ग्रसन् । स्वपूर्णशिवरूपेण स्वयमेवावशिष्यते ॥ ५१ ॥

शुक्तिकाकलधौतं तु शुक्तिकावेदनेन तु । शुक्तिकामात्ररूपेण यथा लोकेऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥

शिवात्मना जगद्बाधो न चैवं संभविष्यति ।

एवं पराभिमतमुक्तिस्वरूपं निराकृत्य सिद्धान्तं निगमयति–**तस्मादिति** । सत्यज्ञानादिलक्षणः **साक्षाच्छिव एव** सत्त्वपरिणामरूपनानाविधतत्तदन्तःकरणोपहितः [1]सन्ननपक्रान्तात्मभावेन[2] नानाविधजीवभावं भजते । स च जीवभावापन्नः **परविद्यया** स्वात्मनः परशिवात्मत्वज्ञानेन स्वस्वरूपस्याऽऽच्छादकं भावरूपमज्ञानं तत्कार्यं संसारं चाऽऽत्ममात्रतया विलापयन्स्वात्मनो यत्परिपूर्णशिवरूपत्वं तेन **स्वयमेवावशिष्यते** न तु भावाभावात्मकं किमपीत्यर्थः ॥ ५०–५१ ॥ अमुमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयति–**शुक्तिकेति** । यथा शुक्तावारोपितस्य रजतस्याधिष्ठानशुक्तियाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तौ सत्यामधिष्ठानभूता शुक्तिरेव केवलमवशिष्यते न त्वन्यद्रजतं तदभावलक्षणं किमपि । तद्वदेव सकलजगदधिष्ठानपरशिवस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन समारोपितजगन्निवृत्तावधिष्ठानमात्रावशेषोऽवगन्तव्य इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ ननु [3]मुक्तावस्थायां जगतः प्रतीत्यभावात्तदभावो विद्यत इति कथमधिष्ठानमात्रावशेषतेति केषांचिच्छङ्कामनुभाषते–**शिवात्मनेति** । मुक्तावस्थायामधिष्ठानशिवरूपेणैव जगदवतिष्ठते न तु तद्व्यतिरिक्तभावा[4]भावात्मना रूपेणत्येतन्न संभवति । भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वेन जगत्सद्भावाभावे तदभावनियमावश्यंभावात् । अतो मुक्तौ जगतोऽभाव एव न तु शिवात्मनाऽवस्थानमिति कथमधिष्ठानमात्रावशेषतेत्यभिप्रायः ॥ ५३ ॥

अनित्य (नाशवान्) तो हो ही जायेगा क्योंकि जो साधनादि कुछ करके प्राप्त हुआ है वह अवश्य समाप्त भी होगा ॥ ४९ ॥ अतः यही स्वीकारना पड़ेगा कि जीव वस्तुतः बिना किसी कारण के स्वयं शिव है । परा विद्या से वह अपने उसी स्वभाव में स्थित हो जाता है, अज्ञान से जो अपने को जीव समझता था वह ग़ैरसमझी नहीं रह जाती ॥ ५० ॥ अपने अज्ञान को और उससे उत्पादित प्रपंच को 'यह सब कुछ नहीं है, मैं ही हूँ' इस प्रकार अपने में विलीन कर अपने पूर्ण शिवरूप से स्वयं ही बचा हुआ रह जाता है । यही मोक्षावस्था है ॥ ५१ ॥ सीप में दीखी चाँदी सीप के यथार्थज्ञान से 'चाँदी नहीं है, सींप ही है' इस प्रकार सींप में लीन हो जाती है और अकेली सींप ही बच जाती है–ऐसे जैसे लोक में अनुभव होता है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ॥ ५२ ॥ कुछ लोग शंका करते हैं कि मोक्ष में अकेला शिव ही रहता है ऐसा नहीं, संसार का अभाव भी तो रहता है । अतः अद्वैत कैसे ?

---

१ घ. च. "न्नप" । २ ङ. "वे न" । ३ ङ. मुक्त्यव" । ४ घ. "वात्म" ।

अभाव एव मुक्तौ तु जगतो[1] हि भविष्यति ॥ ५३ ॥

इत्येवं केचिदिच्छन्ति स च मन्दमतिभ्रमः ।

भावरूपं तु वस्त्वेव ह्यभावि भवति द्विजाः ॥ ५४ ॥

जगन्न भावो नाभावो भावाभावविलक्षणम् ।

तस्मादध्यस्तबाधस्तु[2] न भावोऽभाव एव न ॥ ५५ ॥

अधिष्ठानावशेषो हि केवलं पण्डितोत्तमाः । जगद्भ्रमस्याधिष्ठानं शिवः सत्यस्वभावतः ॥ ५६ ॥

तदन्यदखिलं भ्रान्तं युक्तितश्च प्रमाणतः । तस्मात्सर्वजगद्बाधे शिव एवावशिष्यते ॥ ५७ ॥

शिवावशेषं सर्वस्य जगतः श्रुतिरादरात् । वक्ति तत्र न संदेहस्त्रिवः शपथयाम्यहम् ॥ ५८ ॥

तस्मात्सत्यपरानन्दप्रकाशाद्वैतमीश्वरम् । बोधयन्त्यादरेणैव श्रुतयः स्मृतिभिः सह ॥ ५९ ॥

तदेतन्निराकरोति–**स चेत्यादिना** । यदेतदभावप्रतियोगित्वं जगतोऽभिमतं तन्न युज्यते । यतो भावरूपमेव घटपटाद्यभावप्रतियोगि भवति न तावज्जगद्भावरूपम् । तथात्व आत्मवत्सर्वदाऽवस्थाननियमेनाबाध्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्यभावात्मकम् । नरविषाणवत्कदाचिदप्यप्रतिभासप्रसक्तेः । अतः प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्या **भावाभावविलक्षणं** तदिति जगतो भावरूपत्वाभावादभावप्रतियोगित्वं न युक्तमित्यर्थः । अतोऽध्यस्तबाधो नामाधिष्ठानमात्रावशेषो नान्यद्भावाभावात्मकं किमपीति निगमयति–**तस्मादिति** । शुक्तिकादावध्यस्तस्य मायामयरजतादेर्भावरूपत्वाभावेनाभावप्रतियोगित्वानुपपत्त्या तद्बाधस्यावश्यमधिष्ठानमात्रावशेषत्वं स्वीकर्तव्यम् । तद्वदध्यस्तजगद्बाधोऽप्यधिष्ठानमात्रावशेषो[3] नाभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः। भवेदेवं यदि जगच्छुक्तौ रजतमिव क्वचिदध्यस्तं स्यात्तु नाध्यस्तं योग्याधिष्ठानानुपपत्तेरित्यत आह–**जगद्भ्रमस्येति** । **सत्यस्वभावत** इति । सत्यस्यैव शुक्तिशकलादिकस्य रजताधिष्ठानत्वं दृष्टमिति तदनुसारात्सत्यस्वभावः परमात्मैव जगद्विभ्रमस्याधिष्ठानमित्यर्थः ॥ ५४–५६ ॥ ननु भवत्वधिष्ठानम् । शुक्तिरजतादिवैलक्षण्याज्जगतोऽध्यस्तत्वमयुक्तमित्यत आह–**तदन्यदिति** । **युक्तितश्च प्रमाणत** इति । यदि जगदध्यस्तं न स्यात्तर्ह्यात्मवज्ज्ञाननिवर्त्यत्वमपि न स्यादित्याद्यनुकूलतर्को युक्तिः । प्रमाणं तु विमतमध्यस्तं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्याद्यनुमानम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यद्वैतश्रुतिश्च । एवं प्रमाणतर्काभ्यां जगतोऽध्यस्तत्वप्रतिपत्तेस्तन्नाशोऽधिष्ठानपरशिवस्वरूपमात्रमेव[4] न त्वभाव इत्युपसंहरति–**तस्मादिति** ॥ ५७ ॥ **श्रुतिरादरादिति** । 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' इति [5]सकलभौतिकप्रपञ्चस्याधिष्ठानात्मयाथार्थ्यविज्ञानेनाऽऽत्ममात्रावशेषतां तात्पर्येण प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ ५८–५९ ॥

यह शंका मन्दमति वालों का भ्रम ही है ॥ ५३½ ॥ यह नियम है कि भावरूप वस्तु का ही अभाव हो सकता है क्योंकि संसार में घर आदि भाववस्तुओं का ही अभाव दृष्टचर है । जगत् भावरूप या अभावरूप वस्तु है नहीं किन्तु भाव और अभाव से विलक्षण मिथ्या है, अध्यस्त है । अतः उसका बाध होने पर अकेला अधिष्ठान ही बचता है, न कुछ भाव व न कुछ अभाव ॥ ५४–५५½ ॥ सत्य स्वभाव वाले होने से शिव ही जगद्रूप भ्रम के अधिष्ठान हैं । (जिसके ज्ञान से अध्यस्त की सत्यत्वबुद्धि नहीं रह जाती वह अधिष्ठान होता है ।) शिव से अतिरिक्त सब कुछ भ्रममात्र सिद्ध है । यह बात युक्ति व प्रमाण दोनों से निश्चित होती है । इसलिये यही स्वीकारना उचित है कि जगत् का बाध होने पर अकेले शिव ही रहते हैं । अतः अद्वैत ही है । (मण्डनादि आचार्यदेशीयों

---

१ ग. "तो न भ" । "तो नु भ" । २ नन्वभावनिश्चयो बाधो जगतोऽभाववत्वाभावे कथं स्यादिति चेत् ? न । अधिष्ठानसत्त्वनिश्चयस्यैव बाधपदार्थत्वात् । तेन च सममध्यस्तनिश्चयोऽसंभवीत्येतावन्मात्रेण तदभावनिश्चयोऽसावित्युच्यते । अत एव ह्यधिष्ठानसाक्षात्कारमन्तराऽध्यस्ताभावधी र्न बाध इत्यंगीकारः । सा नैव समस्तीति रहस्यम् । ३ घ. "पो न भा" । ४ ख. ग. ङ. "न्नाशाधि" । ५ ख. "लभूतभौ" ।

एकत्वबोधकस्यास्य वेदवाक्यस्य सुव्रताः । वाक्यान्तराणि सर्वाणि शेषभूतानि संततम् ॥ ६० ॥

वेदो नान्यस्य शेषस्तु यथा देवो महेश्वरः ।
शिवस्य शेषं सकलं श्रुतेर्मानानि सर्वशः ॥ ६१ ॥
यथा माता स्वपुत्रस्य सत्यमेवाभिभाषते ।
तथा सर्वजनस्यापि सत्यं वदति हि श्रुतिः ॥ ६२ ॥
श्रुतौ चापि महादेवे त्रिपुण्ड्रे भस्मगुण्ठने ।
श्रद्धां न कुरुते मर्त्यः पुण्यलेशविवर्जितः ॥ ६३ ॥
पापिष्ठानां मनुष्याणां त्रिपुण्ड्रोद्धूलने श्रुतौ ।
महादेवे च विद्वेषः स्वत एव विजायते ॥ ६४ ॥
वेदोत्कर्षे शिवोत्कर्षे विद्योत्कर्षे तथैव च ।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनोत्कर्षे श्रद्धा पुण्यवतां भवेत् ॥ ६५ ॥

एकत्वबोधकस्येति । जीवेश्वरयोर्भेदभ्रमनिरासेन पारमार्थिकमैक्यं बोधयतस्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य निरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणफलवदर्थप्रतिपादकत्वात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादीनि सर्वाण्युपनिषद्वाक्यानि तावत्तदपेक्षिततत्त्वंपदार्थप्रतिपादनद्वाराऽङ्गभूतानि तदनुसारिस्मृतिपुराणागमवाक्यान्यपि वेदवाक्यस्योक्तरीत्या शेषभूतान्येवेत्यर्थः ॥ ६०–७० ॥

ने 'अभाव से सद्वितीयता का प्रसंग नहीं होता' ऐसा मानकर अद्वैत का उपपादन किया है । पुराण का अभिप्राय है कि अभाव स्वयं एक कल्पित वस्तु है, सारी कल्पित वस्तुओं की निवृत्ति होने पर अभाव की भी निवृत्ति अवश्यम्भावी है अतः मोक्ष में अभाव का साहित्य मानना असंगत है ।) ॥ ५६–५७ ॥ मैं तीन बार शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रुति तात्पर्यतः कहती है कि मोक्ष में, भावत्वेन और अभावत्वेन अभिमत सारा ही जगत् नहीं रह जाता, एक शिव ही रहते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ५८ ॥ अतः सत्य, परमानन्द, चित्प्रकाश, अद्वैत, परमेश्वर का ही प्रतिपादन श्रुतियाँ व स्मृतियाँ करती हैं ॥ ५९ ॥ जीव-ईश्वर की एकता के बोधक महावाक्यों के अर्थबोधन के लिये ही अन्य सारे वाक्य हैं । अतः अन्य वाक्यों को महावाक्यों का शेष कहते हैं । (जो जिसके लिये होता है

अविरोधे तु वेदानां पुरोक्तेनैव वर्त्मना ।

वेदानुसारिस्मृत्यादौ पापिष्ठस्य न हि स्पृहा ॥ ६६ ॥

विष्ण्वादेः शिवसाम्यत्वे वेदसाम्ये परस्य च ।

कुर्वन्तीच्छामविद्वांसः पापमेवात्र कारणम् ॥ ६७ ॥

वेदानामपकर्षे तु त्रिपुण्ड्रादेस्तथैव च । तथा शिवापकर्षे च यतन्ते पापयोनयः ॥ ६८ ॥

महादेवश्च वेदश्च तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । व्यर्थमित्याहुरत्यर्थं पाषण्डाः पापयोनयः ॥ ६९॥

महादेवस्य माहात्म्यं वेदानामपि वैभवम् ।

त्रिपुण्ड्रस्य च माहात्म्यं न शक्यं वर्णितुं मया ॥ ७० ॥

वह उसका शेष कहा जाता है ऐसा मीमांसकों का संकेत है ।) ॥ ६० ॥ जैसे महादेव किसी के शेष नहीं, वैसे वेद किसी का शेष नहीं । सब कुछ जैसे शिव का ही शेष है, वैसे ही सभी अन्य प्रमाण श्रुति के ही शेष हैं । (शेष का शेषी से विरोध नहीं हुआ करता अतः प्रमाणान्तर श्रौत अद्वैत के बाधक नहीं बन सकते । शेषी ही बलवान् होता है । अतः श्रुति ही द्वैतसाधक प्रमाणों का बाध कर लेती है जिससे अद्वैत ही सत्य सिद्ध होता है ।) ॥ ६१ ॥ जैसे माता अपने पुत्र को सत्य बात ही बताती है वैसे ही श्रुति सभी लोगों को सत्य का ही उपदेश करती है ॥ ६२ ॥ जिस व्यक्ति में थोड़ा भी पुण्य नहीं होता, वह श्रुति, महादेव, त्रिपुण्ड्र और भस्मोद्धूलन में श्रद्धा नहीं कर पाता ॥ ६३ ॥ अत्यधिक पापी लोगों को अन्य किसी कारण के बिना ही त्रिपुण्ड्र, उद्धूलन, श्रुति और महादेव से द्वेष हो जाता है ॥ ६४ ॥ वेद, शिव, पराविद्या, त्रिपुण्ड्र और उद्धूलन की उत्कृष्टता में पुण्यशाली लोगों को ही श्रद्धा होती है ॥ ६५ ॥ घोर पापी पूर्वोक्त तरीके से वेदवचनों का अविरोध तथा वेदार्थ से स्मृतियों का अविरोध समझना ही नहीं चाहते, विरोध देखते रहते हैं ॥ ६६ ॥ नासमझ लोग जो विष्णु आदि को शिव के समान मानते हैं और अन्यान्य प्रमाणों को वेद के तुल्य बल वाला मानते हैं, इसमें कारण उनका पाप ही है ॥ ६७ ॥ पाप भोगने के लिये जिन्होंने जन्म पाया है वे पापयोनि लोग कोशिश करते हैं कि वेदों का अपकर्ष हो, त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन का आचार भ्रष्ट हो तथा शिव की हेठी हो ॥ ६८ ॥ पापयोनि पाखण्डी ही आयासपूर्वक यह कहते हैं कि महादेव, वेद, व त्रिपुण्ड्र व्यर्थ हैं ॥ ६९ ॥ महादेव की महत्ता, वेदों का वैभव और त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य मैं पूरा बता नहीं सकता, इतना ही पर्याप्त है ॥ ७० ॥

कर्मशेषत्वमायासाद्ब्रह्मकाण्डस्य केचन[1] ।
वर्णयन्ति न ते सन्तः किं तु ते विप्रलम्भकाः ॥ ७१ ॥
कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वं नियोज्यत्वं क्रियाफलम् ।
ग्रसते ब्रह्मविज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७२ ॥
[2]*अल्पलाभप्रदं कर्म ज्ञानं पूर्णफलप्रदम् । तथा सति मुनिश्रेष्ठास्तच्छेषत्वं कथं भवेत् ॥ ७३ ॥*
फलवत्कर्मशेषत्वमफलस्य हि सिध्यति । फलवद्धि परं ज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७४ ॥

कर्मशेषत्वमिति । स्वर्गाद्यामुष्मिकफलसाधनस्य ज्योतिष्टोमादिकर्मणोऽनुष्ठाने तत्फलभोगाद्देहातिरिक्तः कश्चिदात्मा विद्यत इत्यवश्यमधिगन्तव्यम् । तथाच कर्मापेक्षितदेहव्यतिरिक्तात्मप्रतिपादनद्वारा ज्ञानकाण्डस्य कर्मकाण्डशेषत्वं केचिन्मन्यन्ते । न चैतद्युक्तं ज्ञानकाण्डस्य कर्मोपयुक्तकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मरहितात्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–**आयासादिति** । उक्तविधात्मस्वरूपप्रतिपादकवाक्यसंदर्भस्योपासनाविषयत्वसमर्थनलक्षणमायासात्प्रा(सं प्रा)प्येत्यर्थः । तदेतन्निराकरोति–**न त** इति । **विप्रलम्भका** इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्' इत्यादीनामुपासनाविधिगन्धेनाप्यसंस्पृष्टानां तात्पर्येणासंसार्यात्मबोधकानां वाक्यानामन्यथाभिप्रायकल्पनात्तेषां विप्रलम्भकत्वमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

ज्ञानकर्मणोः स्वरूपफलादिपर्यालोचनयाऽङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेरिति हेतुमाह–**कर्तृत्वं** चेत्यादिना । देहातिरिक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्याऽऽत्मनो ज्ञानं हि कर्मापेक्षितम् । ज्ञानकाण्डस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मासंस्पृष्टमद्वितीयमात्मतत्त्वं तात्पर्यतोऽवगमयति न तु देहातिरिक्तकर्त्रात्मस्वरूपमात्रम् । तथा चौपनिषदमद्वितीयात्मविज्ञानं प्रत्यगात्मन्युपाधिवशाद्भासमानं कर्मापेक्षितं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलधर्मं विलापयत्कथं कर्मणः शेषभूतं [3]स्याद्विरोधादित्यभिप्रायः । नियोगो नाम[4] यद्यभिधेयमपूर्वं तद्बोद्धृत्वेन पुरुषस्य नियोज्यत्वं, तन्निष्पादकत्वं कर्तृत्वम् । एतच्च द्वादशेऽध्याये–'नियोज्यत्वं च कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च तथैव च' इत्यत्र (४.१२.११) विस्तरेण प्राक्प्रतिपादितमित्युपरम्यते ॥ ७२ ॥ **अल्पलाभप्रदमिति** । स्वर्गपशुपुत्रादिकं स्वल्पमेव फलं कर्म प्रयच्छति । विज्ञानं तु परमानन्दावाप्तिलक्षणं परिपूर्णं फलं प्रयच्छति । अल्पं हि लोकेऽधिकं प्रत्यङ्गत्वेन दृष्टं स्वामिभृत्यादौ । तस्मादधिकफलं ज्ञानं न्यूनफलस्य कर्मणोऽङ्गमित्येतन्न युक्तमित्यर्थः ॥ ७३ ॥ **फलवदिति** । अफलस्य हि प्रयाजादेः कैमर्थक्यवशात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन फलवदाग्नेयादियागशेषत्वं दृश्यते । ज्ञानस्य तु पृथक्फलसद्भावस्य श्रुतत्वेन फलाकाङ्क्षाया अभावान्नान्यशेषत्वमित्यर्थः

कुछेक व्याख्याता ब्रह्मकाण्ड को (उपनिषदों को) कर्म का शेष बताते हैं । (कर्म करना तब संभव है जब देहातिरिक्त और नित्य आत्मा हो । अतः उपनिषदें ऐसे आत्मा का ज्ञान कराती हैं जिससे हम निःशंक कर्म करें–यह उनकी मान्यता है ।) किन्तु ऐसे लोग भले आदमी नहीं, ठग हैं ॥ ७१ ॥ ब्रह्मज्ञान कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नियोज्यत्व, क्रियाफल–इन सबको समाप्त करने वाला है, अतः इनका शेष (–इनके लिये–) हो यह संभव नहीं । (इस तथ्य को कि श्रुति अकर्ता आत्मा का उपदेश करती है वे छिपा लेते हैं और कहते हैं कि औपनिषद श्रुति कर्मशेष है, इसीलिये वे ठग हैं ।) ॥ ७२ ॥ कर्म थोड़ा-सा लाभ देता है जबकि ज्ञान का फल है पूर्णता । (अल्पफलक ही महाफलक का शेष देखा गया है ।) ऐसी स्थिति में ज्ञान क्योंकर कर्म का शेष हो सकता है ? ॥ ७३ ॥ निष्फल वस्तु ही सफल का शेष होती है ऐसा व्यासशिष्य जैमिनि आदि ने स्थिर किया है । परमात्मज्ञान स्वयं सफल है तो कर्म या अन्य किसी का शेष हो कैसे सकता है ? ॥ ७४ ॥ किं च (अंगताबोधक प्रमाणों का भी जैमिनि

१ भट्टाचार्य एव तावात्तथाविधात्मनो दृढबोध उपनिषद्भ्योऽभि जायत इत्यश्लोकयत् । 'दृढत्वमेतद्विषयश्च बोध' इत्यादिना । अकर्त्राद्यात्मनो व्यावृत्तय एव 'एतद्विषय' इत्युक्तं, तन्मते कर्त्रादित्वादात्मनः । २ घ. ङ. "ल्पफलप्र" । ३ ग. "दिति भावः । नि । ४ 'यद्य' इत्यत्र 'कार्या-' इति पिपठिषामि ।

कर्मप्रकरणस्थं हि ज्ञानं कर्माङ्गमिष्यते । भिन्नप्रकरणं ज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७५ ॥

कर्म साध्यफलं ब्रह्मज्ञानं सिद्धफलं बुधाः ।

तथा सति मुनिश्रेष्ठास्तच्छेषत्वं कथं भवेत् ॥ ७६ ॥

अधिकारिविभेदेन प्रवृत्तं मुनिपुंगवाः । काण्डद्वयमतोऽन्यस्य कथमन्यद्गुणो भवेत् ॥ ७७ ॥

॥ ७४ ॥ ननु यथा प्रयाजविधिवाक्यशेषेण 'वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते' इत्यादिना श्रुतस्य फलस्य 'अङ्गे फलश्रुतिरर्थवादः' इति न्यायेनार्थवादत्वं तथा ज्ञानफलस्याप्यर्थवादत्वात्प्रयाजवदङ्गत्वं किं न स्यादित्यत आह—**कर्मप्रकरणेति** । प्रयाजादेर्हि दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वेनाङ्गाङ्गिभावस्य निर्णीतत्वाद्युक्तं तदीयफलश्रवणस्यार्थवादत्वम् । न तथा ज्ञानं कस्यचित्कर्मणः प्रकरणे स्थितं येन फलश्रुतेरर्थवादता कल्प्येत । अतः प्रकरणभेदादपि ज्ञानस्य न कर्माङ्गत्वम् ॥ ७५ ॥**कर्म साध्यफलमिति** । यागहोमादिक्रियानिष्पाद्यत्वात्स्वर्गादेः[1] । **सिद्धफलमिति** । ज्ञानप्राप्यस्य फलस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मस्वरूपत्वादित्यर्थः ॥ ७६ ॥ **अधिकारिविभेदेनेति** । कर्मकाण्डे स्वर्गपुत्रादिफलरागयुक्तोऽधिकारी, वैराग्यादियुक्तस्तु ज्ञानकाण्डस्येत्यधिकारिविशेषमुपादाय प्रवृत्तत्वेनेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

आदि ने निर्णय किया है । श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये प्रसिद्ध प्रमाण हैं जो अंग-अंगि के निर्णायक हैं । साक्षात् श्रुति कहीं भी ब्रह्मज्ञान को कर्मशेष नहीं कहती । ब्रह्मज्ञान में यह योग्यता भी नहीं कि वह कर्मशेष बने, बल्कि वह तो उसका विरोधी है । ब्रह्मज्ञान कहीं कर्म के साथ इकट्ठा कहा भी नहीं गया है जो सह-उच्चारणमात्र से अंगांगिभाव समझा जाये । क्रमशः उपदिष्ट वस्तुओं का यथाक्रम सम्बन्ध स्थान कहा जाता है । जैसे 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्' (तै. सं. २.२.१.१.) आदि दस इष्टियाँ क्रमशः विहित हैं और 'इन्द्राग्नी रोचनादिवः' इत्यादि मंत्र क्रमशः पठित हैं (ऋ.सं. ३.१२.९), अतः निश्चित होता है कि पहला मंत्र पहली इष्टि का अंग है, दूसरा दूसरी का इत्यादि । ऐसा कोई क्रम कर्म और ज्ञान में उपलब्ध नहीं । समाख्या अर्थात् नाम भी ऐसा कोई नहीं है जिससे प्रतीत हो कि ब्रह्मवेत्ता का अमुक कर्म है, जैसे आध्वर्यव—इस नाम से समझ आता है कि यह कर्मपूग अध्वर्यु के हैं । उल्टा 'यति' (महाना १०.६, मुं. २.६, कैव. १.३), 'अत्याश्रमी' (श्वे. ६. २१) आदि समाख्यायें यही द्योतित करती हैं कि ज्ञानी कर्मत्यागी होते हैं । न आत्मज्ञान के विना कर्म साकांक्ष रहता है और न कर्म के बिना आत्मज्ञान । अतः उभयाकांक्षारूप प्रकरण भी यहाँ अंगताबोधक नहीं यह बताते हैं–) कर्म के प्रकरण में स्थित उपासनादि ज्ञान ही कर्म का अंग स्वीकारा जाता है । ज्ञान तो उससे अलग प्रकरण में स्थित है । अतः यह उसका शेष हो यह संभव नहीं ॥ ७५ ॥ कर्म का फल साध्य वस्तु हुआ करती है । (साध्य अर्थात् उत्पाद्यादिचतुष्टयसम्बन्धी । कर्म से या कुछ पैदा किया जा सकता है या पाया जा सकता है या सुधारा जा सकता है या बिगाड़ा जा सकता है । अतः वह वस्तु जो या पैदा हो सकती है, पायी जा सकती है, सुधारी या बिगाड़ी जा सकती है, साध्य कहलाती है । वही कर्म का फल हो

---

१ उत्पत्त्यादिविशिष्टमेव फलं, न वस्तुमात्रमतिप्रसंगान्न च तन्मुक्तेर्विशेषणं समस्ति, ततो न मोक्षफलं कर्म ।

कर्माज्ञानस्य सद्भावे न तथा ब्रह्मवेदनम् । तथा सति कथं विप्रा ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ ७८ ॥

अप्रकाशात्मकं कर्म स्वप्रकाशं तु वेदनम् । तथा सति कथं विप्रा ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ ७९ ॥

ज्ञानकर्मणोः सहावस्थानासंभवादप्यङ्गाङ्गिभावो न युक्त इत्याह–**कर्माज्ञानस्येति** । सर्वानर्थप्रपञ्चस्य मूलभूतं प्रत्यगात्मनः पारमार्थिकपरशिवस्वरूपत्वाच्छादकमज्ञानं सविलासे तस्मिन्सत्येव कर्म तत्प्रसादेन स्वात्मानं लभते । अद्वैतज्ञानं तु तदज्ञानं निवर्तयदाविर्भवति[1] । तथाच ज्ञानकर्मणोः सहावस्थानविरोधादङ्गाङ्गिभावेन न समुच्चयो घटत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥ **अप्रकाशात्मकमिति** । अज्ञानकार्यत्वात्कर्माप्रकाशात्मकम् । प्रकाशब्रह्मात्मकत्वाज्ज्ञानं प्रकाशात्मकम् । तथाच तमःप्रकाशयोरिवानयोः सहावस्थानानुपपत्त्या कथमङ्गाङ्गिभावेन समुच्चय इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

यह संभव है ।) इससे विपरीत ज्ञान का फल सिद्ध वस्तु होती है । (उत्पत्त्यादि से सम्बद्ध न हो सकने वाली स्वप्रकाश वस्तु यहाँ साध्यशब्दार्थ है ।) यों विपरीत फल वाला ज्ञान कर्म का अंग हो यह कैसे हो सकता है ? (द्वारतया भी अंगता संभव नहीं । कारण यह है कि द्वार वही होगा जो अगले को अर्थात् अंगी को संभव बनाये । आज्यावेक्षण सिद्धफलक होने पर भी क्योंकि अवेक्षित आज्य का होम संभव करता है, कारण कि अवेक्षित आज्य का ही होम विहित है, इसलिये कर्म का अंग हो सकता है । किंतु ब्रह्मज्ञान तो सकल क्रियाकारकादिका उपमर्दन कर देगा, फलतः कर्म असंभव हो जायेगा । अतः वैसे भी अंगता असंभव है । ॥ ७६ ॥ और भी, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विभिन्न अधिकारियों को उद्देश्य कर प्रवृत्त हुए हैं । इससे भी कर्म व ज्ञान में अंगांगिभाव नहीं हो सकता । (कर्म में रागी का और ज्ञान में विरागी का अधिकार है । एक ही व्यक्ति दो काम करे तब तो कामों की अंगांगिता संभव भी है । यहाँ तो जो कर्म कर सकता है वह ज्ञान नहीं और जो ज्ञान पा सकता है वह कर्म नहीं कर सकता । अतः ज्ञान अंग हो कर्म का यह कैसे होगा ?) ॥ ७७ ॥ इतना ही नहीं, कर्म होता है जब अज्ञान हो और ज्ञान तब होता है जब अज्ञान न हो । इस स्थिति में ज्ञान और कर्म का सह-अवस्थानरूप समुच्चय क्योंकर हो सकेगा ? ॥ ७८ ॥ कर्म किसी वस्तु का भान कराने वाला नहीं जबकि ज्ञान स्वयं भानरूप है । अतः स्वरूपतः विरोधी वस्तुएँ शेषशेषी हो नहीं सकतीं जिससे ज्ञान व कर्म का सह-अवस्थान नामक समुच्चय असंभव है ॥ ७९ ॥ अतः

---

१ तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षणेऽज्ञानानधिकरणत्वनियमांगीकारात् । तयोः सहभावः क्षणमपि चेन्न ज्ञानमज्ञानं निवर्तयेदिति भावः ।

तस्माद्वेदान्तभागस्तु ब्रह्मकाण्डसमाह्वयः । सर्वथा कर्मकाण्डस्य नैव शेषः कदाचन ॥ ८० ॥

एवं ज्ञानस्य कर्मशेषत्वानुपपत्तेस्तत्प्रतिपादको वेदान्तभागो न कर्मकाण्डशेष इत्युपसंहरति-तस्मादिति ॥ ८० ॥

निश्चित है कि ब्रह्मकाण्ड कहलाने वाला उपनिषद्भाग कभी भी कर्मकाण्ड का शेष नहीं है । (विविदिषावाक्य तो ऐसे समुच्चय में प्रमाण है जो सिद्धान्त में स्वीकृत है । 'यज्ञेन' शब्द की तृतीयाश्रुति इष्यमाण वेदन के प्रति कर्म की कारणता बताती है, अतः क्रमसमुच्चय सिद्ध होता है, सहसमुच्चय नहीं । 'विद्यां च अविद्यां च' आदि तो सर्वथा ही समुच्चयपरक नहीं हैं । यदि विद्या से ब्रह्मज्ञान अर्थ मान भी लें तो वहीं विद्या और अविद्या का फलभेद बताया है—अविद्या का फल है मृत्युशब्दित कल्मष का निरास और विद्या का अमृतत्व । अतः विभिन्नफलक होने से समुच्चय नहीं है । किं च 'तीर्त्वा' की क्त्वा-श्रुति स्पष्ट ही क्रमसमुच्चय में प्रमाण होगी । 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ. ४.४.९) अर्थात् 'उस मार्ग से पुण्य करने वाला तेजस्वी ब्रह्मवेत्ता जाता है'—यह वाक्य भी समुच्चय का लिंग नहीं है । 'तेन' शब्द से किस मार्ग का परामर्श है ? यदि देवयान का, तब तो यहाँ ब्रह्मवित्शब्द से अहंग्रहोपासक मानना पड़ेगा क्योंकि परब्रह्मवेत्ता का मार्गों से गमन नहीं होता यह 'उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति ? नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ. ३.२.११) आदि से निश्चित किया जा चुका है । यदि 'तेन' का अर्थ है ब्रह्मविद्यारूप मार्ग, तब पुण्यकृत् का अर्थ करना होगा 'जिसने पूर्व में पुण्य किये हैं' क्योंकि पुण्य करने वाला तो धूमादि या अग्न्यादि मार्ग पाता है यह 'अथ य इमे ग्रामे' (छा.५.१०.३) आदि में निश्चित हो चुका है इसलिये उसका ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग पाना अस्वीकार्य है । इसी वाक्य से पुण्यकर्ता के लिये भी मार्गोपदेश मानें तो स्पष्ट क्रम-समुच्चय होगा—पुण्यकारी ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग से परमप्राप्ति करता है, यह कहने का अर्थ ही है कि पहले पुण्य कर चुकता है, फिर ज्ञान पाता है जिससे परलाभ होता है । इसी वाक्य से यह भी मान लें कि पुण्य करते हुए ब्रह्मज्ञान पाता है और मार्गविधान भी मान लें तो वाक्यभेद स्फुट है । अन्य दोष तो हैं ही । किं च 'यज्ञरूप नौकायें अदृढ हैं' ऐसी निंदापूर्वक परब्रह्म के विज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु की शरण जाने का विधान मुंडक में मिलता है जो समुच्चय में असंगत होगा । साधन की निंदा अनुचित होती है । अन्यथा अन्य भी निन्दित रजतदानादि की साधनता का प्रसंग होगा । 'झूठ बोलना छोड़ने से, तप से, सम्यग्ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्य है' (मुं. ३.१.५) आदि वाक्य भी सम्यग्ज्ञान का तप से साहचर्य कहते हुए समुच्चय में प्रमाण हैं ऐसा नहीं मान सकते । कारण यह है कि वहाँ, तप का अर्थ है मन व इंद्रियों की एकाग्रता । उस प्रसंग में पहले से ही ज्ञानमात्र की साधनता कही जा रही है—'यदा पश्यति......महिमानमिति; यदा पश्य...तदा...परमं साम्यमुपैति' (३.१.२,३) और अनुपद ही कर्म की साधनता का निषेध किया है—'नान्यै र्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (३.१.८) । अतः मध्य में समुच्चय-विधान असंगत हो जायेगा । इतना ही नहीं साक्षात् प्रतिषेध भी श्रुति करती है ज्ञानेतर साधन का 'नान्यः पन्थाः', 'नास्त्यकृतः कृतेन; 'न कर्मणा न प्रजया' आदि । सब कर्मों का ससाधन संन्यास ज्ञान के अंगरूप से विहित होने से भी सहसमुच्चय संभव नहीं । यदि कर्मों को मोक्षफलक मानने का साहस करें तो भी विकल्प ही सिद्ध हो सकता है, समुच्चय नहीं; चाहे कर्म से मोक्ष पाओ, चाहे ज्ञान से । इस पक्ष के दोष मोक्षानित्यत्वप्रसंग आदि पूर्व में कहे जा चुके हैं । यह भी नहीं कर सकते कि ज्ञान के करने का ढंग—इतिकर्तव्यता—कर्म

तथैव कर्मभागश्च ब्रह्मकाण्डस्य सर्वथा ।

न साक्षादेव शेषः स्याज्ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् ॥ ८१ ॥

शान्तिदान्त्यादयः [1]सर्वे गुणा एव मुनीश्वराः ।

अङ्गानि ब्रह्मविद्यायाः श्रवणं करणं बुधाः ॥ ८२ ॥

विद्याफलोपकारि स्यान्मननं चिन्तनं तथा । ज्ञानमज्ञानविच्छित्तौ न सहायमपेक्षते ॥ ८३ ॥

तमोनिवृत्तौ सूर्यस्तु यथा नान्यदपेक्षते । तथाऽज्ञाननिवृत्तौ तु ज्ञानं नान्यदपेक्षते ॥ ८४ ॥

ननु तर्हि कर्मकाण्ड एव ज्ञानकाण्डस्य शेषो भवत्वित्यत आह–**तथैवेति** । परम्परया शेषत्वस्योपरिष्टाद्वक्ष्यमाणत्वात्तद्व्यावृत्तये विशिनष्टि–**न साक्षादिति** । ननु तदद्वितीयपरशिवस्वरूपज्ञानं केन प्रमाणेन जन्येत, कानि पुनस्तदुत्पत्त्यनुकूलव्यापारनिष्पादनेनाङ्गभावं भजन्ते, किंवा तदुत्पत्तौ करणं फलोपकार्यङ्गं च किमित्येतत्सर्वं क्रमेणाऽऽह–**ज्ञानं वेदान्तवाक्यजमित्यादिना** ॥ ८१ ॥ **शान्तिदान्त्यादय** इति । 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्यादिश्रुत्युक्तमुपरत्यादिकमादिशब्दग्राह्यम् ॥ ८२ ॥ **विद्याफलोपकारीति** । करणभूतस्य वेदान्तवाक्यार्थविचारात्मकस्य श्रवणस्य जीवब्रह्मतादात्म्यगोचरविद्याजननलक्षणं यत्फलं तदुपकारकमित्यर्थः । अत एवाऽऽम्नायते–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति । सा च श्रुतिरेवमाचार्यैर्व्याख्याता–'आत्मदर्शनमुद्दिश्य मनननिदिध्यासनाभ्यां, फलोपकार्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गि विधीयते' इति ॥ ८३ ॥ विद्यायाः स्वोत्पत्तावेव करणोपकरणाद्यपेक्षा न तु [2]स्वकार्येऽन्यदपेक्षत इत्येवं दृष्टान्तेनोपपादयति–**तमोनिवृत्ताविति** ॥ ८४ ॥

है, क्योंकि ज्ञान कैसे किया जाये, इसका निरूपण शास्त्र ने ही कर दिया है–'शान्तः...पश्येत्; 'श्रोतव्यः' इत्यादि से, तथा कर्मों का ज्ञान के उपाय रूप से ही विविदिषावाक्य में विधान है । कारण होने से वे पूर्व में ही रह सकते हैं । पुनः ज्ञान के ढंगरूप से उपस्थित नहीं हो सकते । यह विषय विवरण में (पृ. ७११-७२० कल.) विस्तार से प्रतिपादित है । बृहद्भाष्य तथा वार्तिक में तो समुच्चय पक्ष की धज्जियाँ उड़ा दी गयी हैं, अतः वहीं से विशेष समझना चाहिये ।) ॥ ८० ॥ इसी तरह कर्मकाण्ड भी ब्रह्मकाण्ड का सर्वथा व साक्षात् शेष नहीं है । (ज्ञान के बिना कर्म स्वर्गादि स्वफल देने में समर्थ हैं ही अतः कहा 'सर्वथा' । विविदिषा द्वारा कर्मों की ज्ञानोपयोगिता स्वीकृत होने से कहा 'साक्षात्' ।) ॥ ८०½ ॥

ब्रह्मविद्या के अंग हैं वेदान्तवाक्यों से होने वाला ज्ञान तथा शम, दम आदि सब गुण । विद्या का साक्षात् करण श्रवण है ॥ ८१–८२ ॥ विद्या है फल जिसका उस श्रवण का उपकारी है मनन और चिन्तन (चिन्तन का अर्थ है श्रुत व मत विषय को पुनः पुनः दुहराना और उससे विरुद्ध विचार छोड़ना ।) ज्ञान स्वयं उत्पन्न होने के लिये कर्म, शमादि, मननादि व श्रवण की जरूरत रखता है किन्तु अज्ञान को नष्ट करने के लिये किसी की सहायता नहीं चाहता । (व्यास जी ने अग्नीन्धनाद्यधिकरण (३.४.५.२५) में

---

१ अमानित्वादयोऽद्वेष्टृत्वादयश्च स्मार्ता गुणा इह ज्ञेयास्तद्वतएव ज्ञानोदय इति वार्तिकाचार्यैरुक्तत्वात् । २ घ. "र्ये वेदनेऽन्य" ।

क्षणध्वंसिक्रियायास्तु धर्माधर्मात्मकं फलम् ।
न ज्ञानं[1] तेन विद्याया न साक्षात्कर्म साधनम् ॥ ८५ ॥
अधर्मस्य फलं साक्षान्नरकप्राप्तिरेव हि ।
न ज्ञानं तेन विद्याया नाधर्मः साधनं भवेत् ॥ ८६ ॥
धर्मस्य पापविच्छित्तिद्वारा शुद्धिस्तु मानसी ।
फलं न ब्रह्मविज्ञानं तेन धर्मो न साधनम् ॥ ८७ ॥
कर्मणा शुद्धचित्तस्य संसृतेर्दोषदर्शनम् ।
पुनर्विरक्तिः संसारान्मोक्षेच्छा जायते तथा ॥ ८८ ॥
तस्मात्कर्म प्रनाड्यैव ज्ञानशेषं न चान्यथा । अत एवोक्तमार्गेण तयोः समसमुच्चयः ॥ ८९ ॥
सुतरामेव नास्त्येव सम्यगुक्तं मयाऽनघाः । अतश्चान्योन्यसंबन्धः काण्डयोर्नैव विद्यते ॥ ९० ॥

श्रवणादिवत्कर्मणोऽपि प्रसक्तं विद्योत्पत्तिसाधनत्वं निराकरोति-**क्षणध्वंसीत्यादिना** ॥ ८५-८७ ॥ एवं साक्षाद्विद्यासाधनत्वं कर्मणो निराकृत्य 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुत्या विहितं परम्परया तत्साधनत्वमाह- **कर्मणा शुद्धचित्तस्येति** ॥ ८८ ॥ **उक्तमार्गेणेति** । विज्ञानस्य कर्मशेषत्वनिराकरणप्रस्तावे 'कर्माज्ञानस्य सद्भाव' इति यदुक्तं तेनेत्यर्थः ॥ ८९-९५ ॥

यह स्थापित किया है । अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रमाणमात्र का यह नियम स्वीकारा है कि वे अपना कार्य करने में किसी सहायता को नहीं चाहते-'विद्या, स्वकार्ये नेतिकर्तव्यतापेक्षा, प्रमाणत्वाद् अबोधनिवृत्तिफलत्वाद्वा, (पृ. ९६२ प्रकटार्थ.) । इससे समुच्चय व्यर्थ है यह स्पष्ट है ।) ॥ ८३ ॥ जैसे अंधेरा हटाने के लिये सूर्य को अपने से भिन्न किसी की आवश्यकता नहीं, वैसे ही अज्ञान को निवृत्त (बाधित) करने के लिये ज्ञान को किसी की आवश्यकता नहीं ॥ ८४ ॥

अनित्य कर्म का फल पुण्य या पाप (और तद्द्वारा सुख या दुःख) ही होता है । ज्ञान किसी कर्म का साक्षात् फल नहीं । अतः कर्म ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं ॥ ८५ ॥ अधर्म का फल है सीधे नरकप्राप्ति, ज्ञान उसका फल नहीं (क्योंकि ऐसा कोई शास्त्रवचन नहीं जो पाप या अधर्म को ज्ञान-साधन बताये) । अतः विद्या का उपाय अधर्म है, यह नहीं मान सकते । (उल्टा 'धर्म्यम्' (गी. ९.२) आदि समाख्या से अधर्म की ज्ञानसाधनता विरुद्ध होगी ।) ॥ ८६ ॥ धर्म का कार्य है पापों का क्षय कर मन को शुद्ध करना, ब्रह्मज्ञान पैदा करना नहीं । अतः धर्म भी साक्षात् साधन ज्ञान का नहीं है ॥ ८७ ॥

---

1 ज्ञानं साक्षान्न फलमिति साक्षाच्छब्द इहापि युज्यते । कर्म विविदिषोपहारमुखेनैव ज्ञानस्य साधनम् ।

न्यायाभासं महामोहादवलम्ब्य नराधमाः । विप्लावयन्ति वेदार्थं नैतेषां मतिरुत्तमा ॥ ९१ ॥

प्रत्युत भ्रान्तिविज्ञानाद्वेदान्तार्थस्य बाधनात् । सदा संसारवर्तित्वमेव तेषां न संशयः ॥ ९२ ॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं सर्ववेदार्थवर्जिताः । परिभ्रमन्ति वेदार्थादन्यत्रैव विचेष्टिताः ॥ ९३ ॥

वेदानशेषानवधार्य मर्त्यो मदुक्तवेदान्तविचारमार्गम् ।

उपैति पुण्येन च शंभुभक्त्या शिवप्रसादेन न चेतरेण ॥ ९४ ॥

अविरोधः कथितो मया द्विजाः कृपयैव श्रुतिगोचरस्तु वः ।

मतिरेषा मनुजस्य मुक्तिदा विपरीता मतिरस्य नाशिनी ॥ ९५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वेदानामविरोधनिरूपणं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वेदानामविरोधनिरूपणं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

कर्मफलस्वरूप जिसका चित्त शुद्ध हो चुकता है उसे संसार में दोषदृष्टि होती है जिससे वह विरक्त होकर संसार से छूटना चाहता है ॥ ८८ ॥ अतः कर्म विविदिषा की प्रणाली से (द्वार से) ही ज्ञान का शेष बनता है, साक्षात् नहीं । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान व कर्म का समसमुच्चय (सह-अवस्थान होकर फलोत्पादकत्व) हो यह सर्वथा असंभव है अतः दोनों काण्डों का ऐसा कोई संबंध नहीं है जिससे ज्ञानकाण्ड का विरोध कर्मकाण्ड कर सके ॥ ८९–९० ॥ जो लोग वेद के अर्थ में विरोध दिखाते हैं वे नीच मनुष्य तुच्छ बुद्धि वाले हैं अतएव युक्ति की तरह प्रतीत होने वाली बातों से कोमलमति वालों को ही संशयाविष्ट कर पाते हैं, विचारकों को नहीं ॥ ९१ ॥ वेदान्तसिद्ध अद्वैत अर्थ की काट करने वाले भ्रमज्ञान से उपेत होने से ऐसे लोग सदा संसारचक्र में ही परिभ्रमण करते रहते हैं ॥ ९२ ॥ अहो ! मोह की कितनी सामर्थ्य है कि लोग सारे वेद के अर्थ को न समझकर वेदार्थ से भिन्न बातों को ही जानने की चेष्टा करते हुए संसरण करते रहते हैं ॥ ९३ ॥ समस्त वेद के अर्थ का निर्धारण कर मेरे द्वारा बताये वेदान्त विचारमार्ग को वही मनुष्य प्राप्त करता है जिसका कुछ पुण्य हो और जिसने शंभुभक्ति की हो । शिव कृपा से ही इस मार्ग में गति मिलती है, अन्यथा नहीं ॥ ९४ ॥ हे ब्राह्मणों! इस अध्याय में मैंने कृपापूर्वक अविरोध का प्रतिपादन किया है और आप लोगों ने सुन भी लिया है । यह निश्चय कि वेदार्थ अविरुद्ध है, मनुष्य को मोक्ष प्रदान करता है और इससे विपरीत निश्चय नाश का कारण बनता है ॥ ९५ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ।
मया नोक्तमितः पूर्वमतिगुह्यमनुत्तमम् ॥ १ ॥
कायिकं वाचिकं चैव मानसं च तथैव च ।
त्रिविधं कर्म कर्तव्यं सर्वसिद्ध्यर्थमास्तिकैः ॥ २ ॥
सर्वसिद्धिकरं कर्म कायिकं बहुधा स्मृतम् ।
लिङ्गे शिवार्चनं चैव रुद्राक्षाणां च धारणम् ॥ ३ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोक्तैश्च सप्तभिः।
त्रियायुषेण मन्त्रेण भस्मना सजलेन च ॥ ४ ॥
सर्वाङ्गोद्धूलनं चैव त्रिपुण्ड्रस्य च धारणम् । शिवस्योत्सवसेवा च शिवक्षेत्रेषु वर्तनम् ॥ ५ ॥
वाचिकं कर्म विप्रेन्द्राः सर्वसिद्धिकरं नृणाम् । चिन्मन्त्रस्य जपस्तद्वत्पदाख्यस्य जपस्तथा ॥ ६ ॥
प्रणवस्य जपस्तद्वद्धंसाख्यस्य मनोर्जपः । षडक्षरस्य मन्त्रस्य सावित्र्याश्च जपस्तथा ॥ ७ ॥

एवं कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा परम्परया ज्ञानशेषत्वमुक्तम् । अथ किं तत्कर्मेति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात इति** ॥ १–५ ॥ **चिन्मन्त्रस्येति** । संविद्रूपिण्याः परशक्तेर्वाचको ह्ल्लेखामन्त्रश्चिन्मन्त्रः । **पदाख्यस्येति** । मातृकोत्पत्तौ'अपदं पदमापन्नमि'त्यादिना चतुर्थेऽध्याये प्रतिपादितत्वात्पदाख्योऽयं मातृकामन्त्रः ॥ ६–११ ॥

सर्वसिद्धि करने वाले धर्मों का विचार नामक चालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं उन धर्मों को बताने जा रहा हूँ जो सर्वोत्तम पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायक बनते हैं । यह श्रेष्ठ रहस्यभूत विषय इससे पहले नहीं बताया है ॥ १ ॥ सर्वसिद्धि के लिये आस्तिकों को तीन तरह के कर्म करने चाहिये–कायिक, वाचिक और मानसिक ॥ २ ॥ सर्वसिद्धिप्रद कायिक कर्म कई प्रकार का बताया गया है । शिवलिंग में महादेव की अर्चना, रुद्राक्ष धारण करना, 'अग्निरिति भस्म' आदि जाबालोक्त मंत्रों से तथा 'त्र्यायुषम्' आदि मंत्र से जलसहित भस्म का सारे शरीर में उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र धारण करना, शिवोत्सवों में शारीरिक सेवा करना तथा शिवक्षेत्रों में रहना–ये उत्तम कायिक कर्म हैं ॥ ३-५ ॥ सर्वसाधक वाचिक कर्म नानाविध है–चिन्मात्रवाचक शब्दों का जप, मातृका मंत्र का जप, प्रणवजप, हंसनामक मंत्र का जप, षडक्षरजप, गायत्रीजप, वेदों का पारायण, वेदांगों का पाठ–ये श्रेष्ठ वाचिक कर्म हैं ॥ ६–७½ ॥ सर्वसिद्धि करने वाले मानस कर्म हैं–महादेव व साक्षात् महादेवी का स्मरण, वेदान्त

वेदपारायणं चैव वेदाङ्गानां च कीर्तनम् । मानसं कर्म विप्रेन्द्राः सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ॥ ८ ॥

महादेवस्मृतिः साक्षान्महादेव्याः स्मृतिस्तथा । वेदान्तार्थविचारश्च वेदादन्यत्र विस्मृतिः ॥ ९ ॥

विरक्तिः सर्वलोकेभ्यो वेदार्थे निश्चयोऽचलः ।
स्मार्ते पौराणिकेऽप्यर्थे निश्चयश्च तथैव च ॥ १० ॥

शिवस्योत्कर्षताबुद्धिः शिवोऽहमिति भावना ।
एते धर्मा विशिष्टाः स्युः सर्वसिद्धिकरा अपि ॥ ११ ॥

एभ्योऽतिरिक्ता ये धर्माः श्रौतस्मार्तास्तथाऽपरे ।
ते तु वेदविदां मुख्याः सर्वसिद्धिकरा न हि ॥ १२ ॥

महादेवस्तु सर्वात्मा सर्ववस्त्ववभासकः । सर्वानन्दकरः पूर्णः सर्वदेवोत्तमोत्तमः ॥ १३ ॥

तस्यासाधारणा[1] धर्मा एत एव न चापरे ।
तस्मादेते हि सर्वेषां सर्वसिद्धिकरा नृणाम् ॥ १४ ॥

सत्तासिद्धिश्च सर्वेषां महादेवप्रसादतः ।
विष्ण्वादीनामतो धर्माः पूर्वोक्ताः सर्वसिद्धिदाः ॥ १५ ॥

मुखतो मोक्षदा ह्येते पृष्ठतः सर्वसिद्धिदाः । शीघ्रसिद्धिकराश्चैव शिवासाधारणत्वतः ॥ १६ ॥

यद्यपि शिवार्चनभस्मोद्धूलनचिन्मन्त्रपदमन्त्रजपादिकमात्मविद्याहेतुत्वेन प्रागेव प्रतिपादितं तथाऽपि सर्वसिद्धिकरत्वमेतस्यैव नान्येषां श्रौतस्मार्तानां कर्मणामित्येतद्दर्शयितुं पुनः प्रतिपादनम् । तदाह— **एभ्योऽतिरिक्ता** इत्यादिना ॥ १२–२५ ॥

के अर्थ का विचार, अवैदिक बातें भूल जाना, सारे लोकों से वैराग्य, वेद के अर्थ का दृढ निश्चय, स्मृतियों व पुराणों के अर्थ का निश्चय, शिव की सर्वश्रेष्ठता की समझ, 'मैं शिव हूँ' ऐसी भावना करना—ये श्रेष्ठ मानस धर्म हैं ॥ ८–११ ॥

हे वेदज्ञों में मुख्य मुनियों ! इनसे अतिरिक्त जो कर्तव्य शास्त्रों में प्रतिपादित हैं वे सर्वसाधक नहीं (अपना-अपना फल ही देते हैं) ॥ १२ ॥ महादेव सबके आत्मा हैं, सब वस्तुओं को वे ही प्रकाशित करते हैं, सबको आनंदित करने वाले, पूर्ण एवं सब देवताओं से श्रेष्ठ वे ही हैं ॥ १३ ॥ उनसे सम्बद्ध विशेष धर्म ये ही हैं, अन्य नहीं । अतः ये धर्म ही सबको सर्वसिद्धि करा सकते हैं ॥ १४ ॥ विष्णु आदि देवतान्तरों की सत्ता महादेव की कृपा से ही है । अतः पूर्वोक्त महादेव सेवारूप धर्म ही सर्वोत्तम फल के उपाय हैं ॥ १५ ॥ ये धर्म मुख्यतः मोक्ष देते हैं और आनुषंगिक रूप से सभी सिद्धियाँ प्रदान करते हैं । शिव से विशेष संबंध वाले होने से ये अति शीघ्र फल देते हैं ॥ १६ ॥ जैसे शिव के समान

---

१ ग. च. "तस्य सा" ।

शिवेन सदृशो देवो यथा विप्रा न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १७ ॥
शिवज्ञानसमं ज्ञानं यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १८ ॥
वेदमानसमं मानं यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १९ ॥
भूमिदेवसमो मर्त्यो यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २० ॥
मेरुणा पर्वतस्तुल्यो यथा लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २१ ॥
अन्नपानसमं किंचिन्न हि देहस्थितौ यथा ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २२ ॥
यथा भागीरथीतुल्या नदी लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २३ ॥
शिवस्थानसमं स्थानं यथा लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २४ ॥
सर्वसिद्धिकरा मुनिपुंगवा [१]एत एव सदैव न चापरे ।
चोदितेषु न संशयकारणं केवलं कृपयैव मयोदितम् ॥ २५ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्वसिद्धिकरधर्मविचारो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इति श्री सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्वसिद्धिकरधर्मविचारो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

कोई देव नहीं है वैसे इनके समान कोई धर्म भी नहीं ॥ १७ ॥ जिस प्रकार शिवज्ञान के तुल्य कोई ज्ञान नहीं है उसी प्रकार इन धर्मों से तुलना करने लायक कोई धर्म श्रुति या स्मृति में विहित नहीं ॥ १८ ॥ जैसे वेदरूप प्रमाण के समान कोई प्रमाण नहीं, भूसुर के समान कोई मनुष्य नहीं, मेरु के तुल्य कोई पर्वत नहीं, अन्न-जल के समान कोई देहस्थिति का कारण नहीं, गंगा के समान कोई नदी नहीं, शिवस्थान के तुल्य कोई तीर्थ नहीं, वैसे इन धर्मों के समान कोई धर्म शास्त्र में नहीं बताया गया है ॥ १९–२४ ॥ केवल कृपा कर जो मैंने आपको ये श्रेष्ठ धर्म बताये हैं ये ही सर्वसिद्धि करते हैं, अन्य नहीं । इस विषय में संदेह का कोई कारण नहीं ॥ २५ ॥

---

१ ग. एतदेव ।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि पातकानि समासतः ।
शृणुत श्रद्धया सार्धं परिहाराय सुव्रताः ॥ १ ॥
पातकानि समासेन दश प्रोक्तानि सूरिभिः । तारतम्यक्रमेणैव तेषामस्त्येव लाघवम् ॥ २ ॥
प्रथमं पातकं प्रोक्तं महापातकसंज्ञितम् । द्वितीयमतिपापाख्यं ततः प्रासङ्गिकाभिधम् ॥ ३ ॥
चतुर्थं पातकं प्रोक्तं पञ्चमं चोपपातकम् । [1]जातिभ्रंशकरं षष्ठं संकीर्णकरणं ततः ॥ ४ ॥
अपात्रीकरणं पश्चान्नवमं तु मलावहम् । प्रकीर्णकसमाख्यं तु दशमं पातकं द्विजाः ॥ ५ ॥
[2]प्रतिषिद्धसुरापानं ब्रह्महत्या तथैव च । ब्राह्मणानां सुवर्णस्य हरणं मुनिपुंगवाः ॥ ६ ॥
जननीगमनं चैव संयोगस्तैः सह द्विजाः । महान्ति पातकान्याहुर्मुनयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ७ ॥
असाक्षान्मातृगमनं स्वपुत्रीगमनं तथा । स्नुषाया गमनं तद्वद्भगिनीगमनं तथा ॥ ८ ॥
शिवस्य मूर्तिचलनं विष्णोश्च ब्रह्मणस्तथा । अतिपातकमित्याहुर्मुनयो वेदवित्तमाः ॥ ९ ॥

एवं विद्योत्पत्त्यनुकूलं कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिधाऽवस्थितं कर्म प्रतिपाद्य, तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकानां पापानाम् अनिर्ज्ञातस्वरूपाणां परिहाराऽसम्भवात् तत्परिहाराय तत्स्वरूपं वक्तुमारभते–अथात इति । परिहारायेति परित्यागार्थमित्यर्थः । अत एवोक्तं शावरभाष्ये 'अधर्मोऽपि विजिज्ञास्यः परिहाराय' इति ॥ १–९ ॥

पातक-विचार का कथन नामक इकतालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं पापों के विषय में बाताता हूँ ताकि व्यक्ति सजग रहे कि उससे पाप न हो और यदि करता हो तो छोड़ दे ॥ १ ॥ संक्षेप में, पातक दस बताये गये हैं जिनका क्रमशः तारतम्य है । उत्तरोत्तर पाप कम दोष वाला है ॥ २ ॥

सबसे अधिक दोष वाले को महापातक कहते हैं । दूसरे का नाम है अतिपातक, तीसरे का प्रासंगिक पाप, चौथे का पातक, पाँचवें का उपपातक, छठे का जातिभ्रंशकर पाप, सातवें का संकीर्णकरण, आठवें का अपात्रीकरण, नवें का मलावह-पाप और दसवे का प्रकीर्ण पाप है ॥ ३–५ ॥

निषिद्ध सुरा पीना, ब्राह्मण की हत्या करना, ब्राह्मणों का सोना हर लेना, माता से संभोग करना तथा इनमें से किसी कर्म को करने वालों से मेल-जोल रखना—ये महापातक बताये गये हैं ॥ ६–७ ॥ अतिपातक ये हैं—जो साक्षात् (सगी) माता न हो किंतु माता लगती हो उससे संभोग करना, अपनी पुत्री से, अपने पुत्र की पत्नी से तथा अपनी बहन से संभोग करना, शिव विष्णु या ब्रह्मा की प्रतिष्ठित मूर्ति को उसके स्थान से हटाना । (ब्रह्मवैवर्त पुराण में सोलह प्रकार की मातायें कही गयी हैं—स्तनपान कराने वाली, गर्भ से जन्म देने वाली, भोजन देने वाली, गुरुपत्नी, अपने इष्टदेव की पत्नी, पिता की पत्नी, कन्या (आठ वर्ष या उससे छोटी बच्ची), अपनी माता से ही उत्पन्न बहन, पुत्र की पत्नी, अपनी पुत्री, नानी, दादी, भाभी, मासी, बुआ और मामी । अन्यत्र इन छह को माता के समान ही बताया है—मासी, मामी, चाची, बुआ, सास और भाभी । ब्रह्मवैवर्त में ही अन्यत्र कहा गया है कि जिसे 'माता' इस प्रकार व्यवहार में सम्बोधित किया जाता है वह माता के तुल्य ही है और उससे कभी भोग नहीं करना चाहिये—'मातरित्येव शब्देन यां च संभाषते नरः । सा मातृतुल्या सत्येन धर्मः साक्षी ।' यहाँ इन सभी को सगी से अतिरिक्त माताओं में

---

१ घ. "तिभ्रष्टक" । २ 'अन्नविकारसुरायाएव त्रैवर्णिकानां प्रतिषेधः मधुसीध्वोस्तु क्षत्रियवैश्ययो नैव प्रतिषेध' इति तन्त्रवार्तिके (१.३.७..पृ १३१–१३२ आ. आ.) निर्धारितम् । तत्र मध्वादिकृतसुरा माध्वी, इक्षुरसविकारभूता गौडः ।

राजन्यवैश्ययोर्हिंसा यज्ञसंबन्धिनस्तथा । रजस्वलाया गर्भिण्या आर्तायाश्च वधस्तथा ॥ १० ॥

अविज्ञातस्य गर्भस्य शरणागतदेहिनः । कौटसाक्ष्यं सुहृद्धिंसा ब्राह्मणस्य तपोधनाः ॥ ११ ॥

पृथिवीहरणं, तद्वत्पितृव्यस्य तथैव च । मातामहस्य विप्रेन्द्रा मातुलस्य नृपस्य च ॥ १२ ॥

भार्याभिगमनं तद्वत्प्राहुः प्रासङ्गिकाभिधम् । स्वमातुः सोदरायास्तु गमनं तद्वदेव तु ॥ १३ ॥

मातृष्वसुर्मातृसख्युर्दुहितुर्गमनं तथा । मातुलानीस्नुषाश्वश्रूगमनं च तथैव च ॥ १४ ॥

त्रिपुण्ड्रधारणाभावो भूत्याऽनुद्धूलनं तथा । पुण्ड्रान्तरस्य विप्रेन्द्रा धारणं तद्वदेव तु ॥ १५ ॥

पाशाङ्कुशगदादण्डशङ्खचक्रादिभिर्द्विजाः । अङ्कनं विग्रहे सन्तः पातकं प्राहुरास्तिकाः ॥ १६ ॥

मातापित्रोः स्वसुश्चैव गमनं श्रोत्रियस्य च ।
ऋत्विगध्यापकस्यापि मित्रस्य च तथैव च ॥ १७ ॥

भार्याभिगमनं तद्वत्स्ववधूसख्युरास्तिकाः । स्वगोत्रायास्तथा विप्रकन्यकायास्तथैव च ॥ १८ ॥

चतुर्थाश्रमनिष्ठाया निक्षिप्तायास्तथैव च ।
पाषण्डेषु च निष्ठानां संबन्धो द्विजपुंगवाः ॥ १९ ॥

स्वस्यैव शरणं प्राप्तस्त्रिया गमनमेव च । दुर्गादित्यादिदेवानां चालनं विग्रहस्य च ॥ २० ॥

यज्ञसंबन्धिन इति । प्रवृत्तयज्ञस्य दीक्षितस्येत्यर्थः ॥ १०–२४ ॥

गिना नहीं समझना चाहिये । क्योंकि आगे तत्तत् स्त्रियों के संभोग को पृथक् गिना जायेगा । उनसे बची व ऊपर गिनायी स्त्रियाँ समझ लेनी चाहिये ।) प्रासंगिक पाप हैं—क्षत्रिय और वैश्य की हिंसा, जिसने यज्ञ करना प्रारम्भ कर रखा हो उसकी हिंसा, रजस्वला की, गर्भिणी की और दुःखी स्त्री की हिंसा, जिसे जानते ही नहीं उसकी हिंसा, गर्भस्थ शिशु की हिंसा, शरणागत की हिंसा, झूठी गवाही, मित्र की हिंसा, ब्राह्मण की ज़मीन दबोच लेना, चाचा की, नाना की, मामा की और राजा की पत्नियों से संभोग करना ॥ १०–१२¹/₂ ॥ इन्हें पातक कहते हैं—अपनी माता की सगी बहन से, मौसी की पुत्री से, माता की सखी की पुत्री से तथा ममेरी बहन की सास से संभोग करना, त्रिपुण्ड्र न लगाना, उद्धूलन न करना, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि लगाना, पाश अंकुश गदा दण्ड शंख चक्र आदि का शरीर पर अंकन कराना (गर्म लोहे आदि से दगवाना) ॥ १३–१६ ॥ मुख्य उपपातक ये हैं—माता व पिता की किसी बहन से, वेदज्ञ की, ऋत्विक् कर्म करने वाले अध्यापक की, और मित्र की पत्नियों से, अपनी पत्नी की सखियों से, अपने समान गोत्र वाली स्त्री से, (अपने से न ब्याही) वेदपाठी की पुत्री से, संन्यासधर्म का पालन करने वाली स्त्री से, किसी के द्वारा भरोसे पर अपने पास छोड़ी स्त्री से तथा अपनी शरण आयी स्त्री से सम्भोग करना, पाखण्ड करने वालों से सम्बन्ध रखना और दुर्गा, सूर्य आदि देवताओं की प्रतिष्ठित मूर्तियों को उनके स्थानों से हटाना । (माता की सगी बहन से संभोग पातक में आ चुका होने से माता की अन्य बहनें यहाँ समझनी चाहिये । पिता की सभी बहनें समझ लेनी चाहिये ।) ॥ १७–२०१/२ ॥ गौण उपपातक इन्हें

मुख्योपपातकं प्राहुर्महान्तो वेदवित्तमाः । असत्यभाषणं तद्वत्पैशुन्यं राजगामि च ॥ २१ ॥

गुरोश्चालीकनिर्बन्धो वेदनिन्दा तथैव च ।

अधीतायाः श्रुतेस्त्यागः स्वाग्नेस्त्यागस्तथैव च ॥ २२ ॥

पितृमातृस्वसृत्यागः स्वभार्यात्याग एव च । अभक्ष्यभक्षणं तद्वत्परार्थग्रहणं तथा ॥ २३ ॥

परदारनिषेवा च तथाऽयाज्यस्य याजनम् । भृतकाध्यापनं तद्वद्भृताध्ययनमेव च ॥ २४ ॥

[1]सर्वाधिकारकरणं महायन्त्रप्रवर्तनम् । द्रुमगुल्मलतादीनां हिंसया जीवनं तथा ॥ २५ ॥

अभिचारक्रिया तद्वत्स्वस्यैव पचनं तथा । अनाहिताग्निना तद्वद्ब्रह्मचर्यविवर्जनम् ॥ २६ ॥

यज्ञस्याकरणं तद्वत्पुत्रानुत्पादनं तथा । असच्छास्त्राभिगमनं नास्तिक्यं च कुशीलता ॥ २७ ॥

मद्यपस्त्रीनिषेवा च प्राहुर्गौणोपपातकम् । विप्राणां रोगकारित्वमघ्रेयघ्रातिमेव[2] च ॥ २८ ॥

सुराघ्रातिं तथा जैह्म्यं पशौ पुंसि च मैथुनम् ।

जातिभ्रंशकरं प्राहुर्धार्मिका वेदपारगाः ॥ २९ ॥

ग्राम्यारण्यपशूनां तु हिंसनं मुनिपुंगवाः । संकीर्णकरणं प्राहुः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ ३० ॥

निन्दितेभ्यो धनादानमन्नदानं तथैव च । कुसीदजीवनं चैव वाणिज्यमनृतोक्तिता ॥ ३१ ॥

शूद्रस्य याजनं प्राहुरपात्रीकरणात्मकम् । पक्षिणां घातनं चापि जलस्थलनिवासिनाम् ॥ ३२ ॥

महायन्त्रप्रवर्तनमिति । इक्षुयन्त्रादिप्रवर्तनमित्यर्थः ॥ २५–४१ ॥

जानना चाहिये—झूठ बोलना, राजा तक चुगली पहुँचाना, अपने गुरु पर झूठा दोषारोपण, वेद की निन्दा करना, पढ़ी हुई श्रुति का त्याग करना, आहित अग्नि का (अविहित ढंग से) त्याग करना, पिता माता वहन व पत्नी का (अवैध) त्याग करना, शास्त्र द्वारा निषिद्ध खाद्यों को खाना, दूसरे का धन हथिया लेना, अन्य की पत्नी से संभोग करना, जिसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं उसका यज्ञ कराना, वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, सर्वाधिकार करना (सोने आदि की खानों को चाहे राजाज्ञा से ही अपने अधिकार में ले लेना), महायन्त्रों को चलाना (ईख का रस, तेल आदि निकालने के यंत्र महायंत्र कहे जाते हैं, अथवा बाँध आदि बनाना महायन्त्र प्रवर्तन है), पेड़, झाड़ी, लता आदि की हिंसा से (इनको काटकर) आजीविका चलाना, अभिचार करना (मंत्र, यज्ञ आदि से किसी को मारना अभिचार है), केवल अपने लिये ही भोजन बानाना (रोगी आदि के लिये जब असमय भोजन बनाना हो उस परिस्थिति को छोड़कर सदा देवता आदि के उद्देश्य से भोजन बनाना उचित है), जिसने अब तक अग्न्याधान न किया हो ऐसे ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन न करना, अपने लिये विहित यज्ञ न करना, गृहस्थ होकर पुत्र उत्पन्न न करना (अर्थात् तदनुकूल यत्न न करना), असच्छास्त्रों में अभिरुचि रखना, वेद में अश्रद्धा करना, बुरा शील रखना और शराब पीने वाली स्त्री से सम्बंध रखना ॥ २१–२७$^1/_2$ ॥ जातिभ्रंशकर पाप ये हैं—ब्राह्मणों को रोगी बनाना, जिसे सूँघना शास्त्र में निषिद्ध है उसे सूँघना, सुरा को सूँघना, (लहसुन, विष्ठा आदि नहीं सूँघने योग्य वस्तुए हैं) कुटिलता, पशु से या (पुरुष द्वारा) पुरुष से मैथुन करना । ॥ २८–२९ ॥ ग्राम्य व

---

१ ग. ङ. च. "र्वाकाराधिकारं च म" । २ क. "तिरेव ।

मद्यस्पृष्टस्य भुक्तिं च प्राहुः सन्तो मलावहम् ।

अनुक्तानि समस्तानि प्रकीर्णकसमाह्वयम् ॥ ३३ ॥

प्रवदन्ति हि विद्वांसः सत्यधर्मपरायणाः । अदण्ड्यदण्डनं चैव युद्धे भीत्या पलायनम् ॥ ३४ ॥

क्षत्रियस्य विशेषेण महापातकमुच्यते । वञ्चनं च तुलामाने महापापं विशो भवेत् ॥ ३५ ॥

मांसस्य विक्रयं चैव सुराविक्रयणं तथा ।

ब्राह्मणीगमनं चापि पयःपानं तु कापिलम् ॥ ३६ ॥

महापापं मया प्रोक्तं शूद्राणां च विशेषतः । संकराणां द्विजद्वेषो महापातकमुच्यते ॥ ३७ ॥

पुरुषाणां तथा स्त्रीणां समानं पातकं स्मृतम् । नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ॥ ३८ ॥

भर्तुः शिष्यस्य गमनं मत्या भर्तुर्गुरोरपि ।

विशेषेण स्त्रियाः सन्तः पातकं प्रवदन्ति हि ॥ ३९ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन श्रुतिस्मृत्युदितं विना ।

यत्किंचिदपि कुर्वाणः पातकी स्यान्न संशयः ॥ ४० ॥

जंगली पशुओं को मारने का नाम ही संकीर्णकरण ॥ ३० ॥ अपात्रीकरण से ये समझे जाते हैं—निन्दित व्यक्तियों से धन लेना, निन्दितों को अन्न देना, सूदखोरी, व्यापार, झूठ बोलना और शूद्र का यज्ञ कराना । (यद्यपि वाणिज्य वैश्य की स्वाभाविक वृत्ति बतायी है तथापि उसे पाप गिनना असंगत नहीं । वृत्ति होने से जैसे बहेलिये आदि का पशुहिंसा कर्म अपाप नहीं होता वैसे समझना चाहिये । अत एव वैश्य को पापयोनि कहा है । अथवा निषिद्ध व्यापारों को पाप समझ सकते हैं ।) ॥ ३१½ ॥ मलावह पाप ये हैं—पक्षियों को, जलचरों व स्थलचरों को मारना, और मद्य से स्पर्श की हुई वस्तु खाना ॥ ३२½ ॥ यहाँ बताये पापों के अतिरिक्त सब पाप प्रकीर्ण जानने चाहिये ॥ ३३ ॥

सत्यधर्म पर निष्ठा वाले विद्वान् लोग क्षत्रिय के लिये विशेष महापाप इन दो को बताते हैं—जो दण्ड देने योग्य न हो उसे दण्ड देना और युद्ध में भय से भाग जाना ॥ ३४½ ॥ वैश्य का विशेष महापाप है तोलने में ठगी करना ॥ ३५ ॥ शूद्र के विशेष महापाप हैं—मांस बेचना, सुरा बेचना, ब्राह्मणी से संभोग करना और कपिला गाय का दूध पीना (भूरी गाय को कपिला गाय कहते हैं) ॥ ३६½ ॥ संकर जाति वालों का विशेष महापाप है द्विजों से द्वेष करना ॥ ३७ ॥ पूर्वोक्त प्रायः सब पाप पुरुष और स्त्री दोनों के लिये समान हैं । स्त्री के विशेष पातक हैं—नीच पुरुष से संभोग करना, गर्भ को यत्नपूर्वक गिरा देना, पति की हिंसा करना, पति के शिष्य से या पति के गुरु, पिता आदि से जान-बूझ कर संभोग करना ॥ ३८–३९ ॥

इस विषय में अधिक क्या कहें ? श्रुति-स्मृति से विरुद्ध जो कुछ भी आचार है उसे करने वाला निःसंदेह पापी है ॥ ४० ॥ अब तक वेद की सारभूत सब बातें आप लोगों को बता दी हैं । शोक-मोह

वेदसारतरः कथितस्तु वः शोकमोहसमुद्रनिवारकः ।
पातकानि विहाय महामतिर्देवदेवमनिशं शरणं व्रजेत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पातकविचारकथनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच-प्रायश्चित्तरहस्यं वः प्रवक्ष्यामि समासतः ।
श्रद्धया सहिता यूयं शृणुत ब्रह्मवित्तमाः[1] ॥ १ ॥

वेदान्तवाक्यजं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ २ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पातकविचारकथनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

परिहरणीयत्वेनोक्तानां दशविधपातकानां द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तं वक्तुमारभते-**प्रायश्चित्तेति** ॥ १ ॥ **ब्रह्मात्मैकत्वगोचरमिति** । जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतभेदभ्रमनिरासेन यत्पारमार्थिकमैकत्वं तद्गोचरं तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्यजनितमपरोक्षज्ञानमित्यर्थः । **बुद्धिपूर्वकृतमिति** । अन्यद्धि प्रायश्चित्तमबुद्धिपूर्वकृतस्यैव निवर्तकम् । अद्वैतात्मविज्ञानं तु बुद्धिपूर्वकृतं प्रमादकृतं चोभयविधमपि पातकं निवर्तयतीत्यर्थः । असहायस्यैव ज्ञानस्य बहुविधपापसंघनिवर्तकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते-**वह्निवदिति** । भगवता व्यासेनापि स्मर्यते[2]-'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति ॥ २ ॥ ज्ञानस्य प्रतिज्ञातं सर्वपातकनिवर्तकत्वमुपपादयति-**कर्तारमित्यादिना** । लोके तावत्कर्तुरेव हि यज्ञदत्तादेः स्वकृतकर्मतत्फलसंबन्धात्मको बन्धो, नाकर्तुर्देवदत्तादेः । तथाचाऽऽत्मानात्मनोर्विवेकं जानानः साक्षिचिन्मात्रस्वरूप आत्माऽपि यदि कर्ता स्यात्तर्हि तस्य [3]कर्तृत्वधर्मसंसर्गनिबन्धनपुण्यपापाश्रयत्वलक्षणो बन्धः स्यात् । न च तस्य कर्तृत्वमस्ति । तत्साक्षितया ताटस्थ्याल्लौकिकसाक्षिवत्स हि विवदमानयोर्मध्यस्थः सन्केवलं जयपराजयलक्षणौ तद्व्यवहारौ साक्षात्करोति न तु ताभ्यां संसृज्यते । एवं कर्तृत्वस्य साक्षिणोऽपि न तत्संसर्ग इत्यर्थः । अयमभिप्रायः-कर्तृत्वं नाम क्रियाश्रयत्वम्[4] । तच्च सर्वगतस्य नित्यस्याऽऽत्मनो न संभवति । तस्याऽऽकाशवन्निष्क्रियत्वात् । तदाश्रयत्वे 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनानित्यत्वप्रसङ्गाच्च । नापि देहस्य कर्तृत्वम् । तस्य सत्यपि क्रियाश्रयत्वेऽचेतनत्वेन तदनुपपत्तेः । चेतनो हि ममेदमिष्टसाधनमिति जानञ्ज्ञानं कर्म क्रमेणानुतिष्ठन्कर्ता भवति । यदि देहस्यैव कर्तृत्वं स्यात्तदा यागादिक्रियाश्रयस्य तस्य भस्मीभूतत्वाद्देहातिरिक्तस्याकर्तुरात्मनो लोकान्तरोपभोग्यं स्वर्गनरकादिफलं निर्हेतुकं स्यात् 'कर्तुरेव फलम्' इति नियमात् । तथाच पारमर्षं सूत्रम् 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणात्' इति । न च देहातिरिक्तस्य प्राणस्यैव कर्तृत्वमिति वाच्यम् । तस्य सुषुप्त्यवस्थायां सद्भावेऽपि विशेषज्ञानादर्शनादचेतनत्वेनोक्तदोषानु(नि)वृत्तेः । नापि चक्षुरादीन्द्रियाणामेव कर्तृत्वम् । तेषां करणत्वेन कर्तुरन्यत्वावश्यंभावात् । अत एवान्तःकरणस्यापि न कर्तृत्वम् । ननु न क्रियाश्रयत्वमात्रं

के समुद्र से उबरने के लिये बुद्धिमान् को चाहिये कि पाप न करे और सदा महादेव की शरण लेवे ॥ ४१ ॥

प्रायश्चित्तविचार नामक बयालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले-हे उत्तम ब्रह्मज्ञो ! अब मैं संक्षेप में प्रायश्चित्त सम्बन्धित रहस्य बताता हूँ, श्रद्धासहित सुनिये ॥ १ ॥

ब्रह्म और जीव की एकता को विषय करने वाला वेदांत वाक्य से उत्पन्न ज्ञान (अपरोक्ष साक्षात्कार) उन सब पापों को वैसे ही समाप्त कर देता है जो जानबूझ कर किये गये हैं जैसे आग तिनकों को जला डालती है ॥ २ ॥ कर्म उसे ही बाँधते हैं जो कर्ता हो (-मैंने किया, मैं करने

---

१ घ. व्रतवित्तमाः । २ ग. "ते-गीतासु 'य" । ३ ख. "र्तृत्वादिध" । ४ क्रिया-चिकीर्षाभ्यामन्यस्याः कृतेरप्रामाणिकत्वात्कृत्याश्रयत्व-मुपेक्ष्य क्रियाश्रयत्वमुक्तम् । वस्तुतः कर्ताहमित्यभिमानवान् कर्ता स च तादृशधीतादात्म्यापन्नचैतन्यम् ।

कर्तारं कर्म बध्नाति खलु वेदविदां वराः ।
ज्ञानिनो नैव कर्तृत्वं कर्तृत्वस्य तु साक्षिणः ॥ ३ ॥
कायिकं वाचिकं चैव मानसं कर्म नान्यथा ।
तथा सति कथं कर्म भवेत्तत्साक्षिरूपिणः ॥ ४ ॥
घटवद् दृश्यभूतस्य शरीरस्य तु साक्षिणः । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां सदा साक्षिस्वरूपिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ६ ॥
प्राणापानादिभेदेन विभक्तस्य तु साक्षिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ७ ॥

कर्तृत्वं येन निष्क्रियस्याऽऽत्मनो न स्यात्किं तु प्रयत्नगुणाश्रयत्वमपि तदिति चेतनस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं किं न स्यादिति चेत् ? मैवम् । उपगमापगमयुक्तप्रयत्नलक्षणधर्माश्रयत्वे प्रागुक्तन्यायेनाऽऽत्मनो विकारित्वप्रसङ्गेनानित्यत्वं स्यात् । अतः परैरात्मनो गुणत्वेनाभिमता बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादय आन्तरत्वेन प्रतीयमानाः सर्वे धर्मा विकारिणोऽन्तःकरणस्यैव न त्वविक्रियस्याप्यात्मन इत्यनिच्छताऽप्यङ्गीकार्यम् । अत एव साक्षिभूतस्याऽऽत्मनो निर्गुणत्वमाम्नायते–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति । एवं च परेषामपि संसार्यात्मनि कर्तृत्वलक्षणधर्मसंसर्गप्रतीतिरयो दहतीत्यादिवत्क्रियाश्रय-देहादिधर्मितादात्म्याध्यासनिबन्धनैव न तु पारमार्थिकी । अत एव देहादिसंघातविशिष्टस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमाम्नायते–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति । गीतासु च स्मर्यते–'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः' इति । एवं चाऽऽत्मानात्मविवेकज्ञानेन देहादिधर्मतादात्म्याध्यासनिवृत्त्या तद्धर्मभूतक्रियाश्रयत्वादिधर्मसंसर्गनिवृत्तिरिति सिद्धम् । साक्षिभूतस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य केवलस्याऽऽत्मनोऽकर्तृत्वम् । स्मर्यते हि–'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः' इति ॥ एवं केवलस्याकर्तुरात्मनः कर्मसंबन्धाभावाद्देहादितादात्म्याध्यासेन कृतं पातकशतमपि न स्पृशतीति सिद्धमकर्त्रात्मज्ञानस्य[1] सकलपापनिवर्तकत्वम् ॥ ३ ॥ एतदेव कर्तृत्वमुपपादयति-**कायिकमित्यादिना** । कायिकादिभेदेन त्रिधाऽवस्थितं कर्म देहादितादात्म्याध्यासवतः कर्त्रात्मन एव बन्धकं न तु विवेकज्ञानेन निवर्तिततादात्म्यस्य[2] । देहादिसंबन्धिन एव त्रिविधं कर्म नान्यस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य, तत्कर्मसाक्षिण इत्यर्थः ॥ ४ ॥ ननु देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहंकारादिसाक्ष्यगतमेव कर्म तत्तत्साक्षिरूपेणावस्थितस्याऽऽत्मनो बन्धकं किं न स्यादित्याशङ्क्य क्रमेण निरस्यति–**घटवदित्यादिना** । देह आत्मा न भवति दृश्यत्वाद्घटवदिति देहस्यानात्मत्वं विवेकज्ञानेन निश्चित्य तद्विविक्तं तत्साक्षिणं चिन्मात्रस्वरूपिणमात्मानमात्मना प्रकाशान्तरनिरपेक्षेण स्वरूपप्रकाशेनैव पश्यन्देहाद्याश्रितेन कर्मणा कथं बद्धः घटगतरूपादिवच्छरीराश्रितकर्मणोऽपि विविक्तत्वेन तत्संबन्धविरहादित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि दृश्यत्वहेतुना साक्ष्यस्येन्द्रियादेः साक्षिणः सकाशाद्घटादिवदेव विविक्तत्वमिति तदाश्रितकर्मणा तत्साक्षिणो बन्धो न युक्त इत्ययमर्थः सर्वत्र योजनीयः ॥ ५–११ ॥

वाला हूँ ऐसा निश्चय रखता हो) । ज्ञानी तो कर्तृत्व का साक्षी है, अतः वह कर्ता है नहीं (–उक्त निश्चय वाला है नहीं) । कायिक, वाचिक और मानस कर्म कर्तृत्व वाले के ही होते हैं, जिसे कर्तृत्व नहीं, उसके कर्म भी नहीं होते । (अन्यथा देवदत्तकृत ब्रह्महत्या का कर्तृत्व यज्ञदत्त में न होने पर भी उसका भी वह कर्म मानने की नौबत आयेगी !) । यह स्थिति होने पर कर्तृत्व के साक्षी का–अतएव कर्तृत्वहीन ज्ञानी का कोई कर्म कैसे हो सकता है ? ॥ ३-४ ॥ जो ज्ञानी घट की तरह दृश्य शरीर का साक्षी है और चिद्रूप को ही आत्मा जान रहा है, वह कर्म से कैसे बाँधा जा सकता है ? ॥ ५ ॥ चैतन्य को स्वस्वरूप देखते हुए समस्त इन्द्रियों का जो साक्षी है वह कर्म द्वारा कैसे बाँधा जा सकता है ? ॥ ६ ॥ प्राण अपान आदि भेदों में बँटे मुख्य प्राण के साक्षी चेतन को निजरूप जानने वाला कर्मों से बाँधा नहीं जा सकता ॥ ७ ॥ इस संकल्परूप मन के साक्षी चिद्रूप को निजात्मा समझने वाले को कर्म क्योंकर बाँध

---
१ ग. घ. °कर्तात्म° । २ ग. °दात्म्याध्यासस्य ।

संकल्पलक्षणस्यास्य मनसः साक्षिरूपिणम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ८ ॥
निश्चयात्मकविज्ञानसाक्षिणं ब्रह्मवित्तमाः ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ९ ॥
अहंकारस्य दुःखादिविशिष्टस्य तु साक्षिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १० ॥
चेतनालक्षणस्यास्य चित्तसंज्ञस्य साक्षिणम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ११ ॥
देहेन्द्रियादिसंघातसाक्षिणं निरुपद्रवम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यावस्थासाक्षिणमव्ययम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १३ ॥
सच्चिदानन्दसंपूर्णलक्षणं तमसः परम् । ब्रह्मात्मानं सदा पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १४ ॥

ननु देहेन्द्रियादीनां दृश्यत्वेन घटवद्विविक्तत्वात्प्रत्येकं तदाश्रितकर्मणा वन्धासंभवेऽपि तत्संघाताश्रितेन कर्मणा वन्धः किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह **देहेन्द्रियादीति** ॥ १२ ॥ देहादिविवेकप्रतिपादितेनैव जाग्रदाद्यवस्थानामपि दृश्यतयाऽतिविविक्तत्वात्तदाश्रितेनापि कर्मणा वन्धो न घटत इत्याह–**जाग्रदिति** ॥ १३ ॥ एवं साक्षित्वाकारेण साक्ष्याद्देहादेर्विविच्य साक्षित्वस्यापि साक्ष्यप्रतियोगित्वेनौपाधिकत्वात्तन्निर्मुक्तं प्रत्यगात्मनः पारमार्थिकं रूपं दर्शयति–**सच्चिदिति** । जीवात्मनोऽपि परशिववत्सच्चिदानन्दरूपत्वं हंसमन्त्रार्थकथनावसरे 'अहं चाव्यभिचारित्वात्स्वस्वभावो न संशयः' इत्यादिना सप्तमेऽध्याये प्रागेव प्रतिपादितम् । **तमसः परमिति** । स्वस्वरूपस्याऽऽच्छादकाद्देहेन्द्रियाद्युपादानभूताद्भावरूपाज्ज्ञानात्परं[1] विविक्तमित्यर्थः । स ईदृग्विधमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मस्वरूपतया जानन्कर्मणा कथं बध्येतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

सकेंगे ॥ ८ ॥ निश्चयात्मक अनुभव के साक्षी आत्मा को अपना स्वरूप जानने वाला कर्मों द्वारा बाँधा नहीं जाता ॥ ९ ॥ दुःख आदि विशेषणों वाले अहंकार के साक्षी चेतन को स्वस्वरूप समझने वाला कर्मों द्वारा कैसे बाँधा जा सकता है ॥ १० ॥ चेतनारूप चित्त के साक्षी चैतन्य को आत्मा जानने वाला कर्मों से नहीं बँधता (जाग्रदवस्था में समस्त शरीर में जो भान रहता है उसे चेतना कहते हैं जो बेहोशी में सर्वथा नहीं रह जाती । वह चेतना भी मनोवृत्तिविशेष ही है और उसे ही यहाँ चित्त कह दिया है ।) ॥ ११ ॥ देह इन्द्रिय आदि समूह के निर्विकार साक्षी चैतन्य आत्मा को निजरूप देखने वाला कर्मों से किस तरह बाँधा जा सकता है ? ॥ १२ ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक अवस्थाओं के सनातन साक्षी चिन्मात्र को जो आत्मा जानता है वह कर्मबन्धन वाला नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ अज्ञान से भिन्न एवं सच्चिदानन्द परिपूर्णरूप ब्रह्म को स्वस्वरूप जानने वाला कर्मों द्वारा कैसे बँध सकता है ? ॥ १४ ॥ विकृत न होने

---

१ भावरूपात् तमसः परमित्यन्वयः । परमित्यस्यार्थो विविक्तमिति । तत्र साधनं ज्ञानादिति । यद्वा ज्ञानादित्यन्यथाज्ञानात्तत्कारणाच्चेत्यर्थः ।

अविक्रियमसङ्गं च परिशुद्धं सदोदितम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १५ ॥

सदाऽऽकाशादिभूतानां शब्दादीनां च साक्षिणम् ।

आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १६ ॥

अनियोज्यमकर्तारमभोक्तारं परामृतम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १७ ॥

स्वयंभातं प्रमातीतं प्रमाणानां च साक्षिणम् ।

आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १८ ॥

आविर्भावतिरोभावसंकोचरहितं[1] सदा । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १९ ॥

ननु दृशिक्रिया व्याप्यत्वादुक्तस्य ब्रह्मात्मभावस्य कर्मत्वमवसीयते । परसमेतक्रियाजन्यफलभाक्त्वात्तन्निमित्तो[2] बन्धः किं न स्यादित्यत आह–**अविक्रियमिति** । क्रियाजन्यफलं हि चतुर्विधं कर्मकारकगतमुत्पत्ति-विकृतिप्राप्तिसंस्कृतिरूपम् । तच्चतुष्टयमत्र विशेषणैर्निरस्यते । एवंलक्षणस्याऽऽत्मनो नित्यत्वेन विकारासंभवाद्विक्रियाहेतोर्वस्त्वन्तराभावाच्चाविक्रिय एव स इति न तस्य [3]विकार्यकर्मत्वम् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः केनचिदप्यसौ न संबध्यत इत्यसङ्गः । अतः प्राप्तिकर्मत्वमप्य न भवति । संस्कारश्च द्वेधा गुणाधानलक्षणो मलापकर्षणलक्षणश्चेति । तत्रानाधेयातिशयत्वेनाऽऽत्मनस्तावदाद्यो न युक्तः । द्वितीयं प्रत्याह–**परिशुद्धमिति** । पूर्वोत्तरकालयोरिव जगद्भ्रमावस्थायामप्यविद्यातत्कार्यसंस्पर्शकृतस्य मलस्य परमार्थतो विरहात्स्वत एव परिशुद्ध इति मलापकर्षणलक्षणसंस्कारोऽपि तत्र निष्प्रयोजन इत्यर्थः । नाप्युत्पाद्यकर्मत्वम् । स्वप्रकाशसाक्षिरूपेण सर्वदा भावत्वेनोत्पाद्यत्वाभावादित्याह–**सदोदितमिति** ॥ १५ ॥ ननु मा भूद्भौतिकदेहादितादात्म्याध्यासनिबन्धनो बन्धः । वियदादिभूततादात्म्यनिबन्धनस्तु किं न स्यादित्यत आह–**सदेति** ॥ १६ ॥ **अनियोज्यमिति** । नियोज्यत्वधर्मविशिष्टस्यैव ह्यात्मनः कर्मण्यधिकारस्तस्यैव कर्मनिबन्धननिमित्तको बन्धो न तु चिन्मात्रस्वरूपस्य केवलात्मन इत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु मा भूदुक्तरीत्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं क्रियाजन्यफलभागित्वं च प्रमाणप्रेरकत्वलक्षणं प्रमातृत्वं स्वगोचरप्रमाविषयत्वं च किं न स्यादित्यत आह–**प्रमातीतमिति** । चिदात्मनः प्रमाणसाक्षित्वमेव केवलं न तु तत्प्रेरकत्वमहंकारविशिष्टस्यैव तत्प्रेरकत्वात् । सम्यगर्थविषयाऽन्तःकरणवृत्तिः प्रमा, साऽपि सोपाधिकमेव स्वरूपं विषयी करोति न तूक्तविधं निरुपाधिकस्वरूपमिति प्रमामतीत्य वर्तत इत्यर्थः । ननु स्वसत्ताबोधकप्रमाविषयत्वाभावे कथं तत्स्वरूपसिद्धिरिति तत्राऽऽह–**स्वयंभातमिति** ॥ १८ ॥ **आविर्भावेति** । अस्वप्रकाशस्य घटादेः स्वगोचरज्ञानेनाऽऽविर्भावस्तद्राहित्ये तु तिरोभाव इत्येवमनात्मनः

वाला, सम्बद्ध न होने वाला, नित्य शुद्ध, सदा प्रकाशमान आत्मतत्त्व को निजरूप जानने वाला कर्मों द्वारा बँधता नहीं ॥ १५ ॥ आकाशादि महाभूत और उनके शब्दादि गुणों का सदा अपने को साक्षी मानने वाला आत्मा कहीं कर्मों से बँध सकता है ? ॥ १६ ॥ जिसका कोई कर्तव्य नहीं, जिसकी कोई क्रिया नहीं, जिसका कोई भोग नहीं वह परम अमृत आत्मा मैं हूँ–ऐसा जानने वाला कर्मों से कैसे बँध सकता है ? ॥ १७ ॥ प्रमा और उसके साधनों का स्वयम्प्रकाश साक्षी मैं हूँ–यों जिसका अप्रकम्प्य अनुभव है वह कर्मों से बँधता नहीं ॥ १८ ॥ प्रकट और अप्रकट इस तरह संकुचित न होने वाला आत्मा मैं हूँ, ऐसा जानते हुए कोई कर्म से बद्ध नहीं होता ॥ १९ ॥ सबका साक्षी, सबसे निरपेक्ष, वास्तविक ईश्वर मैं

---

१ आविर्भावतिरोभावयोः कादाचित्कत्वध्रौव्याद्यदाद्यस्तदा नेतरो यदापरस्तदा नैक इति पूर्णतायाः संकोचो दुर्निवारः स्यात् । २ छ. "न्निर्मितो व" । ३ ख. "र्यत्व" ।

सर्वसाक्षिणमात्मानं सर्वहीनं तु वस्तुतः । आत्मानमीश्वरं पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २० ॥

स्वस्मिन्नध्यस्तरूपस्य प्रपञ्चस्य तु साक्षिणम् ।

आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २१ ॥

निर्लेपं निर्मलं सूक्ष्मं निरस्तसकलक्रियम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २२ ॥

भूमानन्दं बुभुत्सोस्तु स्वरूपं भोगवर्जितम् ।

आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २३ ॥

संकोचो भवति न तु स्वयंप्रकाशस्य चिदात्मनः स्वसत्ताप्रकाशव्यतिरेकविरहादित्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु घटपटादिविभिन्नलक्ष्यसत्त्वे घटसाक्षीति विशिष्टरूपेण साक्षिणोऽपि भेदः प्रतीयते । तथा च यदा घटसाक्षी न तदा पटसाक्षीति घटादिवदेव साक्षिणोऽप्याविर्भावतिरोभावलक्षणः संकोचः किं न स्यादित्यत आह–**सर्वसाक्षिणमिति** । एक एव हि चिदात्मा सर्वस्य घटपटादेः साक्षी तस्य सर्वसाक्ष्यभासकत्वोपाधिना सर्वदा भानमस्तीति न संकोच इत्यर्थः । ननु तस्याऽऽत्मनः सर्वसाक्षित्वं सर्वकृतं चेत्तद्वदेव साक्ष्यस्यापि सर्वस्य सर्वदाऽऽवस्थानप्रसङ्ग इत्यत आह–**सर्वहीनमिति**[1] । नन्वेतत्सर्वसाक्षित्वं सर्वहीनत्वं चोभयं व्याहतमित्यत आह–**वस्तुत** इति । परमार्थोपाधौ सर्वहीनत्वं मिथ्योपाधौ सर्वसाक्षित्वमिति वास्तवावास्तवभेदेनाविरोध इत्यर्थः । एवं साक्ष्युपलक्षितस्य चिन्मात्रस्वरूपस्याऽऽत्मनः प्राकृताद्देहेन्द्रियाद्यनात्मनः सकाशाद्विवेकख्यातिरेव श्रेयःसाधनं, तन्निरस्यति–**आत्मानमीश्वरमिति** ॥ २० ॥ नन्वात्मनः सर्वहीनत्वमयुक्तं प्रतिभासमानस्य प्रपञ्चस्यापलापासंभवादित्यत आह–**स्वस्मिन्निति** । शुक्त्यादौ रजतादिवत्स्वात्मनि मायापरिकल्पितः प्रपञ्चः स्वाधिष्ठानरूपेण साक्षिणा भास्यते तस्य च रजतादिवदेवाधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तेः प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वेन मिथ्यात्वात्प्रतीतिबाधसाक्षिण आत्मनो वस्तुतः सर्वहीनत्वमित्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं कार्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं प्रसाध्य कारणभूतमज्ञानमपि तस्मिन्वस्तुतो नास्तीत्याह–**निर्मलमिति** । कार्यानुरूपं हि कारणं कल्पनीयं कार्यं च मिथ्याभूतं दृष्टमिति तत्कारणत्वेन कल्पितमज्ञानमपि तादृशमेवेति तदपि तस्मिन्वस्तुतः सर्वदा नास्तीत्यर्थः । एवमज्ञानसंबन्धाभावात्तद्विलासक्रियासंबन्धोऽपि नास्तीत्याह–**निरस्तेति** । निर्लेपमिति । उक्तरीत्या क्रियासंस्पर्शाभावात्तज्जनितपुण्यपापलेपरहितमित्यर्थः । अत एव भगवतोक्तम्–'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा' इति । नन्वीदृशमात्मतत्त्वं कस्मात्सर्वैर्नानुभूयत इत्यत आह–**सूक्ष्ममिति** । प्रतिबन्धकपापजनितप्रत्यूहप्राचुर्यादसंस्कृतचित्तैः स्थूलदर्शिभिर्विकल्पहेत्वभावेनात्यन्तनिर्विकल्पकमात्मतत्त्वं तन्न द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः ॥ २२–२४ ॥ उक्तं सर्वविहीनत्वं श्रुतिसंवादेन

हूँ, ऐसा जानने वाला कर्म से बँध नहीं सकता ॥ २१ ॥ क्रियादि के सम्बन्ध से रहित, मायादि मलशून्य, सपापों द्वारा अविज्ञेय, निष्क्रिय आत्मा को अपना स्वरूप जानने वाला कर्मों से नहीं बँधा करता ॥ २२ ॥ व्यापक आनन्द को जो समझना चाहता है उसका जो अपना स्वरूप ही है उस सम्बन्धरहित आत्मतत्त्व को 'यह मैं हूँ' यों समझने वाला कर्मबन्धन से परे ही है ॥ २३ ॥ किसी को प्रेरणा आदि न देने वाला

---

१ अतः प्रश्नभाष्येऽपि (४.५) 'स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽपि आमोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव' इत्यगादि ।

प्रेरकत्वादिनिर्मुक्तं प्रियाप्रियविवर्जितम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २४ ॥

नेति नेतीति वेदान्तैर्निरस्तस्वविलक्षणम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २५ ॥

अनण्वह्रस्वमस्थूलमदीर्घं सत्यचिद्घनम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २६ ॥

अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा । श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो [1]बध्यते कथम् ॥ २७ ॥

प्रपञ्चयति–**नेतीति** । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इति प्रक्रम्य 'अथात आदेशो नेति नेति' इति मूर्तामूर्तसकलानात्मप्रपञ्चनिषेधस्य श्रुतत्वादपि स्वात्मव्यतिरिक्तं नास्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ उक्तपुण्यपापलेपादिसकलधर्मराहित्यमेव श्रुतिप्रमाणसिद्धमिति दर्शयति–**अनण्वह्रस्वमिति** । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्' इत्यादिना स्थौल्यादिसर्वधर्मनिषेधावधितयाऽतद्व्यावृत्तिमुखेन श्रुत्या प्रतिपादितमित्यर्थः । नन्वेवं सर्वधर्मनिषेधेऽन्ततः शून्यमेव पर्यवस्येन्न हि निर्धर्मकं किंचिदस्तीत्यत आह–**सत्यचिद्घनमिति** । यदनुवेधात्सर्वं जगदस्ति भातीति प्रतीयते तत्सच्चिन्मात्रं सर्वाधिष्ठानमवशिष्यत इति न शून्यपर्यवसानमित्यर्थः । न च सच्चितोर्भेदाशङ्का तयोरेकतरत्वादिति घनशब्दार्थः । अत एव सैन्धवखिल्यदृष्टान्तेनैकरसत्वमाम्नायते–'एवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' इति ॥ २६ ॥ **अज्ञानजन्येति** । क्रियानिष्पादकस्य कर्तृकरणकर्मादिकारकज्ञानस्य सर्वस्याज्ञानकार्यत्वादज्ञानस्य चाधिष्ठानब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तेरुपादाननिवृत्त्या कार्यस्य कर्मणोऽपि निवृत्तिः[2] सिद्धेति निःस्वरूपेण कर्मणा कथं निरवद्यब्रह्मात्मतया स्वात्मानमनुसंदधानस्य बन्धाशङ्का । न हि रज्जुयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तितः सर्पः पुरुषस्य भ्रान्तिं जनयति, तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥

तथा जिसे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, उसे जो आत्मा जानता है वह किस तरह कर्मों द्वारा बाँधा जा सकता है ॥ २४ ॥ 'व्यक्त, अव्यक्त आदि जो कुछ भी विषय हो सकता है वह आत्मा नहीं' इत्यादि वेदवाक्यों से जिससे अतिरिक्त हर चीज़ का निषेध (बाध) किया जा चुका है उस अद्वितीय आत्मा को निज की वास्तविकता जानने वाला कैसे कर्मों से बँध सकता है ॥ २५ ॥ जो न अणु है, न छोटा है, न मोटा है, न लम्बा है ऐसे सद् से अभिन्न चेतन को अपना आत्मा जानने वाला कर्म से बँध नहीं सकता ॥ २६ ॥ अज्ञान से उत्पन्न कर्ता आदि कारकों से निष्पन्न कर्म के द्वारा वह कैसे बाँधा जा सकता है जिसने श्रुति से उत्पन्न आत्मानुभवरूप प्रदीप से अज्ञान का निःशेष निवारण कर दिया है ? ॥ २७ ॥ धर्मादिरूप कर्म अज्ञानस्वरूप है और अज्ञान घोर अंधकार की तरह आवरक वस्तु है । वह स्वप्रकाश आत्मा

---

१ ख. ङ. बाध्यते । २ एतेन जीवन्मुक्तौ कर्माभास एव न कर्मेति व्यक्तम् । उपादानमन्तरा कार्यं तिष्ठतीति कर्मापि किमित्यज्ञानं विना न स्यादित्याशंक्य, सोपादानस्यैव कर्मत्वं निरुपादानस्य तदाभासमात्रत्वमिति विवेकं सूचयितुं वक्ति स्म 'उपादाननिवृत्त्ये'ति ॥

अज्ञानान्धतमोरूपं कर्म धर्मादिलक्षणम् । स्वप्रकाशकमात्मानं नैव संस्प्रष्टुमर्हति ॥ २८ ॥

आदित्यं शार्वरं यद्वत्तमो न स्पृशति स्वतः । चित्प्रकाशमहादित्यं तमोरूपक्रिया तथा ॥ २९ ॥

तमोरूपो रविं राहुः समाश्रित्य प्रतीयते । यत्प्रकाशेन संबन्धस्तयोर्नास्ति तथाऽपि तु ॥ ३० ॥

तद्वदज्ञानतत्कार्यं समाश्रित्य स्वयंप्रभम् । तद्भासा भाति संबन्धस्तयोर्नास्ति तथाऽपि तु ॥ ३१ ॥

कर्मसंबन्धमज्ञानादात्मनो मन्यते भ्रमात् । विदुषो न भ्रमस्तस्मात्कर्मणा नास्ति संगतिः ॥ ३२ ॥

तस्माद्देहादिसंघातेऽहंमतिं कुरुते तु यः ।
तस्यैव कर्मणा योगः [1]संभ्रान्तस्य सदा बुधाः ॥ ३३ ॥

एवं ज्ञानाज्ञानयोर्निवर्त्यनिवर्तकतामुपजीव्य ज्ञानिनां बन्धाभाव उक्तः । अथ तत्स्वरूपपर्यालोचनया संस्पर्शोऽप्यज्ञानस्याऽऽत्मना[2] सह दुर्घट इत्याह–**अज्ञानेति** । अज्ञानं नाम तमोवदाच्छादकं चित्प्रकाशविरोधिभावरूपं, न तु ज्ञानाभावः, तथा सति कार्यरूपेण क्रियातत्साधनफलाद्यात्मना व्यवस्थितं तत्कथं स्वविरोधिस्वप्रकाशचिदात्मानं स्पृशेदित्यर्थः ॥ २८ ॥ एतदेव दृष्टान्तमुखेनोपपादयति–**आदित्यमिति** । शार्वरस्य [3]तमसोऽपि नाऽऽलोकाभावमात्रत्वं[4] (किंतु) निवर्त्यभावत्वं प्रतिपादितम् । 'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् । प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति' इति ॥ तद्वदज्ञानतमसोऽपि भावरूपत्वमिति तमःशब्दमज्ञानं निर्दिशतोऽभिप्रायः ॥ २९ ॥ नन्वज्ञानस्य स्वप्रकाशचिदात्मना संस्पर्शो न चेत्कथं तस्य संसारदशायां प्रतीतिरित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुपपादयति–**तमोरूप** इति । **यात्प्रकाशेनेति** । यस्याऽऽश्रयभूतस्य सूर्यस्य प्रकाशेन **प्रतीयत** इत्यन्वयः । यद्यप्येवं **तथाऽपि** तयोः परस्परं संवन्धो नास्ति । सूर्यलक्षान्तरे राहोर्विप्रकृष्टदेशवर्तित्वेन व्यवधानात् । यथैव हि संवन्धाभावेऽपि राहोः सूर्यप्रकाशेन प्रतीतिराश्रयवलात्तथैवाज्ञानकार्यमसङ्गोदासीनमपि स्वप्रकाशचिदात्मानमाश्रित्य तदीयप्रकाशेन भासते । तावन्मात्रेण तयोः संवन्धो वस्तुतो नास्तीत्यर्थः ॥ ३०–३१ ॥ ननु 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तम्' इत्यादिना प्रत्यगात्मनः कर्मसंवन्धः श्रुत्यैव प्रतिपादित इत्यत आह–**कर्मेति** । अज्ञाननिमित्तकाद्देहादितादात्म्यभ्रमादेवाऽऽत्मनः कर्मसंवन्धो न वास्तवः । उदाहृतश्रुतेः स्वभ्रमसिद्धमेव तमुपजीव्येश्वरस्य फलप्रदातृत्वप्रतिपादने तात्पर्यम् । ज्ञानिनस्तु परविद्यया भ्रममूलस्याज्ञानस्य निवर्तनात्कर्मसंवन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

को छू भी नहीं सकता तो उसे बाँध कैसे सकेगा ? ॥ २८ ॥ रात्रि का अंधकार जैसे आदित्य का स्वयं स्पर्श नहीं कर पाता वैसे ही अज्ञानरूप क्रिया चेतनप्रकाशरूप आत्मा नामक महान् सूर्य का स्पर्श नहीं करता ॥ २९ ॥ जिस आश्रयभूत सूर्य के प्रकाश से अँधेरारूप राहु सूर्य का स्पर्श करता प्रतीत होता है उस सूर्य से वस्तुतः राहु का कोई सम्बन्ध नहीं । इसी तरह अज्ञान और उसका कार्य स्वप्रकाश आत्मा के स्वरूपभूत भान से ही भासता है और लगता है कि अज्ञान ने आत्मा को आवृत कर रखा है किन्तु वस्तुतः अज्ञान व उसके कार्य का आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥ ३०–३१ ॥ कर्म का आत्मा से सम्बन्ध अज्ञानवश भ्रम से ही माना जाता है । ज्ञानी का अज्ञान निवृत्त हो चुकने से उसे भ्रम नहीं अतः वह कर्म से कथमपि सम्बद्ध नहीं होता ॥ ३२ ॥ इसलिये जिसे यह निश्चय होता है कि देहादि संघात मैं हूँ, उसी का कर्म से सम्बन्ध है । जिसे पक्का भ्रम है उसे ही 'मेरे कर्म हैं' ऐसा कर्मबन्धन होता है ॥ ३३ ॥ जो आत्मयाथात्म्य के विज्ञान वाला है उसका कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह मैंने सही

---

१ 'न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः किंत्वविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्तते, अनुवर्तमानं च मिथ्येति मन्यमानो न श्रद्दधान' इत्यादिभामत्योक्तरीत्या (पृ. ६०) विद्वानपि भ्रान्त इति तद्व्यावृत्तये समित्युपसर्गः । २ ग. घ. ङ. च. छ. ज. "ज्ञानेनास्या" । ३ घ. छ."सोऽप्यालो" । ४ ग. छ. ज. "त्वं तन्निवर्त्यत्वं च प्र" ।

यस्तु विज्ञानसंपन्नः कर्मणा तस्य संगतिः ।
नैव सत्यं मया प्रोक्तं नास्ति संदेहकारणम् ॥ ३४ ॥
तस्माद्ब्रह्मात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं निर्दहति क्षणात् ॥ ३५ ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥ ३६ ॥
महापातकपूर्वाणां पातकानां मुनीश्वराः ।
रहस्यानां प्रसिद्धानां प्रायश्चित्तं हि वेदनम् ॥ ३७ ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानवतां नैवास्ति पातकम् । प्रायश्चित्तं परिज्ञानं परोक्षज्ञानिनां नृणाम् ॥ ३८ ॥
तेषां निष्ठामविज्ञाय मनुष्याश्चर्मचक्षुषा । विलोक्य पातकैर्युक्तान्मन्वते सत्तमानपि ॥ ३९ ॥

एवं देहादितादात्म्यभ्रमवत् एव कर्मसंवन्धो न तु तद्विविक्तस्य विशुद्धात्मज्ञानवत इति प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति–**तस्मादिति** । व्यासेनापि देहादावहमभिमानहीनस्य कर्मणा संवन्धाभावः स्मर्यते–'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निवध्यते ॥' इति ॥ ३३–३४ ॥ 'वेदान्तवाक्यजं ज्ञानमि'ति यत्प्राक्प्र[1]तिपादितं (श्लो. २) तदुपसंहरति–**तस्मादिति** । अहं ब्रह्मास्मीति यज्जीवपरतादात्म्यगोचरमाचार्योपदिष्टं वेदान्तवाक्यजनितं यन्निर्विचिकित्सं परोक्षज्ञानं[2] तद्बुद्धिपूर्वकृतमपि सर्वपापजालं निर्दहतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ **अपरोक्षात्मविज्ञानमिति** । आत्मन्यपरोक्षेण भासमानस्याविद्यातत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभ्रमस्यापरोक्षात्मयाथात्म्यज्ञानव्यतिरेकेण निवृत्त्यनुपपत्तेः परोक्षज्ञानेन केवलमज्ञानकार्यस्य पापसंघस्यैव प्रायश्चित्तेनेव नाशो न तु मूलाज्ञानस्य । अपरोक्षब्रह्मात्मज्ञानं तु स्वात्मन्यध्यस्तसर्वानर्थनिदानसंसारकारणभूतं भावरूपमज्ञानं समूलं नाशयतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ एवं परोक्षापरोक्षरूपेण ब्रह्मात्मविज्ञानस्य द्वैविध्यमभिधाय तत्र परोक्षज्ञानस्य प्रायश्चित्तरूपतामाह–**महापातकेति** ॥ ३७ ॥ **नैवास्ति पातकमिति** । सति हि पातके तत्परिहाराय प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं देहादिव्यतिरिक्तस्य चिन्मात्रस्य प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण तत्स्वरूपाच्छादकाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वादिनिवृत्तेः पातकप्रसक्तिरेव नास्तीत्यपरोक्षज्ञानस्य संसारकारणाविद्यानिवृत्तिरेव फलमित्यर्थः । **'प्रायश्चित्तंपरिज्ञानं, प्रायश्चितं हि वेदनम्'** इति परोक्षब्रह्मात्मज्ञानस्य प्रायश्चित्तरूपत्वप्रतिपादनेन [3]तदेतत्परोक्षज्ञानविषयमित्यर्थः ॥ ३८–३९ ॥

बात कही है इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं ॥ ३४ ॥ अतः गुरु के उपदेश से वेदान्तशास्त्रानुसार वस्तुतः ब्रह्मरूप आत्मा का विज्ञान उन सब पापों को तत्काल नष्ट कर देता है जो जानबूझकर भी किये गये हैं ॥ ३५ ॥ गुरूपदेश से वेदान्त महावाक्यानुसार होने वाला आत्मा का अपरोक्ष विज्ञान संसार के कारणभूत अज्ञानरूप अन्धकार का वैसे ही नाशक होता है जैसे सूर्य अँधेरे का नाशक होता है ॥ ३६ ॥ छिपकर तथा खुलकर किये महापाप आदि सब पापों का प्रायश्चित्त शिववेदन ही है ॥ ३७ ॥ अपरोक्ष आत्मज्ञानियों के लिये कोई पातक है ही नहीं । आत्मज्ञान परोक्षज्ञानियों के लिये ही प्रायश्चित्त का काम करता है ॥ ३८ ॥ ज्ञानियों की निर्विकार स्थिति को जाने विना ही उन विशुद्ध सद्रूप महात्माओं को साधारण मनुष्य चर्मचक्षुओं से देखकर उन्हें पापयुक्त मानते हैं ॥ ३९ ॥

---

१ ख. ग. घ. "तिज्ञातं । २ नन्वध्यायादावपरोक्षमिति व्याख्यातं तस्यैवोपसंहारे परोक्षमिति विरोध इति चेन्न । इह परोक्षमित्यस्यार्थानवगमाद्विरोधो दृष्टः । नह्यपरोक्षस्य वस्तुनो ज्ञानं परोक्षं संभवति । शुद्धत्वमर्थस्य निश्चयः पारिभाषिकं परोक्षमात्मज्ञानं तथाऽखण्डधीरपरोक्षं ज्ञानमात्मन इति सर्वमुपपद्येत । तस्माद् 'ब्रह्मात्मेति' वस्तुतो ब्रह्म य आत्मा तस्येत्यर्थः । ३. घ. ङ. ज. "ज्ञानवि" ।

यथा ब्रह्मात्मविज्ञानं पातकानां मुनीश्वराः ।
प्रायश्चित्तं मया प्रोक्तं तथैव ब्रह्मभावना ॥ ४० ॥
श्रुत्याचार्यप्रसादेन सर्वं ब्रह्मेति भावयन् । मुच्यते पातकैः सर्वैर्घटिकामात्रतो नरः ॥ ४१ ॥
दिनार्धं सकलं ब्रह्म भावयन्गुरुपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतैः सर्वैः पातकैर्मुच्यते नरः ॥ ४२ ॥
विग्रहं परतत्त्वस्य त्रिनेत्रं साम्बमद्भुतम् । मुहूर्तं चिन्तयन्मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४३ ॥
स्वस्वरूपानुसंधानान्नृत्यन्तं सर्वकारणम् । मुहूर्तं चिन्तयन्मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४४ ॥
नृत्यमानं महादेवं साम्बमूर्तिधरं तु वा । दिनार्धं चिन्तयन्पापात्प्रसिद्धान्मुच्यतेऽखिलात् ॥ ४५ ॥
त्रिमूर्तीनां तु रुद्रस्य विग्रहं चिन्तयन्दिनम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ४६ ॥
दिनत्रयमभिध्यायन्रुद्रमूर्तिमतन्द्रितः । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः ॥ ४७ ॥
विष्णोश्च विग्रहं ध्यायन्मर्त्यः शुद्धं दिनत्रयम् ।
महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ४८ ॥

यथा ब्रह्मेति । निर्विचिकित्सापरोक्षब्रह्मात्मविज्ञानेनैव प्रायश्चित्तरूपेण यथा सर्वपापनिवृत्तिस्तथा श्रुत्याचार्यमुखादायासप्रतिपन्नस्य[1] ब्रह्मात्मभावनस्य ध्यानमपि प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ **श्रुत्याचार्यप्रसादेनेति** । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुत्यर्थं गुरुमुखादधिगत्य यत्स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं यथावद् ब्रह्म भावयेत्तद्ध्युपासनमपि सर्वपातकनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः ॥ ४१–४२ ॥ निर्गुणब्रह्मज्ञानवत्सगुणब्रह्मोपासनस्यापि प्रायश्चित्तरूपतामभिधाय स्वलीलास्वीकृतमूर्तिध्यानमपि सर्वपातकप्रायश्चित्तमित्याह–विग्रहमित्यादिना ॥ ४३–५१ ॥

हे मुनियो ! जैसे ब्रह्मात्मा का ज्ञान पापों का प्रायश्चित है वैसे ही ब्रह्मात्मभावना भी ॥ ४० ॥ गुरु कृपा से श्रुति के अनुसार 'सब ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करने वाला व्यक्ति एक घड़ी में ही सब पापों से छूट जाता है । आधे दिन तक यदि उक्त भावना बनी रहे तो जानबूझकर किये पाप भी समाप्त हो जाते हैं । (श्रुत्यनुसार इसलिये कहा गया है कि यहाँ बाधसामानाधिकरण्य समझते हुए भावना करनी श्रेष्ठ है क्योंकि वही श्रुत्यर्थ है । उसमें असामर्थ्य होने पर सब कुछ जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा ही ब्रह्म है यह भावना भी की जा सकती है । भावना का तात्पर्य है कि ऐसी प्रतीति तो नहीं होती किंतु हम अपनी ओर से कोशिश कर ऐसा सोचते हैं ।) ॥ ४१–४२ ॥

परतत्त्व के साम्ब त्रिनेत्र विग्रह को एक मुहूर्त तक (अड़तालीस मिनट तक) ध्याने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ४३ ॥ अपने स्वरूप प्रकाश के नित्य प्रस्फुरित उल्लास को कृपापूर्वक अन्यों के लिये प्रकट करने के उद्देश्य से नृत्य करते हुए सर्वकारण महेश्वर का मुहूर्तभर ध्यान करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ४४ ॥ अम्बायुक्त मूर्ति धारण किये नाचते हुए महादेव का आधे दिन ध्यान करने से उन सब पापों से व्यक्ति छूट जाता है जो प्रत्यक्ष में किये गये हैं ॥ ४५ ॥ त्रिमूर्ति में रुद्र का दिन भर ध्यान करने से व्यक्ति अन्य पापों समेत महापापों से भी छूट जाता है ॥ ४६ ॥ तीन दिन तक अप्रमादी हो रुद्रमूर्ति का ध्यान करने से सब प्रसिद्ध पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ४७ ॥ विष्णु के शुद्ध विग्रह का तीन दिन ध्यान करने से महापापादि सब पापों से मनुष्य छूट जाता है ॥ ४८ ॥ सात दिन महाविष्णु के विग्रह

१ ख. "दापातसंप्र" ।

सप्तरात्रं[1] महाविष्णोर्विग्रहं चिन्तयन्नरः । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः ॥ ४९ ॥
ब्रह्मणो विग्रहं शुद्धं सप्तरात्रं विचिन्तयन् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः[2] ॥ ५० ॥
मासमात्रमभिध्यायन्ब्रह्मणो विग्रहं परम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धै र्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
जपित्वा दशसाहस्रं मन्त्रं चैतन्यवाचकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५२ ॥
पातकानां समस्तानां लाघवापेक्षया क्रमात् ।
जपेऽपि लाघवं कार्यं चिन्मन्त्रस्य क्रमेण तु ॥ ५३ ॥
पदं द्वादशसाहस्रं जपित्वा मातृकाश्रयम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५४ ॥
पातकानां समस्तानां लाघवापेक्षया क्रमात् ।
जपेऽपि लाघवं कार्यं पदाख्यस्य मनोरपि ॥ ५५ ॥
जपित्वा लक्षमेकं तु प्रणवं ब्रह्मवाचकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५६ ॥
कण्ठमात्रोदके लक्षं जपित्वा हंसमन्त्रकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५७ ॥
नाभिमात्रोदके लक्षं जपित्वा तु षडक्षरम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५८ ॥

मन्त्रं चैतन्यवाचकमिति । स च भुवनेश्वरीमन्त्रः ॥ ५२–५३ ॥ मातृकाश्रयमिति । मातृकारूपेण स्थितं पदाख्यं[3] मन्त्रमित्यर्थः ॥ ५४–६१ ॥

का ध्यान करने से सब प्रसिद्ध पापों से छुटकारा हो जाता है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा के शुद्ध विग्रह को तीन दिन ध्याने से महापाप आदि पातक छूट जाते हैं ॥ ५० ॥ ब्रह्मा के श्रेष्ठ विग्रह को महीने भर ध्याने से सब प्रसिद्ध पाप छूट जाते हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ ५१ ॥

चैतन्य वाचक मंत्र का दस हज़ार जप करने से महापातकों व अन्य पातकों से व्यक्ति छूट जाता है ॥ ५२ ॥ सभी पापों की क्रमशः लघुता के अनुसार चिन्मंत्र के जप की संख्या में भी कमी कर लेनी चाहिये ॥ ५३ ॥ मातृकारूप से स्थित पद नामक मंत्र का बारह हजार जप करने से अन्य पापों सहित महापातकों से भी छुटकारा मिल जाता है ॥ ५४ ॥ यहाँ भी पाप की लघुता के हिसाब से जप में कमी की जा सकती है ॥ ५५ ॥ ब्रह्मवाचक प्रणव का एक लाख जप करने से व्यक्ति महापातकादि से छूट जाता है ॥ ५६ ॥ कण्ठ तक के जल में स्थित होकर हंस मंत्र का एक लाख जप करने से महापाप आदि पापों से व्यक्ति छूट जाता है ॥ ५७ ॥ नाभि तक के जल में स्थित होकर एक लाख जप षडक्षर मन्त्र का करने से महापापादि पाप छूट जाते हैं ॥ ५८ ॥ कण्ठ तक गहरे जल में स्थित होकर तीनों व्याहृतियों का एक लाख जप करने से

---

१ ननु सप्तरात्रं सप्ताहोरात्रमित्यर्थ एवं च त्रिभिर्दिनैरेव महाफललाभे कुतः सप्तरात्रे कोऽपिध्यायेदिति चेत् ? सत्यम्, अतएव दिनत्रयमित्यत्र नैरन्तर्यं विवक्षितं मन्तव्यं, सप्तरात्रमित्यत्र तु प्रतिदिनं ध्यानमित्येव, न नैरन्तर्यमिति । एवमग्रेप्यूह्यम् । २ घ. "रैः । आत्ममा" । ३ अस्योपपादनं पूर्वं (४.४.२३) कृतम् ।

कण्ठमात्रोदके लक्षं जपित्वा व्याहृतित्रयम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५९ ॥

वाग्यतस्तु जपेल्लक्षं सावित्रीमादरेण तु(यः) । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ६० ॥

[1]सव्याहृतिसप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ ६१ ॥

गवां गोष्ठे तु भिक्षाशी पावमानीर्जपन्मुदा । वत्सरात्पातकैः सर्वैर्मुच्यते न हि संशयः ॥ ६२॥

दशवारं जपेन्नित्यं पावमानीर्महामतिः । गवानुगमनं प्रोक्तं गोघ्नस्यैव न चान्यथा ॥ ६३ ॥

उपवासत्रयं कृत्वा कण्ठमात्रोदके स्थितः । मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ ६४ ॥

गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपित्वा तु दिने दिने । सप्ताहात्सर्वपापेभ्यो मुच्यते भैक्षभुङ्नरः ॥ ६५ ॥

उपवासत्रयं कृत्वा चत्वारिंशद्घृताहुतीः । कूष्माण्डैर्जुहुयात्सर्वपापेभ्यो मुच्यते नरः ॥ ६६ ॥

जपित्वा शिवसंकल्पमस्यवामीयमेव च । सुवर्णस्तेयदोषेण मुच्यते न हि संशयः ॥ ६७ ॥

पावमानीर्जपन्निति । पवमानसोमदेवताका ऋचः पावमान्यः ॥ ६२-६३ ॥ **कूष्माण्डैरिति** । 'यद्देवा देवहेडनम्' इत्यादिकाः स्वयंभुवकाण्डसमाम्नाता मन्त्राः कूष्माण्डाः ॥ ६६ ॥ **जपित्वा शिवसंकल्पमिति** । 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति यस्मिन्सूक्ते शि(तच्छि) वसंकल्पम् । 'अस्य वामस्य' इति **सूक्तमस्यवामीयम्** ॥ ६७ ॥

महापापादि पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ५९ ॥ मौन होकर गायत्री का एक लाख जप करने से महापाप आदि का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६० ॥ व्याहृतियों व प्रणव सहित सोलह प्राणायाम रोज़ करे तो भ्रूणहत्यारा भी पवित्र हो जाता है ॥ ६१ ॥ गोशाला में रहते हुए और भिक्षा से प्राप्त भोजन ही करते हुए साल भर पावमानी ऋचाओं का जप करने से सभी पापों से निःसंदेह छूट जाता है ॥ ६२ ॥ नित्य दस बार पावमानी ऋचाओं का जप करना चाहिये । गोहत्यारा हो तो गायों का अनुगमन भी करे ॥ ६३ ॥ तीन दिन उपवास कर कण्ठ तक गहरे जल में स्थित हो तीन बार अघमर्षण सूक्त का जप करने से सभी पाप छूट जाते हैं ॥ ६४ ॥ भिक्षा का अन्न खाते हुए सात दिन तक रोज़ आठ हज़ार गायत्री जपने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६५ ॥ तीन दिन उपवास कर कूष्माण्ड मन्त्रों से चालीस घृताहुतियों का प्रक्षेप करे तो व्यक्ति सब पापों से छूट जाता है ॥ ६६ ॥ शिवसंकल्पसूक्त और अस्यवामीय सूक्त का जप करने से स्वर्ण की चोरी का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६७ ॥ पुरुषसूक्त और हविष्पान्तीय सूक्त का जप करने से

---

१ क. ख. ग. घ. °हृतीः स° ।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं हविष्पान्तीयमेव च । गुरुतल्पगदोषेण मुच्यते न हि संशयः ॥ ६८ ॥

उपवासत्रयं कुर्याद्धोमश्चाऽऽज्येन धीमता । पौरुषेण च सूक्तेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ ६९ ॥

पवित्रमृषभं तोये स्थित्वा जप्त्वा दशावरम् ।

त्रिरात्रोपोषितः स्तेयान्मुच्यते न हि संशयः ॥ ७० ॥

उपवासत्रयं कृत्वा भस्मोद्धूलितविग्रहः । रुद्राध्यायी विमुच्येत सुरापानान्न संशयः ॥ ७१ ॥

द्रुपदा नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके । पञ्च जप्त्वा जले मग्नो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७२ ॥

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा । महापातकसंघैश्च मुच्यते हि दशावरैः ॥ ७३ ॥

जपेत्तरत्समन्दीयमभक्ष्यस्य तु भक्षणे । तद्दोषेण विमुच्येत मानवस्तु न संशयः ॥ ७४ ॥

[1]इन्द्रं मित्रं तदेनस्वी जपेदब्दार्धमादरात् । भैक्ष्याहारो विशुध्येत पातकैश्च महत्तरैः ॥ ७५ ॥

प्राणायामशतं कुर्वन्सर्वपापैः प्रमुच्यते । प्राणायामसहस्रैस्तु मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ७६ ॥

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदम्' इति सूक्तं **हविष्पान्तीयम्** ॥ ६८-६९ ॥ **पवित्रमृषभमिति** । 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः' इति श्रुतेः प्रणव ऋषभः ॥ ७०–७१ ॥ **द्रुपदा नामेति** । 'द्रुपदादिव मुमुचानः' इत्येषा ॥ ७२ ॥ **अवेत्यृचमिति** । 'अव ते हेळो वरुण' इत्येषा 'यत्किंचेदं वरुण' इति ॥ ७३ ॥ **जपेत्तरत्समन्दीयमिति** । 'तरत्समन्दी धावति' इति सूक्तम् ॥ ७४ ॥ **इन्द्रमिति** । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इति ॥ ७५–८९ ॥

गुरुपत्नी से संभोग का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६८ ॥ तीन उपवास और पुरुषसूक्त से आज्यहोम करे तो सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ६९ ॥ तीन दिन उपवास करे और जल में खड़े हो दस बार प्रणव का जप करे तो चोरी का पाप छूट जाता है ॥ ७० ॥ तीन दिन उपवास कर शरीर को भस्म से उद्धूलित कर रुद्राध्याय का जप करने से सुरा पान का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ७१ ॥ जल में डूब कर (डुबकी लगाये हुए) वाजसनेयी संहिता में (२०.२०) आयी द्रुपदा नामक गायत्री का पाँच बार जप करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७२ ॥ 'अव' इत्यादि अथवा 'यत्किंचेदम्' इत्यादि ऋचाओं का एक साल जप करने से यदि दस से कम पाप हों तो वे चाहे महापाप ही क्यों न हों, छूट जाते हैं ॥ ७३ ॥ अभक्ष्य खा लेने का प्रायश्चित्त है तरत्समन्दीय सूक्त का जप करना ॥ ७४ ॥ पापी आधे वर्ष तक 'इन्द्रं मित्रम्' इत्यादि का जप भिक्षाशी रहते हुए करे तो महान् पापों से छूट जायेगा ॥ ७५ ॥ एक सौ प्राणायाम करने से सब पाप छूट जाते हैं । हज़ारों प्राणायाम करने से भवबंधन से ही मुक्ति मिल जाती है ॥ ७६ ॥ सिर को भी जल में डुवाकर व्याहृतियों व प्रणव सहित

---

१ ख. ग. घ. इन्द्रमित्येत॰ ।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

त्रिः पठेत्तु जले मग्नः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७७ ॥

तिलहोमसहस्रेण व्याहृत्या प्रणवेन वा । महापातकसंघैश्च मुच्यते न हि संशयः ॥ ७८ ॥

महादेवेति यो ब्रूयात्प्रातरुत्थाय नित्यशः । जन्मान्तरसहस्रेषु कृतं पापं विनश्यति ॥ ७९ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः ।

शिवेति कीर्तयन्मर्त्यः[1] पातकैस्तु विमुच्यते ॥ ८० ॥

पुण्या भागीरथी लोके पुण्या वाराणसी पुरी ।

पुण्या वेदाः शिवः पुण्यः पुण्यं तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ॥ ८१ ॥

पञ्च पुण्यानि यो मर्त्यः[2] प्रातरुत्थाय कीर्तयेत् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ८२ ॥

विषुवायनकालेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । शिवशब्दजपं कुर्वन्मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८३ ॥

व्यतीपाते तिलं धान्यं ब्राह्मणाय ददाति यः ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ८४ ॥

पञ्चदश्यां समुद्दिश्य महादेवं सितेतरे । ब्राह्मणं भोजयित्वा तु मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८५ ॥

गायत्री का तीन वार पाठ करे तो सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७७ ॥ व्याहृतियों या प्रणव से तिल की हज़ार आहुतियाँ देने से महापातकसमूहों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ७८ ॥ प्रातः उठकर रोज़ जो 'महादेव' ऐसा बोलता है उसके हज़ारों पूर्वजन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७९ ॥ ब्राह्म मुहूर्त में उठकर, शुद्ध होकर एकाग्रता से जो 'शिव' ऐसा कीर्तन करता है वह पापों से निवृत्त हो जाता है ॥ ८० ॥ प्रातः उठकर जो इन पाँच पुण्यों का कीर्तन करता है वह सब पापों से रहित हुआ परागति पाता है—लोक में भागीरथी पुण्य है, वाराणसी पुरी पुण्य है, वेद पुण्य हैं, शिव पुण्य है, त्रिपुण्ड्र पुण्य है ॥ ८१–८२ ॥ विषुव व अयन के समय तथा चंद्र या सूर्य के ग्रहण के समय 'शिव' शब्द का जप करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८३ ॥ व्यतीपात योग होने पर जो ब्राह्मण को तिल और धान्य देता है वह सब पापों से रहित हो परा गति पाता है ॥ ८४ ॥ महादेव के उद्देश्य से पूर्णिमा को ब्राह्मण-भोजन कराने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ शिव के उद्देश्य से कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को ब्राह्मण-भोजन

---

१ ख. ग. °यन्सर्वैः पा° । २ ख. ग. घ. नित्यं ।

यस्तु कृष्णचतुर्दश्यां शिवमुद्दिश्य भोजयेत् ।
ब्राह्मणं पातकैः सर्वैर्मुच्यते न हि संशयः ॥ ८६ ॥
कृष्णाष्टम्यां द्विजश्रेष्ठं भोजयेच्छंकरात्मना । सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ ८७ ॥
अर्कवारे तु सावित्रीं जपित्वाऽष्टोत्तरं शतम् ।
भोजयत्वा द्विजश्रेष्ठं मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८८ ॥
आर्द्रायां रुद्रमुद्दिश्य भोजयित्वा द्विजोत्तमम् । सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ८९ ॥
महामघे महादेवमभिषिच्य घृतेन तु । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते हि महत्तरैः ॥ ९० ॥
माघे मासि चतुर्दश्यां कृष्णपक्षे महेश्वरम् । बिल्वपत्रेण संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९१ ॥
उत्तरे फाल्गुने मासि पलाशकुसुमेन च । महादेवं समाराध्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९२ ॥
वसन्तकाले चित्रायां सुगन्धकुसुमैर्हरम् । पूज्य प्रासङ्गिकाद्यैस्तु मुच्येत पातकैर्नरः ॥ ९३ ॥
सकृद्गङ्गाजले स्नात्वा वाराणस्यां महेश्वरम् ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वराख्यं तु मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९४ ॥
गोदावर्यां [1]सकृत्स्नानात्सिंहयुक्ते बृहस्पतौ । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९५ ॥

महामघ इति । माघपौर्णमासीयुक्तं मघर्क्षं महामघम् ॥ ९०–९१ ॥ **उत्तरे फाल्गुन** इति। फाल्गुनमासस्योत्तर-फल्गुन्यामित्यर्थः ॥ ९२–१२१ ॥

कराने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८६ ॥ कृष्णाष्टमी को किसी उत्तम ब्राह्मण को शिवरूप समझते हुए उसे भोजन कराने से सब पापों से छूट कर शिवप्राप्ति होती है ॥ ८७ ॥ रविवार को एक सौ आठ गायत्री जप कर श्रेष्ठ ब्राह्मण को भोजन कराने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८८ ॥ आर्द्रा नक्षत्र वाले दिन में रुद्र के उद्देश्य से उत्तम ब्राह्मण को भोजन कराने से सब पापों से छूटकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥ मघानक्षत्र युक्त माघी पूर्णिमा को महादेव का घी से अभिषेक कर ब्रह्महत्यादि अत्युग्र पापों से मनुष्य छूट जाता है ॥ ९० ॥ माघ कृष्णा चतुर्दशी को बिल्व पत्र से महेश्वर की पूजा करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ९१ ॥ वसन्त ऋतु में चित्रा नक्षत्र के दिन सुगन्धयुक्त पुष्पों से महादेव की पूजा करने से प्रासंगिक नामक पापों का प्रायश्चित हो जाता है ॥ ९३ ॥ एक बार काशी में गंगास्नान कर विश्वनाथ का दर्शन करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ९४ ॥ बृहस्पति जब सिंह राशि में हो तब एक बार गोदावरी में स्नान करने से ब्रह्महत्या आदि पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९५ ॥ माघ

---

१ ख. घ. °त्स्नात्वा सिंह° ।

माघमासि मघर्क्षे तु सुवर्णमुखरीजले । स्नात्वा दत्त्वा महापापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९६ ॥

स्नात्वा तु शिवगङ्गायां पर्वयुक्तेऽर्कवासरे[1] । महापातकसंघैश्च मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

सोमवारे त्वमावस्यां सप्तम्यामर्कवासरे । सकृत्स्नानेन कावेर्यां मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९८ ॥

स्नात्वा दत्त्वा तु विप्राय गन्धमादनपर्वते ।
दृष्ट्वा रामेश्वरं देवं मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९९ ॥
अन्नपानादिभिर्भक्त्या ब्रह्मनिष्ठं समर्चयेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ १०० ॥
श्रीमद्दभ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम् ।
दृष्ट्वा दिने दिने पापैर्मुच्यते दशभिर्दिनैः ॥ १०१ ॥
संन्यासश्चापि पापानां प्रायश्चित्तं प्रकीर्तितम् ।
पापिष्ठानामयोग्यानां योग्यानां मुक्तिसाधनम् ॥ १०२ ॥
चतुर्विधस्तु संन्यासो वृत्तिभेदेन सत्तमाः ।
एकः कुटीचकः प्रोक्तस्तथाऽन्यश्च बहूदकः ॥ १०३ ॥

हंसश्चान्यस्तथैवान्यः परहंससमाश्रयः । कुटीचकादपि श्रेष्ठो भिक्षुकश्च बहूदकः ॥ १०४ ॥

हंसो बहूदकाच्छ्रेष्ठः परहंसस्ततः परः ।
परहंसादपि श्रेष्ठ आश्रमी नास्ति कश्चन ॥ १०५ ॥
कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः ।
नित्यानुष्ठानतः शुद्धा भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ १०६ ॥

में मघा नक्षत्र के दिन स्वर्णमुखरी में नहा कर दान करने से महापाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९६ ॥ पर्व के दिन (पूर्णिमा या अमावस्या को) यदि रविवार हो तो शिवगंगा में स्नान करने से महापातक-समूह निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९७ ॥ सोमवती अमावस को या रविवार के दिन सप्तमी को एक बार कावेरी में नहाने से सब पाप धुल जाते हैं ॥ ९८ ॥ गंधमादन पर्वत पर स्नान व ब्राह्मणों को दान कर रामेश्वर का दर्शन करे से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ९९ ॥ भक्तिपूर्वक अन्नपान आदि द्वारा ब्रह्मनिष्ठ की अर्चना करने से सब पापों से छूट कर मानव शंकर को प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ दस दिन तक रोज़ दभ्रसभा में (चिदम्बर में) नटराज का दर्शन करे से पाप छूट जाते हैं ॥ १०१ ॥ घोर पापी अतएव कल्याण प्राप्ति के अयोग्य लोगों के लिये संन्यास भी प्रायश्चित्त बताया गया है । योग्यों के लिये तो वह मोक्ष का उपाय है ॥ १०२ ॥ संन्यास चार तरह का है । प्रत्येक संन्यास में व्यापार (धर्म) अलग-अलग हैं । इनके नाम हैं—कुटीचक,

---

१ ख. ग. घ. "वारके ॥ म" ।

चित्तशुद्ध्या मुमुक्षुत्वं क्रमात्तेषां विजायते । मुमुक्षुत्वे तु संजाते भवेयुः परहंसकाः ॥ १०७ ॥
परहंसस्तु नित्याख्यं कर्म त्यक्त्वा विधानतः । शगोमादिसाधनो भूत्वा वेदान्तज्ञानमभ्यसेत्[१] ॥ १०८ ॥
कुटीचकाख्यः संन्यासी तथैव च बहूदकः । गोवालरज्जुसंबन्धं त्रिदण्डं च कमण्डलुम् ॥ १०९ ॥
पात्रं जलपवित्रं .च तथा काषायमेव च । शिखां यज्ञोपवीतं च पवित्रं चैव धारयेत् ॥ ११०॥
पात्रं जलपवित्रं च पवित्रं च तथैव च । कुण्डिकां चोपवीतं च हंसस्यापि समं बुधाः ॥ १११॥
हंसः परमहंसश्च सत्वचं सौम्यमव्रणम् । एकं तु वैणवं दण्डं काषायं चैव धारयेत् ॥ ११२ ॥
परहंसस्य हंसस्य समानं मौण्ड्यमास्तिकाः । स्नानं शौचं शिवध्यानं शिवार्चा [२]भस्मगुण्ठनम् ॥ ११३ ॥
त्रिपुण्ड्रधारणं शान्तिर्दान्तिः क्रोधादिवर्जनम् । चातुर्मास्यं च सर्वेषां समानं परिकीर्तितम् ॥ ११४ ॥
पापिष्ठः कर्मसंन्यासं कृत्वा शास्त्रोक्तवर्त्मना । प्राणत्यागं पुनः कुर्यात्पापानां च विशुद्धये ॥ ११५॥
योगी संन्यासमापन्नः प्राणत्यागं कदाचन । न कुर्यान्मोहतो वाऽपि ज्ञानमेव सदाऽभ्यसेत् ॥ ११६॥
संन्यासेन समं नास्ति प्रायश्चित्तं द्विजर्षभाः । ततः पापनिवृत्त्यर्थं संन्यसेत्परितापितः ॥ ११७ ॥
रहस्यानां च संन्यासः प्रायश्चितं तथैनसाम् । प्रसिद्धानां च पापानां प्रायश्चित्तमयं तथा ॥ ११८॥
शिवज्ञानं शिवध्यानं शिवशब्दजपस्तथा । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मना चावगुण्ठनम् ॥ ११९ ॥
रुद्राक्षधारणं भक्त्या त्रिपुण्ड्रस्य च धारणम् । संन्यासश्चैव पापानां प्रायश्चित्तं महत्तरम् ॥ १२० ॥

बहूदक, हंस और परमहंस । उत्तरोत्तर को श्रेष्ठ जानना चाहिये । परमहंस से श्रेष्ठ कोई आश्रम वाला नहीं है ॥ १०३–१०५ ॥ कुटीचकादि त्रिविध यति नित्यकर्म के अनुष्टान से शुद्ध हो जाया करते हैं ॥ १०६ ॥ चित्तशुद्धि द्वारा उन्हें मुमुक्षा होती है । तदनन्तर वे परमहंस हो जाते हैं ॥ १०७ ॥ परमहंस तो यथाविधि नित्यकर्म का परित्याग करते हैं और शम आदि साधनों की पुष्कलता के लिये प्रयास करते हुए वेदान्तों का अभ्यास करते हैं ॥ १०८ ॥ कुटीचक और बहुदक को गोवाल की रज्जु से बँधे त्रिदण्ड, कमण्डलु, पात्र, पानी छानने के वस्त्र, काषाय, शिखा, यज्ञोपवीत और पवित्र का धारण करना चाहिये ॥ १०९–११० ॥ हंस को भी पात्र, पानी छानने का वस्त्र, पवित्र (कुश), कुण्डिका और उपवीत धारण करना चाहिये ॥ १११ ॥ हंस और परमहंस एक बाँस का दण्ड रखें जो छीला न गया हो । काषाय वस्त्र उन्हें धारण करना चाहिये ॥ ११२ ॥ हंस व परमहंस दोनों को मुण्डित रहना चाहिये । स्नान, सफाई, शिवध्यान, शिव-अर्चना, भस्मधारण, त्रिपुण्ड्रधारण, शम, दम, अक्रोध और चातुर्मास्य व्रत–ये सभी के लिये समान हैं ॥ ११३–११४ ॥ घोर पापी यदि पापों से छूटना चाहे तो उसे शास्त्रीय विधि के अनुसार कर्मों से संन्यास लेकर पुनः प्राण छोड़ देने चाहिये ॥ ११५ ॥ इससे विपरीत जो साधक हो (जिसने प्रायश्चित्तार्थ संन्यास न किया हो) वह संन्यास धारण कर प्राण त्यागने का कभी प्रयास न करे । उसे सदा ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ११६ ॥ संन्यास के समान कोई प्रयश्चित्त नहीं है । अतः जिसे अपने किये पापों का परिताप हो उसे संन्यास ग्रहण (व तदनंतर प्राणत्याग) करना चाहिये ॥ ११७ ॥ गुप्त व प्रकाशित सभी पापों का प्रायश्चित्त है संन्यास ॥ ११८ ॥ शिवज्ञान, शिवध्यान, 'शिव' शब्दका जप, 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से भस्मोद्धूलन, रुद्राक्षधारण, भक्तिपूर्वक त्रिपुण्ड्रधारण और संन्यास पापों का श्रेष्ठ प्रायश्चित्त है ॥ ११९–१२० ॥ करुणामय सर्वज्ञ गुरु व्यासदेव ने जो मुझे प्रायश्चित्तविषयक

---

१ अत आचार्या आहुः–'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्मे'ति (सूत्र भा. ३.४.२.२०) ब्रह्म वेदस्तन्निष्ठता श्रवणादिपरत्वम् । यद्वा त्वमर्थविवेको ब्रह्मनिष्टता । त्वमर्थस्य विवेकाय संन्यास इति विवेकं परित्यजेच्चेत्प्रत्यवेयादित्यादि स्मृतौ प्रसिद्धम् ।
२ ङ. भस्मधारणम् ।.

सर्ववेदरहस्यमिदं मया केवलं कृपयैव समीरितम् ।

प्राह कारुणिकः सकलार्थविद्देशिकप्रवरप्रवरस्तु मे ॥ १२१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रायश्चित्तविचारो नाम द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–भूयोऽपि पापशुद्ध्यर्थमुपायं प्रवदाम्यहम् ।

महत्या श्रद्धया युक्ताः शृणुत ब्रह्मवित्तमाः ॥ १ ॥

निर्मितानि शिवेनैव भूमौ स्थानानि देहिनाम् ।

सर्वपापविशुद्ध्यर्थं तानि वक्ष्याम्यशेषतः ॥ २ ॥

अमरेशमिति प्रोक्तं स्थानं सर्वार्थसाधकम् । ओंकारसंज्ञस्तत्रेशश्चण्डिकाख्या महेश्वरी ॥ ३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां प्रायश्चित्तविचारो नाम द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

एवं वेदाधिकृतानां चित्तपरिपाकानुसारेण वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मात्मज्ञानतद्ध्यानवैदिकमन्त्रजपादिकं प्रायश्चित्तत्वेनोपदिष्टम् । अथ [1]सर्वसाधारणममरेशादिस्थानविशेषेषु शक्तिसहितस्य परमेश्वरस्य तत्तन्नाम्ना पूजनात्मकं पापक्षयोपायं वक्तुमारभते–भूयोऽपीति ॥ १-२० ॥

शास्त्ररहस्य बताया था उसे मैंने आप लोगों को केवल कृपा कर सुना दिया है ॥ १२१ ॥

पापशुद्धि के उपायों का कथन नामक तेंतालीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–पापों से निवृत्त होने के कुछ और उपाय बताता हूँ । (इन्हें सभी वर्ण वाले कर सकते हैं) बड़ी श्रद्धापूर्वक सुनिये ॥ १ ॥ शिव ने ही भूमि पर कई स्थान इसलिये बनाये हैं कि प्राणी पापों से शुद्धि पा सके । उन सब स्थानों को मैं बताता हूँ ॥ २ ॥

अमरेश नामक स्थान सब सिद्धियाँ देने वाला है । वहाँ महादेव ओंकारेश्वर नाम से और महेश्वरी चण्डिका नाम से स्थित हैं । वहाँ शिव व पार्वती की उस उस नाम से पूजा कर सब पापों से व्यक्ति

---

१ ख. "र्ववर्णसा" ।

प्रभासाख्यं महास्थानमस्ति भूमितले द्विजाः ।
सोमनाथः शिवस्तत्र शिवा सा पुष्करेक्षणी ॥ ५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६ ॥
नैमिषाख्यं महास्थानमस्ति तत्र महेश्वरः ।
देवदेवाभिधः[1] प्राज्ञा देवी सा लिङ्गधारिणी ॥ ७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८ ॥
पुष्कराख्यं महास्थानमन्यदस्ति महीतले । रजोगन्धिर्महादेवः पुरुहूता महेश्वरी ॥ ९ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १० ॥
आषाढी नाम विप्रेन्द्राः स्थानमस्ति महीतले ।
आषाढीशो हरस्तत्र रतिः सा परमेश्वरी ॥ ११ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १२ ॥

छूट जाता है ॥ ३–४ ॥ पृथ्वी पर प्रभास नाम का एक महान् स्थान है । वहाँ सोमनाथ नाम के महादेव तथा पुष्करेक्षणी नाम की देवी हैं । परम श्रद्धा से उस उस नाम से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ५–६ ॥ नैमिष नामक एक अन्य श्रेष्ठ स्थान है । वहाँ महेश्वर का नाम है देवदेव और देवी का नाम है लिंगधारिणी । इन नामों से वहाँ इनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७–८ ॥ पुष्कर नामक एक उत्तम तीर्थ है । वहाँ रजोगन्धि महादेव हैं और पुरुहूता देवी हैं । वहाँ इन नामों से उनकी पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ९–१० ॥ धरती पर एक आषाढी नामक स्थान है । शिव का वहाँ नाम है आषाढीश और देवी का रति । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पापों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ११–१२ ॥ एक अधिक महान् स्थान है जिसका नाम है चण्डमुण्डी । वहाँ महादेव हैं दण्डी और परमेश्वरी हैं दण्डिनी । इन नामों से वहाँ इनका पूजन करने से सब

१ ङ. "भिधस्तत्र दे" ।

चण्डमुण्डीसमाख्यं तु स्थानमन्यन्महत्तरम् । दण्डी तत्र महादेवो दण्डिनी परमेश्वरी ॥ १३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १४ ॥

भारभूतिरिति ख्यातमस्ति स्थानं महत्तरम् । भारभूतिर्महादेवो भूतिः सा परमेश्वरी ॥ १५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १६ ॥

नाकुलं नाम संशुद्धमस्ति स्थानं महीतले ।

नकुलीशो हरस्तत्र शिवा सैव प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १८ ॥

हरिश्चन्द्रसमाख्यं च स्थानमस्ति महीतले ॥

हराख्यः शंकरस्तत्र चण्डिकाख्या महेश्वरी ॥ १९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २० ॥

श्रीपर्वतसमाख्यं च स्थानमस्ति महत्तरम् । मायावी शंकरी तत्र शंकरस्त्रिपुरान्तकः ॥ २१ ॥

मायावीति । यद्यपि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विन्नन्तात्स्त्रियां ङीपि मायाविनीति भवितव्यं तथाऽपि पुराणानामप्यार्षत्वेन च्छन्दोवद्भावत्वात् 'वहुलं छन्दसि' इति वहुलग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् 'नस्तद्धिते' इत्युच्यमानष्टिलोपोऽतद्धिते ङीप्यपि द्रष्टव्यः ॥ २१-९६ ॥

पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३–१४ ॥ भारभूति नाम का एक श्रेष्ठ स्थान है जहाँ परमेश्वर का नाम भारभूति और देवी का नाम भूति है । इन नामों से वहाँ उनका पूजन करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १५–१६ ॥ नाकुल नामक एक विशुद्ध स्थान है । वहाँ शिव हैं नकुलीश और शिवा भी वही वतायी गयी हैं । परम श्रद्धा से वहाँ इन नामों से उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ १७–१८ ॥ हरिश्चन्द्र नामक एक स्थान है । वहाँ हर नाम से महेश्वर और चण्डिका नाम से देवी प्रतिष्ठित हैं । इन नामों से वहाँ उनकी श्रद्धा से पूजा करने से मनुष्य सव पापों से छूट जाता है ॥ १९–२० ॥ श्रीपर्वत नाम का एक प्रशस्यतर स्थान है । शिव वहाँ त्रिपुरान्तक नाम से हैं और

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २२ ॥
जप्येश्वरमिति ख्यातं स्थानमस्ति महत्तरम् ।
त्रिशूला[1] शंकरी तत्र त्रिशूली परमेश्वरः ॥ २३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २४ ॥
आम्रातकेश्वरं नाम स्थानमन्यत्सुशोभनम् ।
तत्र सूक्ष्माभिधो रुद्रः सूक्ष्माख्या परमेश्वरी ॥ २५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २६ ॥
महाकाल इति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् ।
महाकालो हरस्तत्र शंकरी सा महेश्वरी ॥ २७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्मा तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २८ ॥
मध्यमाख्यं महास्थानमस्ति मायाविषापहम् ।
तत्र शर्वः शिवः साक्षाच्छर्वाणी परमेश्वरी ॥ २९ ॥

देवी मायावी नाम से । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करना सब पापों से छुड़ा देता है ॥ २१–२२ ॥ एक उत्तम स्थान है जप्येश्वर । वहाँ परमेश्वर हैं त्रिशूली और देवी हैं त्रिशूला । इन नामों से वहाँ उनका सश्रद्ध पूजन करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ २३–२४ ॥ एक अन्य सुशोभन स्थान है–आम्रातकेश्वर । वहाँ रुद्र का नाम है सूक्ष्म और देवी का नाम है सूक्ष्मा । वहाँ श्रद्धा से इन नामों से उनका पूजन करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ २५–२६ ॥ एक अन्य महान् स्थान है महाकाल जहाँ हर हैं महाकाल और शंकरी महेश्वरी हैं । वहाँ श्रद्धा से इन नामों से उनका पूजन करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २७–२८ ॥ माया विष को हटाने वाला मध्यम नाम का स्थान है. । वहाँ शिव का नाम है

---

१ घ. ङ. "शूली शंकरस्तत्र त्रिशूली परमेश्वरी ॥ २३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३० ॥

केदाराख्यं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।

ईशानाख्यो हरस्तत्र देवी सा मार्गदायिनी ॥ ३१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३२ ॥

भैरवाख्यं महास्थानं भवरोगस्य भेषजम् । भैरवः शंकरस्तत्र भैरवी परमेश्वरी ॥ ३३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३४ ॥

गया नाम महाक्षेत्रमस्ति भूमितले शुभम् । मङ्गलाख्या महादेवी शंकरः प्रपितामहः ॥ ३५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तनाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३६ ॥

कुरुक्षेत्रमिति ख्यातमस्ति क्षेत्रं महीतले ।

शिवा स्थाणुप्रिया तत्र शिवः स्थाणुसमाह्वयः ॥ ३७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तनाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३८ ॥

शर्व और भगवती हैं शर्वाणी । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ २९–३० ॥ पृथ्वी पर एक और शुभ स्थान है केदार । वहाँ महादेव का नाम है हर और देवी का नाम है मार्गदायिनी । इन नामों से वहाँ उनकी सश्रद्ध पूजा करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३१–३२ ॥ भवरोग की दवारूप भैरव नामक एक महान् स्थान है । वहाँ शंकर हैं भैरव और परमेश्वरी हैं भैरवी । इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों को निवृत्त कर देता है ॥ ३३–३४ ॥ भूमितल पर गया नाम का एक शुभ महाक्षेत्र है । शंकर वहाँ प्रपितामह हैं और मंगला देवी हैं । वहाँ उनकी श्रद्धा से इन नामों से पूजा करें तो सब पाप छूट जाते हैं ॥ ३५–३६ ॥ ऐसे ही एक स्थान है कुरुक्षेत्र । वहाँ शिव हैं स्थाणु और देवी हैं स्थाणुप्रिया । इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों का निवारक है ॥ ३७–३८ ॥ लाकुल नामक स्थान सर्वार्थप्रद है । महादेव वहाँ हैं स्वयंभू और देवी हैं स्वायंभुवी ।

लाकुलाख्यं महास्थानमस्ति सर्वार्थसाधकम् ।

स्वयंभूस्तत्र देवेशः शिवा स्वायंभुवी मता ॥ ३९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥

अन्यत्कनखलं नाम स्थानमस्ति महत्तरम् । उग्रस्तत्र महादेवः शिवोग्रा मुनिपुंगवाः ॥ ४१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४२ ॥

विमलेश्वरमित्युक्तमन्यदस्ति महीतले । विश्वस्तत्र महादेवो विश्वेशा परमेश्वरी ॥ ४३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४४ ॥

अट्टहासमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । महानन्दो हरस्तत्र महानन्दा महेश्वरी ॥ ४५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४६ ॥

महेन्द्रमिति विख्यातमन्यदस्ति महीतले ।

हरो महान्तकस्तत्र शिवा सा तु महान्तका ॥ ४७ ॥

इन नामों से उनकी वहाँ पूजा सब पापों का निवारण करती है ॥ ३९–४० ॥ एक अन्य उत्तम स्थान है कनखल । महादेव वहाँ हैं उग्र और उग्रा महादेवी हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा करना सब पापों की निवृत्ति करता है ॥ ४१–४२ ॥ विमलेश्वर नामक एक और शिवस्थान है जहाँ महादेव विश्व नाम से और देवी विश्वेशा नाम से प्रतिष्ठित हैं । श्रद्धापूर्वक वहाँ उनका इन नामों से पूजन सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ४३–४४ ॥ अट्टहास नामक स्थान पर महानन्द महादेव तथा महानन्दा देवी हैं । वहाँ उनकी इन नामों से पूजा सब पापों को निवृत्त करती है ॥ ४५–४६ ॥ महेन्द्र नामक स्थान पर महान्तक महादेव और महान्तका देवी हैं । इन नामों से उनका वहाँ पूजन पापमोचक है ॥ ४७–४८ ॥ भयनिवारक

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४८ ॥
भीमं नाम महास्थानमस्ति भीतिविनाशनम् ।
तत्र भीमेश्वरो देवः शिवा भीमेश्वराभिधा ॥ ४९ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५० ॥
वस्त्रापथमिति ख्यातमस्ति स्थानं महत्तरम् । भवस्तत्र शिवः साक्षाद्भवानी परमेश्वरी ॥ ५१ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५२ ॥
अर्धकोटिरिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । देवस्तत्र [1]महायोगी रुद्राणी च महेश्वरी ॥ ५३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५४ ॥
अविमुक्तमिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । महादेवाभिधः शंभुर्विशालाक्षी शिवा परा ॥ ५५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५६ ॥
महालयमिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । रुद्रस्तत्र हरः साक्षान्महाभागाभिधा शिवा ॥ ५७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५८ ॥

भीम नामक स्थान पर भीमेश्वर महादेव और भीमेश्वरा देवी हैं । वहाँ इन नामों से उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ४९–५० ॥ वस्त्रापथ नामक एक श्रेष्ठ स्थान है । शिव वहाँ भव हैं और परमेश्वरी वहाँ भवानी हैं । इन नामों से सश्रद्ध वहाँ उनका पूजन सब पापों का निवारक है ॥ ५१–५२ ॥ अर्धकोटि नाम का एक अन्य स्थान है । शिव-पार्वती का वहाँ नाम है महायोगी और रुद्राणी । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ५३–५४ ॥ एक श्रेष्ठ स्थान है अविमुक्त जहाँ शंभु का नाम है महादेव और देवी विशालाक्षी हैं । इन नामों से उनका वहाँ पूजन सब पापों को निवृत्त करता है ॥ ५५–५६ ॥ महालय नामक एक शुभ स्थान है । हर नाम से रुद्र और महाभागा नाम से देवी वहाँ स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा सब पापों की निवारक है ॥ ५७–५८ ॥ भूतल पर

१ ग. महादेवो ।

गोकर्णाख्यं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।
महाबलो हरस्तत्र शिवा सा भद्रकर्णिका ॥ ५९ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६० ॥
भद्रकर्णं महास्थानमस्ति भद्रकरं परम् । भद्रा तत्र महादेवी महादेवः शिवाभिधः ॥ ६१ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६२ ॥
सुवर्णाक्षमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । शिवस्तत्र सहस्राक्ष उत्पलाक्षी शिवा परा ॥ ६३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६४ ॥
स्थाणुसंज्ञं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।
शिवः स्थाण्वीश्वरस्तत्र शिवा स्थाण्वीश्वरी परा ॥ ६५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६६ ॥
कमलालयमित्युक्तमस्ति स्थानं महत्तरम् । कमलाख्यो हरस्तत्र कमलाख्या महेश्वरी ॥ ६७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६८ ॥

गोकर्ण नामक एक परम स्थान है । महाबल वहाँ महादेव और भद्रकर्णिका देवी हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ५९–६० ॥ कल्याणकारी भद्रकर्ण नामक एक उत्तम स्थान है । शिव नाम से महादेव और भद्रा नाम से महादेवी वहाँ स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ६१–६२ ॥ सुवर्णाक्ष एक अन्य स्थान है । सहस्राक्ष और उत्पलाक्षी वहाँ शिव व पार्वती हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा सर्वपापनिवारक है ॥ ६३–६४ ॥ एक स्थान है स्थाणु (थानेश्वर, हरियाणा) । शिव वहाँ स्थाण्वीश्वर और शिवा स्थाण्वीश्वरी हैं । वहाँ इन नामों से सश्रद्ध उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ६५–६६ ॥ कमलालय (तिरुवारुर) नामक एक महान् स्थान है जहाँ हर कमल और देवी कमला हैं । इन नामों से वहाँ इनका पूजन सब पापों की

छागण्डलमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । कपर्दी तत्र देवेशः प्रचण्डाख्या महेश्वरी ॥ ६९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७० ॥

[1]कुरण्डमिति विख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् ।

ऊर्ध्वरेता हरस्तत्र त्रिसंध्याख्या[2] शिवा परा ॥ ७१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७२ ॥

माकोटाख्यं महास्थानमन्यदस्ति महीतले । महोत्कटो हरस्तत्र शिवा सा मुकुटेश्वरी ॥ ७३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७४ ॥

मण्डलेश्वरसंज्ञं च स्थानमस्ति महत्तरम् ।

श्रीकण्ठस्तत्र देवेशः शंकरी [3]शाण्डकी मता ॥ ७५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७६ ॥

कालंजरमिति ख्यातमस्ति स्थानं महीतले ।

नीलकण्ठो हरस्तत्र शिवा काली प्रकीर्तिता ॥ ७७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७८ ॥

निवृत्ति करता है ॥ ६७–६८ ॥ छागण्डल एक स्थान है जहाँ कपर्दी महादेव और प्रचण्डा देवी हैं । वहाँ उनकी इन नामों से पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ६९–७० ॥ एक और स्थान है कुरण्ड । वहाँ ऊर्ध्वरेता हर हैं और त्रिसन्ध्या देवी हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७१–७२ ॥ माकोट नामक एक महास्थान है जहाँ महोत्कट और मुकुटेश्वरी नाम से शिव-शिवा स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ सश्रद्ध पूजा करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७३–७४ ॥ मण्डलेश्वर नामक स्थान पर श्रीकण्ठ और शाण्डकी नाम से शिव-पार्वती हैं । वहाँ उनकी इन नामों से पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है

---

१ ग. करण्डलमिति ख्या" । २ ग. "ख्या महेश्वरी ॥ ७१ ॥ त" । ३ ग. शार्ङ्गकी ।

शङ्कुकर्णं महास्थानं सर्वदोषनिवारणम् । महातेजा हरस्तत्र ध्वनिः सा परमेश्वरी ॥ ७९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८० ॥

स्थूलेश्वरसमाख्यं तु स्थानमस्ति महत्तरम् ।
स्थूलस्तत्र महादेवः स्थूला सा परमेश्वरी ॥ ८१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८२ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुराख्यं तु स्थानमस्ति महीतले ।
हरः सभापतिस्तत्र शिवा [१]दभ्रसभाधिपा ॥ ८३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८४ ॥

यत्र नृत्यति देवेशः स्वात्मानन्दप्रमोदतः । यत्र नृत्यन्तमीशानमम्बिका परिपश्यति ॥ ८५ ॥

यत्र भक्तिमतां नृणां प्रसीदति महेश्वरः । यत्र नृत्यन्तमीशानं दृष्ट्वा मर्त्यो विमुच्यते ॥ ८६ ॥

स्थानानामपि सर्वेषामेतत्स्थानं महत्तरम् । अत्र जप्तं हुतं दत्तमसंख्येयगुणाधिकम्[२] ॥ ८७ ॥

॥ ७५–७६ ॥ कालंजर नामक स्थान पर नीलकण्ठ और काली नाम से देव-देवी हैं और इन्हीं नामों से वहाँ उनका पूजन पापनिवृत्ति कर देता है ॥ ७७–७८ ॥ सब दोषों का निवारक शंकुकर्ण स्थान है । वहाँ महातेजा और ध्वनि नाम से हर और परमेश्वरी स्थित हैं । इन नामों से पूजित वे पाप-निवृत्ति कर देते हैं ॥ ७९–८० ॥ स्थूलेश्वर नामक स्थान पर स्थूल और स्थूला नाम से शिव व देवी हैं । इन नामों से वहाँ उनकी सश्रद्ध पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ८१–८२ ॥ व्याघ्रपुर स्थान पर शिव का नाम है सभापति और भगवती का नाम है दभ्रसभाधिपा । इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ८३–८४ ॥ जहाँ महादेव स्वरूपानंद के कारण नृत्य करते हैं और अम्बिका उन्हें नृत्य करते हुए देखती हैं, जहाँ भक्तों पर महेश्वर प्रसन्न होते हैं; वह स्थान सब स्थानों से महत्तर है । यहाँ किया जप, होम व दान असंख्य गुणा अधिक फल देता है ॥ ८५–८७ ॥ इसी (व्याघ्रपुर, चिदम्बर) स्थान पर शिवगंगा नाम का श्रेष्ठ

---

१ "भापती इति आ.आ. पाठः । २ ङ. "गुणात्मक" ।

अस्मिन्नेव महास्थाने शिवगङ्गाभिधं परम् । तटाकमस्ति तत्तीरे दक्षिणे नृत्यतीश्वरः ॥ ८८ ॥

तस्मिन्नेव तटाके यो नित्यं स्नात्वा द्विजा नरः ।

दृष्ट्वा दभ्रसभानाथं परमश्रद्धया सह ॥ ८९ ॥

अष्टोत्तरसहस्रं तु मन्त्रमाद्यं षडक्षरम् । जपति प्रीतिसंयुक्तः प्रसिद्धैरपि[1] मुच्यते ॥ ९० ॥

आदित्ये मेषसंयुक्ते पर्वण्यार्द्रादिने तथा । तटाकेऽस्मिन्नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९१ ॥

आदित्ये वृषभं प्राप्ते तटाकेऽस्मिन्वृषोदये ।

स्नात्वा दत्त्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९२ ॥

आदित्ये मिथुनं प्राप्ते तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।

कृष्णाष्टम्यां नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९३ ॥

आषाढे तु चतुर्दश्यां कृष्णपक्षे समाहितः ।

तटाकेऽस्मिन्नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां पौर्णमास्यां तु तटाकेऽस्मिन्समाहितः ।

स्नात्वा तु पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९५ ॥

कन्यकायां स्थिते चार्के जन्मर्क्षे चार्कवारके ।

नरः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९६ ॥

आदित्ये च तुलां प्राप्ते भगनक्षत्रके नरः ।

प्रातः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९७ ॥

तालाब है । उसके दाहिने तट पर परमेश्वर नाचते हैं ॥ ८८ ॥ जो व्यक्ति उस तालाब में नित्य नहाकर परम श्रद्धापूर्वक दभ्रसभानाथ नटराज का दर्शन कर एक हज़ार आठ बार षडक्षर का जप करता है वह प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता है ॥ ८९–९० ॥ सूर्य मेष राशि में हो और पर्व के दिन आर्द्रा नक्षत्र हो तो उस तटाक में स्नान करने से प्रसिद्ध पाप भी छूट जाते हैं ॥ ९१ ॥ सूर्य वृष राशि में हो तो इस धर्मोत्पादक तालाब में स्नान करने से व्यक्ति प्रसिद्ध महापापों से भी छूट जाता है ॥ ९२ ॥ सूर्य जब मिथुन राशि में हो तब कृष्णपक्ष की अष्टमी को इसमें नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य विमुक्त हो जाता है॥ ९३ ॥ आषाढ कृष्णा चतुर्दशी को इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य छूट जाता है ॥ ९४ ॥ श्रावणी पूर्णिमा को इसमें स्नान करने से प्रसिद्ध पापी को भी सब पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ९५ ॥ सूर्य जब कन्या राशि में हो तब रविवार को (अथवा जन्म नक्षत्र रहते) इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी नर छूट जाता है ॥ ९६ ॥ आदित्य जब तुला राशि में हो तब पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र वाले दिन प्रातः इस तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता ह

१ अप्रसिद्धानां रहसि कृतानां संग्राहकोऽपिकारः ।

आदित्ये वृश्चिकं प्राप्ते पावकस्य दिने नरः ।
प्रातः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन् प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९८ ॥
आदित्ये चापसंयुक्ते रौद्रनक्षत्रके नरः । स्नानं कृत्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९९ ॥
आदित्ये मकरं प्राप्ते पुष्यर्क्षे चार्कवारके ।
नरः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०० ॥
माघमासि मघर्क्षे तु तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।
स्नानं कृत्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०१ ॥
फाल्गुने चोत्तरे मर्त्यस्तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।
स्नानं कृत्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०२ ॥
अनेन सदृशं स्थानं नास्ति लोकत्रयेष्वपि ।
अत्रैव वर्तमानस्तु मुच्यते भवबन्धनात् ॥ १०३ ॥
अत्र ब्रह्मविदां नित्यमन्नं पेयं ददाति यः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ १०४ ॥
गृहं वा मठिकां वाऽपि प्रदत्त्वाऽत्रैव योगिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ १०५ ॥

भगनक्षत्रक इति । 'फल्गुनीनक्षत्रं भगो देवता' इति [२]श्रुतेः पूर्वाफल्गुन्याख्यं भगनक्षत्रम् ॥ ९७ ॥ पावकस्य दिन इति[3] । कृत्तिकायामित्यर्थः ॥ ९८–१०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पापशुद्ध्युपायकथनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ ९७ ॥ सूर्य जब वृश्चिक राशि में हो तब कृत्तिका नक्षत्र के दिन प्रातः इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता है ॥ ९८ ॥ आदित्य के धनु राशि में रहने पर रौद्र नक्षत्र (आर्द्रा नक्षत्र) युक्त दिन में इस तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य छूट जांता है ॥ ९९ ॥ आदित्य जब मकर राशि में हो तब रविवार को पुष्य नक्षत्र होने पर इस शिवगंगा नामक तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों का भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १०० ॥ माघ महीने में मघा नक्षत्र रहने पर इसमें नहाने से प्रसिद्ध महापापों का भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १०१ ॥ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र रहने पर (फाल्गुन महीने में) इस महत्तर तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध महापापों से भी व्यक्ति छूट जाता है ॥ १०२ ॥ इसके समान कोई स्थान त्रिलोकी में नहीं है । जो मनुष्य नियमतः यहीं रहे वह भवबंधन से छूट जाता है ॥ १०३ ॥

स्थानमेतत्पुरा शंभुः सर्वदोषनिवृत्तये । निर्ममे सर्वजन्तूनां केवलं करुणाबलात् ॥ १०६ ॥

अनेककोटिभिः कल्पैरर्जितैः पुण्यराशिभिः । स्थानमेतन्मनुष्याणां सिध्यत्यत्यन्तशोभनम् ॥ १०७ ॥

सर्वमुक्तमतिशोभनं मया पापराशिविनिवर्तकं नृणाम् ।

स्थानमेतदतिशोभनं सदा सेवनीयमखिलैस्तु जन्तुभिः ॥ १०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पापशुद्ध्युपायकथनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं समासतः ।

श्रद्धया सह विप्रेन्द्राः शृणुताऽऽत्मविशुद्धये ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दरूपस्याऽऽत्मनः स्वाभाविकशुद्धिं सिद्धवत्कृत्य तदुपजीवनेन तत्स्वरूपेऽध्यस्ताविद्यातत्कार्यविलसितरूपस्य दोषजातस्य निवर्तकप्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ तां स्वतःशुद्धिमात्मनः प्रतिपादयितुं द्रव्यशुद्धिं प्रतिजानीते–**अथात** इति ॥ १ ॥

जो यहाँ रोज ब्रह्मवेत्ताओं को अन्न व पेय का दान करता है वह सब पापों से छूटकर परागति पा जाता है ॥ १०४ ॥ शिवयोगी को यहाँ घर या मठ प्रदान करने से सब पापों से छूटकर मानव शंकर को प्राप्त कर लेता है ॥ १०५ ॥ यह स्थान केवल करुणा के आधार पर शंभु ने बनाया था ॥ १०६ ॥ यह अत्यंत शुभ स्थान उन मनुष्यों को सिद्ध होता है (फलता है) जिनके अनेक करोड़ों कल्पों में अर्जित पुण्यराशियाँ फलोन्मुख हों ॥ १०७ ॥ इस प्रकार पापराशि के निवर्तक के विषय में सारी शोभनीय बातें मैंने बता दीं । व्याघ्रपुर नामक अतिशुभ स्थान का सबको सदा सेवन करना चाहिये ॥ १०८ ॥

द्रव्यशुद्धि का विचार नामक चवालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं संक्षेप में द्रव्यशुद्धि के विषय में बताऊँगा । आत्मा की स्वाभाविक शुद्धि समझने के लिये इस प्रसंग को श्रद्धा सहित सुनिये ॥ १ ॥

आत्माऽनात्मेति विप्रेन्द्रा द्विधा द्रव्यं व्यवस्थितम् ।
आत्मद्रव्यं स्वयं[1] शुद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ॥ २ ॥
सत्तामात्रे[2] न दोषोऽस्ति स्वतः शुद्धं यतः सदा ।
यदि सत्ता स्वतोऽशुद्धा दुष्टं सर्वं भवेत्सदा ॥ ३ ॥
दुष्टसत्ताभिसंबन्धाद्दुष्टस्पृष्टं सदा खलु ।
तथा सति विशुद्धं तु न सिध्यत्येव किंचन ॥ ४ ॥
सत्ताशून्यं तु तुच्छं स्यात्सत्ता शुद्धा स्वतस्तथा ।
ज्ञप्तिरूपमपि ज्ञानं शुद्धमेव स्वतः सदा ॥ ५ ॥

द्रव्यं व्यवस्थितमिति । द्रव्यशब्दो वस्तुपर्यायो न तु पराभिमतद्रव्यत्वजातिप्रवृत्तिनिमित्तकस्तथात्वे त्वात्मनो द्रव्यत्वजातिसंसर्गविरहेण द्रव्यशब्दवाच्यता न स्यात् । सत्यज्ञानानन्दादिकं ह्यात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपम् । यद्यपि तदखण्डैकरसं, तथाऽपि सर्वदा बाधराहित्यादुपाधिभेदेन सच्चिदादिभेदेन[3] व्यवह्रियते । उक्तं ह्याचार्यैः–'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते'[4] इति ॥ २ ॥ तत्र स्वरूपस्य स्वतःशुद्धिं प्रतिपादयति– **सत्तामात्र** इति । स्वस्मिन्परिकल्पितनानाव्यक्तिष्वधिष्ठानसद्रूपस्यानुगमात्तदभिप्रायेणाधिष्ठानभूतं सन्मात्रमेव सत्तेत्युच्यते[5] । तस्य सत्तामात्रस्य यस्मात्स्वतःशुद्धिरङ्गीकार्या अतस्तत्र न दोषस्पर्श इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह– **यदि सत्तेति** । **स्वत** इति । कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वरूपत एवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ विमतं सर्वं दुष्टं दुष्टसत्तासंस्पृष्टत्वाद्दुष्टस्पृष्टभाण्डवदित्यभिप्रायः । तथा सति[6] दोषाभावव्याप्तायाः शुद्धेर्न क्वचिदप्यात्मलाभ इत्यर्थः ॥ ४ ॥ **सत्ताशून्यं त्विति** । निर्दुष्टत्वाय यदि सर्वं जगत्स्वात्मनो दुष्टसत्तासंसर्गं जह्यात्तदा तन्निरुपाख्यमेव भवेत् । अतः सत्तायाः स्वतः शुद्धिरङ्गीकार्येत्यर्थः । चिन्मात्रस्यापि स्वतःशुद्धिमाह–**ज्ञानमिति** । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणत्वेन व्युत्पत्तिसंभवात्तद्व्यावृत्त्यर्थं **ज्ञप्तिरूपमिति** विशेषणम् ॥ ५ ॥

हे उत्तम ब्राह्मणो ! आत्मा और अनात्मा–यों दो प्रकार की वस्तुएँ हैं ॥ सत्य ज्ञान आदि स्वरूप आत्मवस्तु स्वयं शुद्ध है ॥ २ ॥ सत्तारूप से अनुभूयमान सन्मात्र में कोई दोष नहीं है क्योंकि वह सदा स्वतः शुद्ध है । यदि अन्य कारण के विना स्वरूपतः ही सत्ता अशुद्ध हो तो सभी वस्तुएँ अशुद्ध ही होंगी । जैसे सदोष द्वारा स्पृष्ट बर्तन आदि अशुद्ध होता है ऐसे ही अशुद्ध सत्ता से सम्बद्ध होने के कारण सब वस्तुएँ अशुद्ध होंगी । और ऐसा होने पर कुछ भी शुद्ध सिद्ध न होगा क्योंकि सत्ता वाला रहते

---

१ ख. स्वतः । २ ङ. त्रेणादो° । ग. घ. °त्रेण दो° । ३ ख. घ. °दानन्दभे । ४ छ. °थगिवभा° । ५ सामान्यमनेकव्यक्त्यपेक्षं न तु व्यक्तिभेदस्य सत्यत्वापेक्षम् । अत एव विम्बप्रतिविम्बव्यक्त्यनुगतं चन्द्रत्वसामान्यं व्यवह्रियते । ६ घ. ज. °ति निर्दोषभा° । ग. ङ. च. °ति निर्दोषाभा° ।

अशुद्धिर्जडरूपें हि दृष्टा सर्वजनैरपि । स्वतःस्फुरणरूपं तु ज्ञानं दुष्टं भवेद्यदि ॥ ६ ॥

दुष्टमेव भवेत्सर्वं दुष्टस्फुरणसंगमात् । तथा सति विशुद्धं तु न सिध्यत्येव किंचन ॥ ७ ॥

वस्तु स्फुरणशून्यं तु तुच्छमेव भवेत्सदा । दुष्टकारणविज्ञाने दोषोऽस्तीति वदेद्यदि ॥ ८ ॥

अशुद्धिर्जडरूप इति । अनात्मप्रपञ्चे ह्यशुद्धत्वं जडत्वव्याप्तं दृश्यते तज्जडत्वं स्वप्रकाशचिदात्मनो व्यावर्तमानं स्वव्याप्यमप्यशुद्धत्वं व्यावर्तयतीत्यर्थः । तत्रापि पूर्ववद्विपक्षे बाधकमाह–**ज्ञानं दुष्टमित्यादिना** ॥ ६–७ ॥ **स्फुरणशून्यं** त्विति । स्वगोचरज्ञानाधीनत्वाद्वस्तुसिद्धेस्तस्य च ज्ञानस्य दुष्टत्वेनाङ्गीकारे[1] सर्वदाऽप्रतिभातं जडं जगच्छशविषाणवत्तुच्छमेव भवेदित्यर्थः । विपक्षे बाधकमभिधाय ज्ञानस्य पुनर्दोषसद्भावमाशङ्क्य निरस्यति –**दुष्टकारणे**ति । काचकामलादिदोषदूषितचक्षुरादिकारणजनिते[2] शुक्तिरजतादिभ्रमज्ञाने दोषो दृश्यते तत्सामान्यादन्यत्रापि दोषसंभावना किं न स्यादिति न शङ्कनीयम् । तत्र हि शुक्त्यधिष्ठानचैतन्याभिव्यञ्जिका[3] तदाश्रितमायामयरजतविषयेदंकारास्पदमनोवृत्तिवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यावृत्तिरेव दुष्टकारणजनिता न तु वृत्त्यवच्छिन्नस्फुरणम् । ततश्चोपाधिवशादेव स्फटिके

हुए तो अशुद्ध ही होगा व सत्तारहित होने पर असत् अर्थात् होगा ही नहीं । जो है ही नहीं उसकी शुद्धि का प्रश्न ही नहीं । अतः सत्ता को स्वतः शुद्ध ही स्वीकारना होगा । (आत्मा की शुद्धि 'शुद्धमपापविद्धम्' आदि शास्त्रसिद्ध है । सत्ता को स्वतः अशुद्ध मानने में कोई प्रमाण नहीं । जब औपाधिक अशुद्धि से व्यवहार सिद्ध हो जाता है तब अनौपाधिक अशुद्धि मानना अन्याय्य है । अतः सत्ता स्वतः अशुद्ध नहीं मानी जा सकती ।) ॥ ३–४$^1/_2$ ॥ ज्ञप्तिरूप (अनुभवरूप) ज्ञान भी स्वतः सदा शुद्ध ही है ॥ ५ ॥ जडरूप वस्तुओं में ही सभी लोगों द्वारा अशुद्धि देखी गयी है (उनके अनुभवों में नहीं) । स्फुरणरूप ज्ञान यदि कारण के बिना ही अशुद्ध हो तो सभी कुछ अशुद्ध ही होगा क्योंकि हर चीज ज्ञान से सम्बद्ध है ही और अशुद्ध से सम्बद्ध होने पर अशुद्धि दुर्निवार्य है । ऐसा होने पर कुछ भी (सत्ता भी) शुद्ध सिद्ध न होगा क्योंकि जिस किसी का भी ज्ञान होगा वह तो अशुद्ध ज्ञान के सम्बन्ध से ही अशुद्ध हो जायेगा और जो जड वस्तु कभी ज्ञान से संबद्ध नहीं होती वह शशशृंग की तरह असत् होती है जिसकी शुद्धि का प्रश्न नहीं ॥ ६–७1/२ ॥ यदि कहो कि सदोष साधन से उत्पन्न होने के कारण विज्ञान भी सदोष है, तो ऐसा न कहना । अभिव्यंजक वृत्ति से ज्ञान में दोष प्रतीत होता है स्वतः उसमें दोष नहीं । (सदोष कारण से अभिव्यंजक वृत्ति ही जन्य है अतः वही सदोष भी हो सकती है, अभिव्यंग्य ज्ञान नहीं । जैसे काँच के दोष से बिम्ब में दोष नहीं आता वैसे समझना चाहिये ।) यदि ऐसा न हो तो समस्त ज्ञान, बिना कारण, स्वभाव से सदोष होगा और फलतः वस्तुमात्र ही सदोष होने लगेगी । (तथा वैसा मानना शास्त्रविरुद्ध है । अनुभव भी ज्ञान में किसी हेतु से ही अशुद्धि का होता है । ज्ञान स्वरूपतः अशुद्ध

---

१ ग. ङ. °नानङ्गी । २ च. °दि र° । ३ घ. °व्यञ्जकात्तदा° ।

अभिव्यञ्जकवृत्त्या तु ज्ञाने दोषो न च स्वतः ।

अन्यथा सकलं ज्ञानं दुष्टमेव स्वतो भवेत् ॥

अतः स्फुरणरूपं तु ज्ञानं शुद्धं सदैव तु ॥ ९ ॥

आनन्दस्तु स्वयं शुद्धः पुरुषैरर्थ्यते यतः ।

अशुद्धः सर्वथा भावो नार्थ्यते पुरुषैः खलु ॥ १० ॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैरर्थ्यते हि सुखं सदा ॥ ११ ॥

विषयेन्द्रियसंपर्काज्जन्यते हि सुखं सदा । न दृश्यते ततो दुष्टमिति चेत्तन्न संगतम् ॥ १२ ॥

अभिव्यञ्जकवृत्त्या हि सुखे दोषो न च स्वतः ।

आत्मरूपं सुखं नित्यं नैव जन्मविनाशवत् ॥ १३ ॥

प्रेमालम्बनतः स्वात्मा सुखमेव न संशयः ।

आत्मनश्च सुखस्यापि प्रेमालम्बनता सदा ॥ १४ ॥

लौहित्यमिव स्फुरणे दोषावभासो न तु स्वभाव इत्यर्थः । **अन्यथेति** । विभ्रमज्ञानगतस्फुरणमात्रस्य स्वाभाविकदुष्टत्वाङ्गीकारे तत्सामान्यात्सर्वमपि ज्ञानं स्वभावतो दुष्टं स्यात् । तथाच पूर्वोक्तो बाध इत्यभिप्रायः ॥ ८–९ ॥

आनन्दरूपस्यापि स्वतः शुद्धिमुपपादयति–**आनन्दस्त्वित्यादिना** । पुरुषैरर्थ्यमानत्वादानन्दस्यापि स्वतः शुद्धिरङ्गीकार्या, न ह्यविशुद्धः पदार्थः पुरुषैरर्थ्यते ॥ १०–११ ॥ ब्रह्मादिस्तम्बान्तैरर्थनीयस्य तस्याऽऽनन्दस्य नश्वरत्वमाशङ्क्य निरस्यति– **विषयेन्द्रियेति** । शुभकर्मोपस्थापितविषयैरिन्द्रियसंप्रयोगवशात्सुखं जन्यते । अनन्तरक्षणे च दृश्यते । तथा च सत्युत्पत्तिविनाशवत्त्वेन सुखस्य दुष्टत्वमिति शङ्काभिप्रायः । विषयेन्द्रियसंप्रयोगात्सुखविषया मनोवृत्तिरेव केवलं जन्यते न तु तद्वृत्त्यवच्छिन्नसुखमतो व्यञ्जकवृत्तिगतावेव जन्मविनाशौ व्यङ्ग्ये सुखेऽवभासेते अतो नश्वरत्वदोषप्रसङ्गः स्वाभाविकसुखे नास्तीत्यर्थः । **आत्मरूपमिति** । सुखस्य नित्यात्मस्वरूपत्वादपि जन्मविनाशौ स्वाभाविकौ न स्त इत्यर्थः ॥ १२–१३ ॥ सुखस्याऽऽत्मरूपत्वमुपपादयति–

है ऐसा अनुभव कभी नहीं होता ।) अतः स्फुरणरूप ज्ञान स्वयं सदा स्वभावतः शुद्ध है ॥ ८–९ ॥ इसी तरह आनंद भी स्वतः शुद्ध है क्योंकि सभी के द्वारा चाहा जाता है । जो वस्तु सर्वथा अशुद्ध होती है उसे सब लोग कभी नहीं चाहते ॥ १० ॥ ब्रह्मा से लेकर अल्पतम प्राणी तक सब हमेशा आनंद चाहते ही हैं (अतः उसे शुद्ध मानना होगा ।) ॥ ११ ॥ शंका होती है–सुख तो विषय और इंद्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, सदा तो अनुभव में आता नहीं, अतः उत्पत्ति-विनाशशाली होने से अशुद्ध ही होना चाहिये । किंतु यह शंका अनुचित है ॥ १२ ॥ सुख में दीखने वाला जन्मादि दोष उसकी अभिव्यंजक वृत्ति के कारण है । वह दोष वृत्ति में है, स्वयं सुख में नहीं । सुख आत्मा का स्वरूप है अतः नित्य है, उत्पत्ति आदि वाला नहीं ॥ १३ ॥ सदा प्रिय होने से आत्मा की सुखरूपता निश्चित है । जैसे सुख

विद्यतेऽतस्तयोरैक्यं वस्तुतस्तु सुखात्मनोः ।
अतश्चाऽऽत्मतया नित्यं सुखं निर्दोषमेव हि ॥ १५ ॥
अतः सत्यचिदानन्दः स्वतः शुद्धो न संशयः ॥
सत्यादिलक्षणं चाऽऽत्मद्रव्यं शुद्धं ततः स्वतः ॥ १६ ॥
अज्ञानोपाधिसंपर्कादशुद्धमिव भाति तत् । विशुद्धिः परमा तस्य ज्ञानादेव न कर्मणा ॥ १७ ॥
स्वतःशुद्धस्य चाज्ञानादशुद्धिः स्वात्मवस्तुनः ।
अज्ञानस्य निवृत्त्यैव शुद्धिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ १८ ॥
कर्मणा शुद्धिरुत्पन्ना यदि सा तस्य नश्यति ।
कर्मसाध्यमनित्यं हि न नित्यं संमतं हि तत् ॥ १९ ॥

प्रेमालम्बनत इति । परप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपत्वम् । एतदेव सुखात्मनोरैक्यमुपपादयति—**आत्मनश्चेति** । शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंपर्कजनितान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नस्य सुखस्य तदनुभवित्रात्मनश्चोभयोरपि प्रेमास्पदत्वात्तस्मादुपाधिकृतभेदविरहे वास्तवमैक्यमध्यवसेयमित्यर्थः ॥ १४–१५ ॥

सत्यादिलक्षणमिति । परिकल्पितभेदभिन्नानां सत्ताज्ञानसुखानां निर्दुष्टत्वेन स्वतःशुद्धिप्रतिपादनात्कल्पितभेदविरहादखण्डैकरसभावेनैतेषामेवाऽऽत्मस्वरूपत्वात्सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मवस्त्वपि स्वतः शुद्धमित्यर्थः ॥ १६ ॥ **ज्ञानादेवेति** । अविशुद्ध्यापादकस्याज्ञानस्य कर्मणा सह विरोधाभावात्स्वाभाविकशुद्धात्मज्ञानादेव तस्य निवृत्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ **अज्ञानस्य निवृत्त्यैवेति** । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिरेव केवलं निष्पाद्या तथैव ज्ञानप्राप्त्याऽशुद्धिनिवृत्तावात्मनः स्वाभाविकी शुद्धिरावरणाभावादाविर्भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ **तस्य नश्यतीति** । वस्तुकृतमात्मनोऽशुद्धत्वमङ्गीकृत्य तस्य प्रायश्चित्तरूपेण कर्मणा निवर्तितत्वादसती शुद्धिरिदानीमुत्पद्यते चेत्तर्हि सा शुद्धिस्तस्याऽऽत्मनोऽवश्यं नश्यति

सदा प्रिय होता है ऐसे आत्मा भी, अतः वस्तुतः इन दोनों की एकता है । इसलिये आत्मरूप होने से सुख नित्य व स्वतः निर्दोष है ॥ १४–१५ ॥ अतः सत् चित् और आनन्द स्वतः शुद्ध है । इसमें संशय नहीं । एवं च सद् आदि रूप आत्मवस्तु स्वतः शुद्ध है ॥ १६ ॥ अज्ञानरूप उपाधि के संपर्क से आत्मा अशुद्ध की तरह प्रतीत होता है । उसकी परम विशुद्धि ज्ञान से ही होती है, कर्म से नहीं ॥ १७ ॥ क्योंकि स्वरूपतः आत्मवस्तु शुद्ध है केवल अज्ञान से उसकी अशुद्धि है अतः अज्ञान की निवृत्ति से ही उसकी स्वाभाविक् शुद्धि हो सकती है ॥ १८ ॥ कर्म से यदि शुद्धि उत्पन्न की जायेगी तो उसकी वह जन्य शुद्धि नष्ट भी हो जायेगी । यह बात सर्वसंमत है कि कर्म से जो कुछ साध्य होता है वह अनित्य ही होता है, नित्य नहीं ॥ १९ ॥ सच्चिदानंदरूप आत्मा स्वयं स्वतः नित्यशुद्ध है । उसकी जीवरूपता अज्ञानवश है,

सच्चिदानन्दरूपात्मा नित्यशुद्धः स्वयं स्वतः ।

अज्ञानाज्जीवता तस्य नैव स्वाभाविकी सदा ॥ २० ॥

अतो जीवेश्वरैकत्वज्ञानादेवाऽऽत्मवस्तुनः ॥

विशुद्धिः परमा प्रोक्ता कर्मणा न कथंचन ॥ २१ ॥

अज्ञानेनाऽऽवृतो जीवो व्यवहारे तु कर्मणा ।

वेदोदितेन शुद्धिः स्याज्ज्ञानाच्छुद्धिः पराऽस्य तु ॥ २२ ॥

अनात्मरूपं यद् द्रव्यमशुद्धं तत्स्वभावतः । तथाऽपि व्यवहारे तु विशुद्धिस्तस्य कीर्तिता ॥ २३ ॥

आध्यात्मिकादिभेदेन द्विधाऽनात्मा व्यवस्थितः । देहेन्द्रियाद्यहंबुद्धिग्राह्यमाध्यात्मिकं भवेत् ॥ २४ ॥

कृतकत्वस्यानित्यत्वनियमादित्यर्थः । व्याप्तिं दर्शयति–**कर्मसाध्यमिति** ॥ १९ ॥ **अज्ञानाज्जीवतेति** । सच्चिदानन्दरूपः परमेश्वर एव प्रत्यगात्मा तस्य तादृक्स्वरूपत्वाच्छादकादज्ञानादेव जीवत्वे तदभिमानत एव तस्याशुद्धिः ॥ २० ॥ तन्निवृत्त्युपायमाह– **अतो जीवेश्वरैकत्वज्ञानादिति** । जीवभावेनावस्थितस्य प्रत्यक्चैतन्यस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरशिवात्मत्वज्ञाना-दज्ञानपरिकल्पितजीवत्वलक्षणाया अविशुद्धेःस्वकारणभूताज्ञाननिरासेन निःशेषं निवर्तितत्वात्पुनरुत्पत्त्यभावेन परमा विशुद्धिरात्मनो भवतीत्यर्थः । याज्ञवल्क्येनापि स्मर्यते–'क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' इति ॥ २१ ॥

परत्वस्यापरसापेक्षत्वादीदृशीं शुद्धिं दर्शयति–**अज्ञानेति** । सच्चिदानन्दलक्षणः परमेश्वर एव ह्यज्ञानेनाऽऽवृतो जीवो भवति तस्य व्यवहारदशायां श्रुतिस्मृत्युदितेन कर्मणा या शुद्धिः साऽपरमा । तेन ह्यज्ञानकार्यं पापमेव केवलं निवर्त्यते न तु तन्मूलभूताज्ञानं तेन सह कर्मणो विरोधाभावादेव मूलभूते तस्मिन्सति [1]निवर्त्यसजातीयस्यापुण्यस्य पुनरुत्पत्तेरवश्यंभावात्कर्मजन्या शुद्धिस्तात्कालिकीति तस्या अपरमत्वम् । ज्ञानजन्या शुद्धिस्तु नेदृशीति तस्याः परत्वम् ॥ २२ ॥ **अशुद्धं तत्स्वभावत** इति । अनात्मवस्तुनः सर्वस्य मायापरिकल्पितस्वरूपत्वादविचारितरमणीयत्वेन

स्वाभाविक (अनौपाधिक) नहीं ॥ २० ॥ अतः जीव-ईश्वर की एकता के ज्ञान से ही आत्मवस्तु की परम विशुद्धि होती है । कर्म से किसी भी तरह परम शुद्धता नहीं हो सकती ॥ २१ ॥ जीवात्मा अज्ञान से आवृत है । व्यवहार में तो वेदोक्त कर्म से उसकी शुद्धि होती है किन्तु परम शुद्धि तो ज्ञान से ही होती है ॥ २२ ॥

अनात्मरूप जो वस्तुएँ हैं वे स्वभावतः ही अशुद्ध हैं । फिर भी व्यवहार में उनकी भी शुद्धि बतायी गयी है ॥ २३ ॥ आध्यात्मिक व आधिभौतिक भेद से अनात्मवस्तुएँ दो तरह बँटी हैं । 'मैं'–इस तरह

---

१ घ. "र्त्यजातीयस्य पापस्य पुन" ।

पृथिव्यादीनि भूतानि भौतिकानि तथैव च ॥

शब्दस्पर्शादयः प्रोक्ता आधिभौतिकसंज्ञिताः ॥ २५ ॥

वेदोदिताच्च संस्काराच्छिवभावनयाऽपि च । तथा हिंसादिराहित्याद्देहशुद्धिर्द्विजा भवेत् ॥ २६ ॥

इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि । शिवभावनया चापि विशुद्धिर्द्विजपुंगवाः ॥ २७ ॥

प्राणायामादधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि । शिवभावनया शुद्धिर्भवेत्प्राणस्य सुव्रताः ॥ २८ ॥

निषिद्धचिन्तनाभावाच्छिवभावनयाऽपि च । मनआदेस्तु विप्रेन्द्रा भवेच्छुद्धिर्न संशयः ॥

समाधौ विलयश्चापि विशुद्धिः परिकीर्तिता ॥ २९ ॥

देहादेस्तु विशुद्ध्याऽऽत्मा शुद्धोऽहमिति विभ्रमात् ।

स्वात्मानं मन्यते शुद्धं सा शुद्धिर्व्यावहारिकी ॥ ३० ॥

अशुद्ध्याऽशुद्धवद्भाति शरीरादेस्तु चेतनः ।

व्यवहारे यथा चन्द्रो निश्चलोऽपि चलत्यपि ॥ ३१ ॥

स्वाभाविकमेवाशुद्धत्वमित्यर्थः । **कीर्तितेति** । जीवात्मनोऽपि श्रुतिस्मृत्युदितेन कर्मणा व्यावहारिकी शुद्धिर्मन्वादिभिरभिहितेत्यर्थः ॥ २३-२५ ॥

वेदोदिताच्च संस्कारादिति । गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मादिको देहादेरनात्मनो वेदोदितः संस्कारः ॥ २६ ॥ **इन्द्रियाणामिति** । श्रोत्रत्वगादीनामिन्द्रियाणाम् 'दिग्वाय्वादित्यवरुणपृथिव्याख्यास्तु देवताः' इत्यादिना चतुर्दशोऽधिष्ठातृदेवताः प्रतिपादितास्तन्मयत्वेन तेषां स्मरणं विशुद्धिहेतुः । **अपिशब्दः** पूर्वोक्तसंस्कारसमुच्चयार्थः ॥ २७-२८ ॥ **समाधौ विलय** इति । विजातीयवृत्त्यव्यवहितेन[1] ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहेण ध्येयपरशिवस्वरूपावरणाज्ञानापनयनेन यद् ध्येयमात्रस्य स्फुरणं स समाधिः । तत्र विद्यमाना अपि मनोवृत्तयः स्वगोचरविषयवृत्तेरभावे तद्विषया इवासच्छायाः । तथा च पातञ्जलं सूत्रम्-'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति । एवं समाध्यवस्थायामुक्तलक्षणेन **विलयः** सोऽप्यन्तःकरणस्य शुद्धिहेतुरित्यर्थः ॥ २९ ॥ **विभ्रमादिति** । [2]तीर्थस्नानादिजन्यशुद्ध्यधिकरणदेहेन्द्रियादितादात्म्यविभ्रमात्स्वात्मनि नदीयधर्मसंसर्गाध्यासेन शुद्धोऽहमिति सा व्यावहारिकी न तु पारमार्थिकी ॥ ३० ॥

जिसे विषय किया जाता है वह देह इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक है । इससे अतिरिक्त पृथ्वी आदि भूत, उनके विकार तथा शब्दादि गुण-ये आधिभौतिक हैं ॥ २४-२५ ॥ वेदोक्त संस्कारों से, शिवध्यान से तथा हिंसा आदि की रहितता से देह की शुद्धि होती है ॥ २६ ॥ इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण से व शिवभावना

---

१ ख. "त्त्यन्तररहि" । २ ख. घ. "शुद्धिक" । ङ. च. "शुद्धान्तःक" ।

भूतभौतिकरूपाणां विशुद्धिर्ब्रह्मभावनात् । भवत्येव न संदेहः सत्यमुक्तं मयैव तु ॥ ३२ ॥

ब्रह्मभावनया सर्वं विशुद्धमिति[1] पश्यतः ।

न हेयं विद्यते किंचित्सत्यमेव न संशयः ॥ ३३ ॥

ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानाद्भावनाबलतोऽपि वा ॥ ३४ ॥

विना विशुद्धिर्द्रव्याणां न सिध्यति कदाचन ।

शुद्धिः कृच्छ्रेण सिद्धाऽपि द्विजा वेदार्थपारगाः ॥ ३५ ॥

तर्हि परमार्थतोऽशुद्ध एवाऽऽत्मा ? नेत्याह-**अशुद्ध्येति** । सच्चिदानन्दलक्षणस्य स्वात्मनः स्वतःशुद्धेः प्राक्प्रतिपादितत्वात्तादृशस्याप्यस्य व्यवहारावस्थायामविशुद्धदेहादितादात्म्याभिमानेन तदीययाऽशुद्ध इव भाति । यथा चन्द्रः स्वतो निश्चलोऽपि चञ्चलेषु जलतरङ्गबुद्बुदेषु प्रतिबिम्बितः सन्स्वाश्रयचलनाध्यासेन स्वयमपि चलन्निव भाति तद्वत् ॥ ३१–३३ ॥ **ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानादिति** । अनात्मप्रपञ्चस्य सर्वस्य सन्घटः सन्पटः सत्कुड्यमित्याद्यनुवेधबलेन सन्मात्रस्वरूपपरमात्मनि कल्पितत्वेन वस्तुतस्तत्स्वरूपानतिरिक्तत्वाद्वास्तवमखण्डैकरसमद्वितीयं तत्स्वरूपं साक्षात्कुर्वतो ब्रह्मैव सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किंचिदिति निर्विचिकित्सं ज्ञानं जायते तस्मादित्यर्थः । **भावनाबलत** इति । यस्तु 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुतेरुक्तलक्षणमर्थं जानानोऽप्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां संदिग्धे तस्याऽऽपातज्ञानिनो ब्रह्मभावनयैव सर्वं शुध्यतीत्यर्थः । विनेति । सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वज्ञानं तद्रूपत्वेन भावनं चैतदुभयमन्तरेणेत्यर्थः ॥ ३४–३५ ॥ **अशुद्ध्या चाऽऽवृतमिति** । प्रायश्चित्तेन शुद्धोऽप्यनात्मपदार्थः स्वाभाविकयाऽशुद्ध्याऽऽवृत एव भवति । अग्निधूमयोरिवतयोरविनाभूतत्वादित्यर्थः । भगवताऽप्युक्तम्–'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः' इति । **श्रेयस्कामैरिति** । अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणपुरुषार्थं कामयमानैर्विद्वद्भिः पूर्वोक्तब्रह्मरूपत्वज्ञानेन सद्भावनया चोक्तेन श्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेणानात्मपदार्थस्य तात्कालिकी शुद्धिः कर्तव्या ॥ ३६–६४ ॥

से भी इन्द्रियों की विशुद्धि होती है ॥ २७ ॥ प्राणायाम से (प्राणादि के) अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण से और शिवभावना से प्राणों की शुद्धि होती है ॥ २८ ॥ निषिद्ध चिन्तन न करने से और शिवभावना से भी मन आदि की शुद्धि होती है । समाधि में मन को विलीन करना भी उसकी शुद्धि का हेतु है ॥ २९ ॥ देह आदि की शुद्धि से आत्मा भ्रमवश मानता है 'मैं शुद्ध हो गया' । यह उसकी व्यावहारिक शुद्धि है ॥ ३० ॥ जैसे निश्चल चंद्र भी जल आदि के चलने पर उस उपाधि से अविविक्त देखा जाता हुआ चलता है, वैसे शरीर आदि की अशुद्धि से आत्मा भी ऐसा प्रतीत होता है मानो अशुद्ध हो गया हो ॥ ३१ ॥ भूत-भौतिक वस्तुओं की विशुद्धि ब्रह्मभावना से होती है । ब्रह्मभावना से जो ऐसा देखता है कि सब विशुद्ध ही है, उसके लिये कुछ भी हेय नहीं है, यह बात सत्य है ॥ ३२–३३ ॥ 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसे ज्ञान से और वह न हो तो ऐसी भावना से ही सब वस्तुएँ शुद्ध हो जाती हैं । तादृश ज्ञान या भावना के बिना सब वस्तुएँ शुद्ध नहीं होतीं । कठिनाई से तत्तद् उपाय करने से तत्तद् वस्तु की शुद्धि के अन्य उपाय हैं (किंतु सभी वस्तुओं की शुद्धि का एक उपाय तो उक्त ज्ञान या भावना ही है ।) ॥ ३४–३५ ॥ यद्यपि जडप्रपंच सारा ही अशुद्धि से वैसे ही आवृत है जैसे धुएँ से आग ।

---

१ ग. "मिव प" ।

अशुद्ध्या चाऽऽवृतं सर्वं धूमेनाग्निर्यथाऽऽवृतः ।

तथाऽपि शुद्धिः कर्तव्या व्यवहारेऽखिलस्य तु ॥ ३६ ॥

वेदसिद्धेन मार्गेण श्रेयस्कामैर्मनीषिभिः । चण्डालाद्यैस्तु संस्पृष्टं मृन्मयं पक्वमुत्सृजेत् ॥ ३७ ॥

प्रक्षालयेदपक्वं तु प्रोक्षयेद्वा कुशोदकैः । पक्वं शूद्रेण संस्पृष्टं प्रोक्षणादेव शुध्यति ॥ ३८ ॥

त्याज्यमेवोपयुक्तं स्यात्पुनः पाकेन वा शुचि ।

आकारद्वितयात्मस्थं मृन्मयं तु पुरातनम् ॥ ३९ ॥

अग्निदाहेन संशुध्येन्नूतनं क्षालनेन तु । विष्ठया मृन्मयं स्पृष्टमुपयुक्तं परित्यजेत् ॥ ४० ॥

अपक्वं क्षालयेच्छुद्ध्यै बहुशस्तु कुशोदकैः । उदक्याशुचिसंस्पृष्टं यज्ञपात्रं तु दारवम् ॥ ४१ ॥

(धुआँ होगा तो आग होना आवश्यक है, ऐसे ही जड वस्तु है तो अशुद्धि होना निश्चित है ।) तथापि व्यवहार में सब वस्तुओं की शुद्धि करनी चाहिये । शुद्धि का ढंग वही है जो वेद आदि सच्छास्त्रों में बताया गया है । ॥ ३६१/२ ॥

मिट्टी का पका बर्तन यदि चाण्डाल आदि छू दें तो त्याज्य हो जाता है । यदि मिट्टी का पका बर्तन न हो और चाण्डालादि ने छू दिया हो तो उसे धो लेना चाहिये या कुशोदक से उसका प्रोक्षण कर देना चाहिये । पका बर्तन शूद्र द्वारा छू लिया जाये तो प्रोक्षण से शुद्ध हो जाता है ॥ ३७–३८ ॥ जिसका उपयोग शूद्र ने कर लिया हो वह तो त्याज्य ही है, अथवा पुनः आग में पका लेने से वह शुद्ध हो जाता है । मिट्टी का कच्चा या पक्का पुराना बर्तन हो तो आग में तपाने से तथा नया हो तो धोने से शुद्ध होता है ॥ ३९१/२ ॥ मिट्टी का बर्तन यदि विष्ठा के उपयोग में आ जाये तो उसका परित्याग कर देना चाहिये । यदि कच्चा बर्तन हो और केवल विष्ठा से स्पर्श हुआ हो तो कुशोदक से उसे कई बार धो लेने से वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४०१/२ ॥ रजस्वला या अन्यथा अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुआ गया लकड़ी का यज्ञपात्र यदि उसके द्वारा प्रयोग में नहीं लिया गया है तो कुशोदक से धो लेना चाहिये और प्रयोग में ले लिया गया है तो उसका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४११/२ ॥ देश काल आदि को, द्रव्य

उपयुक्तं त्यजेदन्यत्क्षालयेच्च कुशाम्भसा । विलोक्य देशकालादि द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ॥ ४२ ॥

स्वोपपत्तिमवस्थां च पुनः शौचं समारभेत् ।

अन्नं द्रोणादिकं पक्वमन्त्याद्यस्पृश्यदूषितम् ॥ ४३ ॥

क्षालनेन विघातेन परिशुद्धं हि चाऽऽपदि । द्रोणादूनं त्यजेद्भारादधिकं प्रोक्षयेद् बुधः ॥ ४४ ॥

अनापदि न सर्वत्र क्षालयेद् द्रोणतः परम् ।

कुम्भादूर्ध्वं द्विजा धान्यं पक्वं प्रोक्षणतः शुचि ॥ ४५ ॥

अपक्वं क्षालनेनैव विशुद्धं भवति ध्रुवम् ।

भारादूनः परित्याज्यः पक्वधान्यस्य तण्डुलः ॥ ४६ ॥

भारद्वयादधः क्षाल्यस्तदूर्ध्वं प्रोक्षणाच्छुचिः । अन्नं पक्वं परित्याज्यमुदक्यान्त्यादिदूषितम् ॥ ४७ ॥

भारषट्कौदनं क्षाल्यं प्रोक्षणीयं ततः परम् ।

उदक्यान्त्यादिसंस्पृष्टं वस्त्रं प्रक्षालयेत्तथा ॥ ४८ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्रादिस्पृष्टं च क्षालयेत्तथा । नववस्त्रं च काषायं बहुवस्त्रं तथैव च ॥ ४९ ॥

को, उसके प्रयोजन को, अपने विचार और अवस्था को दृष्टि में रख शौच का निर्णय करना चाहिये ॥ ४२½ ॥ द्रोण या उससे अधिक मात्रा का पका अन्न यदि अन्त्यज आदि अस्पृश्यों ने दूषित कर दिया हो तो आपत्ति की अवस्था में उसे धोने से या कूटने से वह शुद्ध हो जाता है । यदि द्रोण से कम हो तो उसका त्याग कर लेना चाहिये ॥ ४३–४४ ॥ सब स्थितियों में नहीं किंतु जब आपत्ति की अवस्था न हो तो द्रोण से अधिक को धोकर शुद्ध कर लेना चाहिये । पका धान यदि मात्रा में कुंभ से अधिक हो तो प्रोक्षण से शुद्ध हो जाता है ॥ ४५ ॥ यदि पका हुआ न हो तो धोने से ही शुद्ध होता है । पके धान का चावल यदि भार से कम हो तो स्पर्श दोष होने पर छोड़ देने योग्य है ॥ ४६ ॥ दो भार से कम हो तो उसे धोना चाहिये और उससे अधिक हो तो प्रोक्षण से वह शुद्ध होता है । रजस्वला, अन्त्यज आदि के स्पर्श से दूषित पका अन्न त्याज्य होता है ॥ ४७ ॥ छह भार जितना भात हो तो उसे धो लेना चाहिये और उससे अधिक हो तो प्रोक्षण करना चाहिये । रजस्वला, अन्त्यजादि से छूए वस्त्र को धो लेना चाहिये ॥ ४८ ॥ कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट आदि से छुए वस्त्र को भी धो लेना चाहिये । नया कपड़ा, काषायवस्त्र तथा बहुत वस्त्र (या अनेक रंगों वाला वस्त्र) लाल वस्त्र और काला वस्त्र इन्हें भी धोना चाहिये और कम्बल आदि का प्रोक्षण कर लेना चाहिये ॥ ४९½ ॥ चावल, धान, गुड, दूध आदि म

रक्तवस्त्रं तथा कृष्णं प्रोक्षयेत्कम्बलादिकम् ।
तण्डुलेषु तथा धान्ये गुडे गव्ये रसात्मके ॥ ५० ॥
काकादिदूषितांशं तु त्यक्त्वा संप्रोक्षयेद् बुधः । द्रवद्द्रव्यस्य संशुद्धिर्भवेदुत्पवनेन तु ॥ ५१ ॥
दुष्टभाण्डस्थितस्यास्य भवेद्दोषो न चापरः । द्रव्याणामग्निपक्वानां धान्यवच्छुद्धिरीरिता ॥ ५२ ॥
अलभ्यलाभे संशुद्धिः प्रोक्षणेनैव केवलम् । केशलोमनखस्पृष्टं क्रिमिकीटादिदूषितम् ॥ ५३ ॥
अन्नं तु भस्मना शुद्धं प्रोक्षणेन घृतेन च ।
क्रीतं पिष्टमयं सर्वं पुनः पाकेन शुद्ध्यति ॥ ५४ ॥
शूद्रान्त्याशुचिसंस्पृष्टं त्याज्यमेव न संशयः ।
उच्छिष्टो द्रव्यहस्तस्तु भक्ष्यद्रव्यं तु किंचन ॥ ५५ ॥
निधाय शौचं कृत्वाऽथ गृह्णीयात्प्रोक्षितं ततः ।
अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥ ५६ ॥
प्रक्षालनेन त्वल्पानां शुद्धिर्वेदोदिताऽपरा । तैजसानां सुरास्पर्शे वह्निदाहेन शुद्धता ॥ ५७ ॥

कौए आदि से दूषित अंश का परित्याग कर प्रोक्षण कर लेना चाहिये । द्रव (तरल) वस्तु की शुद्धि उत्पवन से होती है । (कुशपवित्र को द्रव में डाल कर उसे थोडा सा उछालना उत्पवन कहलाता है ।) ॥ ५०-५१ ॥ द्रव वस्तु तभी सदोष होती है जब उसे अशुद्ध पात्र में रख दिया जाये । आग में पकी वस्तुओं की शुद्धि धान्य की शुद्धि की तरह समझनी चाहिये ॥ ५२ ॥ जो वस्तु दुर्लभ हो उसकी प्राप्ति होने पर प्रोक्षण से उसकी शुद्धि हो जाती है । केश, रोम, नख से छुआ या क्रिमि कीट आदि से दूषित अन्न भस्म से शुद्ध हो जाता है । प्रोक्षण से व घी से भी यह शुद्ध हो जाता है । पिसा हुआ जो कुछ खरीदते हैं वह पकाने से शुद्ध हो जाता है ॥ ५३–५४ ॥ शूद्र, अन्त्यज या अन्य अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छू लेने पर तो त्याज्य ही हो जाता है । जूठी अवस्था में अर्थात् खाई जाती वस्तु को हाथ में लिये हुए यदि कोई भक्ष्य चीज़ का अपने से स्पर्श करा अपने पास रख ले तो प्रोक्षण से उसका शोधन कर ही उसका ग्रहण करना चाहिये । बहुतेरे धानों और कपड़ों का शोधन प्रोक्षण से ही हो जाता है ॥ ५५–५६ ॥ थोड़ों का शोधन धोने से होता है । तैजस (सोना चाँदी आदि के) पात्रों का सुरा से स्पर्श हो जाये तो आग में तपाने से उनकी शुद्धि होती है यदि वे पात्र ब्राह्मण के हैं । वैश्य या क्षत्रिय के वे पात्र हों तो धोने से शुद्ध होत

ब्राह्मणस्य विशां राज्ञां क्षालनेन विशुद्धता ।
श्वचाण्डालादिसंस्पर्शे तैजसानां तु मार्जनात् ॥ ५८ ॥
प्रोक्षणाच्च विशुद्धिः स्यात्तिन्तिण्या ताम्रशोधनम् ।
भस्मना मृज्जलाभ्यां च मार्जनेन विशुद्धता ॥ ५९ ॥
उदक्या भुक्तकांस्यस्य घर्षणेन जलेन च ।
कल्याणे तीर्थयात्रायां राष्ट्रक्षोभे च संभ्रमे ॥ ६० ॥
देवोत्सवे च दारिद्र्ये स्पृष्टिदोषो न विद्यते ।
शूद्रानुलोमकाकाद्यैः प्रतिलोमैश्च दूषितम् ॥ ६१ ॥
मृज्जलाभ्यां विशुध्येत त्वेकविंशतिमार्जनात् ।
अश्मना निर्मितं पात्रं भस्मना सजलेन तु ॥ ६२ ॥
निर्लेपं शुद्धिमाप्नोति त्वेकविंशतिमार्जनात् ।
अब्जानि शङ्खशुक्त्यादिद्रव्याणि सकलानि तु ॥ ६३ ॥
प्रक्षालनेन शुद्धानि भस्मना मार्जनेन च । बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वं ब्रह्मात्मना बुधाः ।

हैं । कुत्ता, चाण्डाल आदि का स्पर्श होने पर तैजस पात्रों का मार्जन से शोधन होता है ॥ ५७–५८ ॥ प्रोक्षण से भी विशुद्धि हो जाती है । तिन्तिणी (इमली) से ताँबे की शुद्धि होती है । भस्म (राख), मिट्टी, जल और मार्जन से भी विशुद्धता होती है ॥ ५९ ॥ रजस्वला ने जिस काँसे के वर्तन का प्रयोग किया हो उसका शोधन घिसने से और जल से होता है । विवाह, तीर्थयात्रा, राष्ट्रीय आपत्ति एवं देवोत्सवों के मौकों पर तथा भ्रम से और दारिद्र्य की अवस्था में स्पर्श का दोष नहीं होता ॥ ६०१/२ ॥ शूद्र, अनुलोम, कौआ आदि और प्रतिलोम द्वारा दूषित वस्तु मिट्टी और जल से इक्कीस बार माँजने से शुद्ध होती है ॥ ६११/२ ॥ पत्थर से बना वर्तन जल सहित राख से इक्कीस बार माँजने से शुद्ध हो जाता है ॥ ६२१/२ ॥ जल में उत्पन्न शंख, सींप आदि सभी वस्तुएँ राख से माँजने और धोने से शुद्ध होती हैं ॥ ६३१/२ ॥ इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? सभी दोषों की निवृत्ति के लिये 'सब कुछ ब्रह्मरूप है' ऐसा दृढ चिंतन करना चाहिये ॥ ६४ ॥ जिस चीज़ में ब्रह्मभावना हो वह शुद्ध हो जाती है, संग्राह्य

सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं चिन्तयेत्सुदृढं सदा ॥ ६४ ॥

ब्रह्मरूपेण संग्राह्यं सर्वं शुद्धं सदा भवेत् ।

नित्यशुद्धस्य दृष्टिस्तु विशुद्ध्यै भवति ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

नित्यशुद्धं हि तद्ब्रह्म सदा सत्यादिलक्षणम् ।

ततस्तद्दृष्टिसंयुक्तं विशुद्धं सकलं भवेत् ॥ ६६ ॥

अथवा सकलं कार्यं तर्कतश्च प्रमाणतः । कारणात्मतया पश्येत्सर्वदोषनिवृत्तये ॥ ६७ ॥

कारणं सर्वकार्याणां परमात्मैव नेतरत् । प्रवदन्ति हि वेदान्ताः स्मृतयश्चाऽऽदरेण तु ॥ ६८ ॥

अतः समस्तं परमेश्वरात्मना विचिन्तयेत्स्वानुभवेन मानवः ।

विचिन्तनेनैव समस्तमास्तिका विशुद्धतामेति न चात्र संशयः ॥ ६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे द्रव्यशुद्धिविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मरूपेणेति । अनात्मद्रव्यस्य ब्रह्मरूपत्वभावनवेत्यर्थः ॥ ६५-६६ ॥

एवं परमार्थतो ज्ञानवतः पुरुषस्यानात्मवस्तुनि नाम [1]ब्रह्मेत्यादाविव ब्रह्मदृष्ट्या भावनं शुद्धिहेतुरित्युक्तम् । अथ सम्यग्ज्ञानिनः कार्यप्रपञ्चस्य सर्वस्य कारणभूतसच्चिन्मात्रब्रह्मात्मनाऽनुसंधानमेव शुद्धिहेतुरित्याह-**अथवेति** । **तर्कतश्च प्रमाणत** इति । यदिदं कार्यं कारणमात्रादनन्यत्तस्य प्राक्प्रतिपादितत्वाज्जगदाकारविवर्तमानमायाधिष्ठानत्वेन कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सकलकार्यजगदात्मकं न तु ततोऽतिरिक्तं कार्यं नाम किंचिदिति तर्कतः कार्यस्य कारणत्वावगमः । अस्यार्थस्य प्रतिपादकमुक्ततर्कानुग्राह्यं प्रमाणम् 'इदꣳ सर्वं यदयमात्मा' 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' 'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिका श्रुतिः ॥ ६७ ॥ तत्र हि 'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवति' इत्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय, कथमेतद्युज्यत इत्याशङ्क्य, घटशरावादिकार्यस्य विकारित्वान्मृदादिकारणमात्रस्यैव सत्यत्वम्, 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिना निर्धार्य, तद्दृष्टान्तबलेन वियदादिभूतभौतिकात्मकस्य कार्यप्रपञ्चस्य वाचाऽऽरम्भणमात्रत्वात् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति प्रकृतस्य कारणभूतस्य सद्वस्तुन एव सत्यत्वमिति सत्यनिर्धारणात्कार्यं जगद्विकारमात्रं न तु तत्स्वरूपादन्यदिति कार्यस्य कारणमात्रप्रतिपत्तिस्तदाह-**कारणं सर्वकार्याणामिति** ॥ ६८-६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

हो जाती है । निश्चय ही नित्य शुद्ध ब्रह्म की दृष्टि अर्थात् उस दृष्टि से समझना विशुद्धि कर देती है ॥ ६५ ॥ वह ब्रह्म जो हमेशा सत्यादिरूप है सदा शुद्ध है । अतः जिस वस्तु को भी हम ब्रह्म समझते हैं वह शुद्ध हो जाती है ॥ ६६ ॥ अथवा सारे कार्य प्रपंच को प्रमाण और युक्ति पूर्वक कारण ब्रह्मरूप समझना चाहिये । इससे भी दोष-निवृत्ति हो जाती है ॥ ६७ ॥ (पूर्वत्र या बाध था या यथावस्थित में ही शालग्राम में विष्णु की तरह ब्रह्मदृष्टि थी । यहाँ कार्य का कारण से अभेद समझ कर ब्रह्म दृष्टि है यह अंतर है ।) सभी कार्यों का एकमात्र कारण परमात्मा ही है । इस विषय में स्मृतियों व श्रुतियों की एकवाक्यता है ॥ ६८ ॥ अतः मानव को चाहिये कि ऐसा अनुभव करते हुए यह सोचे कि सब कुछ परमात्मरूप है । इसमें कोई संदह नहीं कि यों चिंतन करने से ही सब कुछ पवित्र हो जाता है ॥ ६९ ॥

---

१ ग. ब्रह्मरूपेत्या° ।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि मुनयः [1]संशितव्रताः ।
अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ॥ १ ॥
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः । चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं जायते पारमेश्वरम् ॥ २ ॥
पारमेश्वरविज्ञाने सति संसारहेतवः । ग्रन्थयस्तु विनश्यन्ति न हि संदेहकारणम् ॥ ३ ॥
अभक्ष्यभक्षणाच्चित्तमशुद्धं भवति स्वतः । अशुद्ध्या भ्रान्तिविज्ञानं जायते सुदृढं नृणाम् ॥ ४ ॥
भ्रान्तिविज्ञानतः पुंसो निषिद्धाचरणे रतिः ।
जायते तु तया पापं कुरुते कर्म सर्वदा ॥ ५ ॥

एवमात्मानात्मनोरुक्तोपायेन शुद्धयोरप्यभक्ष्यभक्षणजनितचित्तमालिन्यद्वारा पुनरप्यविशुद्धिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं भक्ष्याभक्ष्यं विवेक्तुमारभते—**अथात** इति ॥ १ ॥ **आहारशुद्धाविति** । कारणभूतस्यान्नस्य विशुद्धौ सत्यां च तत्परिणामरूपस्य कार्यस्यान्तःकरणस्यापि विशुद्धिर्भवतीत्यर्थः । मनसोऽन्नकार्यत्वं श्रूयते 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' इति । **क्रमादिति** । 'कर्मणा शुद्धचित्तस्य संसृतेर्दोषदर्शनम् । पुनर्विरक्तिः संसारान्मोक्षेच्छा जायते ततः' ॥ इति प्रागुक्तादित्यर्थः ॥ २ ॥ **ग्रन्थयस्त्विति** । अग्न्ययःपिण्डयोरिव सत्त्वपरिणामरूपान्तःकरणचैतन्ययोः अज्ञाननिमित्तको यस्तादात्म्यविभ्रमः स एको ग्रन्थिः । अन्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनां धर्मितादात्म्याध्यासनिबन्धनो यश्चिदात्मना संसर्गाध्यासः सोऽपरः । चिद्व्याप्तान्तःकरणेन स्थूलदेहादेर्यत्तादात्म्यं सोऽपरः । एते च परमार्थतो निःसङ्गस्याऽऽत्मनः संसारबन्धहेतुत्वाद् ग्रन्थय उच्यन्ते । ततश्च प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण मूलाज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यभूता ग्रन्थयो ह्युपादाननिवृत्त्या निःशेषं निवर्तन्त इत्यर्थः । तथा च च्छन्दोगैराम्नायते—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भात्सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' इति ॥ ३ ॥ एतदेव विशुद्धाहारस्य क्रमान्मुक्तिसाधनत्वं व्यतिरेकमुखेणोपपादयति—**अभक्ष्येति** । **अशुद्ध्या भ्रान्तिविज्ञानमिति** । अविशुद्धाहारेण मलिनस्यानित्याशुचिदुःखादिलक्षणे संसारे नित्यशुचित्वादिलक्षणं भ्रान्तिज्ञानं जायते । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु शुचिनित्यसुखात्मख्यातिरविद्या' इति हि पातञ्जलाः ॥ ४ ॥

अभक्ष्य से निवृत्ति का कथन नामक पैंतालीसवा अध्याय

सूत जी ने कहा—अब मैं यह बात बताता हूँ कि जो खाने योग्य नहीं उसका वर्जन करने से हृदय शुद्ध होता है ॥ १ ॥ आहार की शुद्धि होने पर चित्त की शुद्धि अपने आप हो जाती है । चित्त शुद्ध होने से संसार में दोषदृष्टि, वैराग्य, मुमुक्षा आदि के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान होता है । (चित्तशुद्धि को नापा ही वैराग्य से जा सकता है ।) ॥ २ ॥ परमेश्वर का ज्ञान होने पर संसार की हेतुभूत ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं इसमें कोई संदेह नहीं । (आत्मा व अनात्मा—मन शरीरादि—का इतरेतराध्यास व इनके धर्मों का इतरेतराध्यास ही ग्रंथियाँ हैं ।) ॥ ३ ॥ अभक्ष्य—न खाने योग्य—के भक्षण से चित्त स्वतः ही अशुद्ध होता है और अशुद्ध चित्त से संसार में मोहरूप भ्रान्तिज्ञान हो जाता है । (यद्यपि अज्ञान से भ्रमज्ञान कहना चाहिये तथापि सुषुप्ति में अज्ञान के रहते ही भ्रमज्ञान न होने से या समाधि में भ्रमज्ञान न होने से अशुद्ध मन को सहायक आवश्यक कारण मानकर ऐसा कहा है ।) ॥ ४ ॥ संसार को सत्यादि समझकर

---

१ ङ.च. छ. ज. शंसितव्रताः ।

तेन संसारवृद्धिः स्यान्न हि मुक्तिः कथंचन । तस्मादभक्ष्यं यत्नेन दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः । न [1]सम्यग्ज्ञानिनस्तस्य स्वरूपं सकलं खलु ॥ ७ ॥
अहमन्नं तथाऽन्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् । ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ॥ ८ ॥
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा । यस्योपसेचनं मृत्युस्तज्ज्ञानी तादृशः खलु ॥ ९ ॥
ब्रह्मस्वरूपं विज्ञातुर्ज्ञानात्तत्तस्य भासते । तथा सति जगद्भोज्यं भवेद्विज्ञानिनः खलु ॥ १० ॥

भ्रान्तिविज्ञानत इति । उदीरितलक्षणान्मिथ्याज्ञानान्निषिद्धविषयगोचरो रागो जायते तस्माच्च पापे प्रवृत्तिस्तत्फलभूतसंसाराभिवृद्धिरित्याहारशुद्ध्यभावे मुक्त्याशङ्काऽपि नास्तीत्यर्थः । एतच्च विभ्रमज्ञानादीनामुत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य कारणत्वं नैयायिकैरपि सूत्रितम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति ॥ ५–६ ॥ **देहिन** इति । स्थूलसूक्ष्मकारणात्मना त्रिविधेनापि देहेन तादात्म्यमभिमन्यमानस्य विवेकज्ञानरहितस्यैव वक्ष्यमाणो भक्ष्याभक्ष्यविवेकः । यस्तु सम्यग्ज्ञानी न तस्याभक्ष्यवर्जनं संभवतीत्याह–**न सम्यगिति** । सम्यग्ज्ञानेन संशयनिरासज्ञानी हि निर्विचिकित्सं स्वात्मनः परं शिवात्मत्वं जानन्भक्ष्याभक्ष्यरूपेण विविधावस्थितमपि सर्वं स्वरूपतयैव जानाति न त्वभक्ष्यं स्वतोऽतिरिक्तं पश्यतीति यद्वर्जने प्रयतेतेत्यर्थः ॥ ७ ॥ एतदेव सर्वात्मत्वमुपपादयति–**अहमन्नमिति** । भोक्तृभोग्यात्मकं हि सकलं जगत्तस्य सर्वस्य स्वस्मिन्नज्ञानपरिकल्पितत्वात्स्वरूपयाथात्म्यावबोधेन सकारणस्य तत्रैव विलये सति भोक्तृभोग्ययोः स्वात्ममात्रतया यदनुसंधानं तत्खलु ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः । तथा चाऽऽम्नायते–'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽ३हमन्नादोऽ३हमन्नादः' इति । एवमभक्ष्यवर्जनस्यासंभवं प्रतिपाद्य प्रत्युत तस्य सर्वं भक्ष्यमेवेत्युपपादयति–**ब्रह्मविदिति** ॥ ८ ॥ उक्तोऽर्थः श्रुतिसंमत इति दर्शयति–**ब्रह्मक्षत्रादिकमिति** । सा च श्रुतिरेवमाम्नाता–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन ब्रह्मक्षत्राद्युपलक्षितं समृत्युकं सर्वं जगत्स्वात्ममात्रतया ग्रसतः सर्वं जगद्भक्ष्यमेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ **ब्रह्मस्वरूपमिति** । सर्वात्मज्ञानवतस्तस्य पुरुषस्य तत्सर्वं जगत्सच्चिदानन्दानुभवबलेन[2] ब्रह्मस्वरूपं भासते । तथा च सति प्रतीयमानस्य जगतः स्वात्मना ग्रस्यमानत्वात्तस्य ज्ञानिनो भोज्यं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

उसनें मोह होने पर व्यक्ति निषिद्ध आचरण कर बैठता है । उससे पाप होता है । किं च मोहवश मनुष्य सदा कर्म करता ही रहता है । इससे संसरण चलता ही रहता है, किसी भी तरह मोक्ष नहीं हो पाता । अतः जो मोक्ष चाहे उसे प्रयत्नपूर्वक अभक्ष्य खाने से बचना चाहिये ॥ ५–६ ॥

भक्ष्य-अभक्ष्य का विभाजन उसी के लिये है जिसे ब्रह्मात्मानुभव नहीं अतः जो स्वयं को देहधारी समझता है । जो तो शिवात्मैक्य का सम्यग्ज्ञानी है उसके लिये कोई विभाजन नहीं । सभी कुछ उसी का स्वरूप है ॥ ७ ॥ 'जो खाया जाता है तथा जो खाता है वह मैं ही हूँ'–यह ब्रह्मवेत्ता का अनुभव है । ज्ञान के फलस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप से सब कुछ निगल जाता है । ॥ ८ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सारा जगत् जिसके लिये भात की तरह है और मृत्यु साग की जगह है, उस परमशिव का जानकार भी वैसा ही होता है ॥ ९ ॥ विज्ञाता का स्वरूप ब्रह्म ही है और ज्ञान से अज्ञान हट चुकने पर ऐसा ही उसका निश्चय है । अतः विज्ञानी के लिये सारा जगत् ही भोज्य है । (प्रपंच की हर वस्तु अत्ता व अन्न है

---

१ ग. °ग्ज्ञानतस्त° । २ घ. °नुवेधव° ।

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा ।
यदा स्वात्मतया भाति भक्षितं सकलं तदा ॥ ११ ॥
तदा भातेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्स्वयम् ।
मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥ १२ ॥
जाग्रत्स्वप्नाभिधे काले प्रतीतं ग्रसतीश्वरः ।
स्वात्मनैव सुषुप्ते तु पुनस्तत्सृजति प्रभुः ॥ १३ ॥

एतदेव विवृणोति–जगदात्मतयेति । सद्रूपे ब्रह्मण्यध्यस्तं नामरूपात्मकं **जगद्यदा** यस्यां प्रतीत्यवस्थायामधिष्ठानसत्तासंसर्गवशाल्लब्धसत्ताकं **भाति तदा** तस्यामवस्थायामारोप्यस्य[1] जगतोऽधिष्ठानसत्त्वव्यतिरेकेण पृथक्सत्त्वानुपपत्तेः सन्मात्रब्रह्मात्मनाऽनुसंधानादभक्ष्यस्य पृथक्सत्त्वाभावेन वर्जयितुमशक्यत्वाच्च तथाविधज्ञानिनः सर्वं **जगद्भोज्यमेव** भवति । **यदा** तु बाधावस्थायामधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यजातस्य विनिवर्तितत्वात्सर्वं जगत्**स्वात्मतया भाति** बाधावधिभूतेन प्रत्यगात्मना स्वरूपभूतेन सद्ब्रह्मात्मनैव केवलं भासते न तु नामरूपात्मनेत्यर्थः । **तदा** सर्वं जगत्सन्मात्रे स्वात्मनि विलापनाद्**भक्षितमेव** भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवमधिष्ठानसत्त्वोपजीवनेनाभोज्यत्वं निराकृत्याधिष्ठानचिन्मात्रपर्यालोचनयाऽपि तन्निराकरोति–**तदेति** । अधिष्ठानस्फुरणरूपेणाऽऽरोप्यं जगदपि यदा प्रतीतिसमये स्फुरणवद्भवति तदा सर्वस्य नामरूपात्मकस्य जगतः पृथक्स्फुरणाभावेनाधिष्ठानचिन्मात्रतयाऽनुसंधानाद्वर्जयितुमशक्यत्वेन ज्ञानिनः सर्वं जगद्भोज्यं भवतीत्यर्थः । अन्यत्पूर्ववद्योज्यम् । **मानत** इति । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिकात्प्रमाणादित्यर्थः ॥ १२ ॥ ननु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्घटपटादिलक्षणः प्रपञ्चः पृथक्सत्त्वेनैवानुभूयते, कथं तस्य स्वात्ममात्रतया भक्षितत्वमित्याशङ्क्याऽऽह–**जाग्रदिति** । जागरस्वप्नावस्थयोः प्रतीयमानं सर्वं जगत्सुषुप्तिसमये जीवरूपेण स्थित ईश्वरः स्वात्ममात्रतया ग्रसति तदा तस्याप्रतिभासमानत्वात्तत्कारणभूतमज्ञानमेव हि केवलं प्रतिभासते । नन्वेवं सुषुप्तिसमये यदि सर्वं जगद्ग्रस्तं, परेद्युः कथं तस्याऽऽविर्भावः ? इति तत्राऽऽह–**पुनरिति** । ग्रस्तसजातीयमन्यदेव जगत्स्वाज्ञानबलात्परस्मिन्दिने पुनरपि सृजति यतोऽयं प्रभुरीश्वरः । अज्ञानादेव तस्य जीवत्वमतस्तस्य सर्जनशक्तिरस्तीति[2] ॥ १३ ॥

अतः ज्ञानी का सब भक्ष्य है । अथवा सबका बाध करने से मानो वह सबको निगल जाता है, यह अर्थ है ।) ॥ १० ॥ ज्ञानी को जब तक नामरूप आत्मक जगत् आत्मसत्ता से सत्तान्वित उसी तरह प्रतीत होता है जैसे स्फटिक की वास्तविकता के जानकार को लाल स्फटिक, तब तक सभी कुछ उसका भोज्य है । जब नामरूप की प्रतीति नहीं रहती, आत्ममात्र रहता है तब समझ लेना चाहिये कि वह सब कुछ खा चुका है । (जीवन्मुक्त की प्रथम व विदेहमुक्त की द्वितीय स्थिति है ।) ॥ ११ ॥ प्रथम स्थिति में प्रतीयमानरूप से सारा जगत् स्वयं भोज्य हो जाता है । और श्रुतिप्रमाण से वही स्व-रूप से प्रतीत होने पर (अर्थात् वह प्रतीत न हो आत्ममात्र प्रतीत होने पर) उसे खा लिया गया समझा जाता है ॥ १३ ॥ जाग्रत् और स्वप्न के समय प्रतीत होने वाले सारे संसार को सुषुप्ति के समय जीवरूप से स्थित ईश्वर अपने में विलीन कर लेता है और पुनः जाग्रद् आदि के समय उत्पन्न कर देता है । जैसे स्वप्न-प्रपंच में स्थित सब वस्तुएँ

१ ङ. ˚रोपितस्य । २ 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रमि'ति श्रुतिरिहानुसन्धेया ।

यथा स्वप्नप्रपञ्चस्थं समस्तं वस्तुतः स्वयम् ।
तथा जाग्रत्प्रपञ्चस्थं वस्तुतः स्वयमेव हि ॥ १४ ॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥ १५ ॥
अस्तितालक्षणा सत्ता सदा ब्रह्म न चापरा ।
नास्ति सत्ताऽतिरेकेण किंचिदप्यास्तिकोत्तमाः ॥ १६ ॥
सत्तातिरिक्तं चेदस्ति शून्यवच्छून्यमेव तत् ।
भवेन्नैवात्र संदेहो नास्ति माया च वस्तुतः ॥ १७ ॥
अविचारितरूपा हि माया सर्वविमोहिनी ।
सा शिवज्ञानहीनानामेव भाति न योगिनः ॥ १८ ॥

अस्त्वेवं स्वप्नप्रपञ्चस्य, जाग्रत्प्रपञ्चस्य तु नैवं संभवतीत्याशङ्क्य स्वप्नदृष्टान्तेनैव तस्यापि स्वात्ममात्रत्वं प्रतिपादयति– **यथा स्वप्नेति** । यथा स्वप्नप्रपञ्चस्योत्तरक्षणे बाधदर्शनान्मिथ्यात्वेन स्वात्ममात्रत्वमेवमद्वितीयब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेनाविद्यातत्कार्यजाग्रत्प्रपञ्चस्यापि बाधितत्वात्परमार्थतः स्वात्ममात्रान्न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥ **स्वस्वरूपमिति** । यस्मादुक्तरीत्या सर्वं जगज्ज्ञानिनः स्वात्मभूतमेव तस्माद्विषयाकारेण परिकल्पितं स्वात्मानमेव स्वयं भुङ्क्ते न तु स्वस्मात्पृथग्भूतं भोज्यं नाम किंचिदस्ति यद्भक्ष्याभक्ष्यतया विविच्य विधीयेतेत्यर्थः । ननु भोक्तुरात्मनः सकाशात्पृग्भूतमेव परिकल्पितमिति शब्दस्पर्शादि भोज्यमस्त्येवेत्याशङ्क्य निरस्यति–**अस्तिचेदिति** । यद्यस्ति भोज्यं तदप्यस्तित्वानुवेधाद् घटपटादिवदस्तित्वरूपं ब्रह्मैव तत्खल्वस्तित्वलक्षणम् । 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादिश्रुतेः । अतोऽधिष्ठानास्तित्वमेवाऽऽरोपितभोज्येऽवभासत इति न पृथगस्तित्वं तस्येत्यर्थः ॥ १५ ॥ ननु जायतेऽस्ति विपरिणमत इति परिपठितस्य द्वितीयभावविकारस्यास्तित्वस्य कथं निर्विकारब्रह्मरूपतेत्याशङ्क्याऽऽह–**अस्तितेति** । नात्र भावविकारो विवक्षितोऽपि तु तद्धेतुभूता सत्ता । सा च सन्मात्रं ब्रह्मैव न तु तद्व्यतिरिक्ता पराभिमता जातिरित्याह–**नास्तीति** ॥ १६ ॥ सत्ताया जातित्वे तद्व्यञ्जकतयाऽन्यत्किंचिदवश्यमेष्टव्यम्[1] । तच्च न संभवति, सत्तातिरिक्तस्य व्यञ्जकस्य तस्य सत्ताभिव्यक्तेः पूर्वमाद्यक्षणवर्तित्वनियमात्तदा सत्तासंसर्गाभावात्स्वतःसत्ताभावाच्च शशविषाणवच्छून्यमेव तद्भवेत् । अतो व्यञ्जकानिरूपणात्सन्मात्रं ब्रह्मैव स्वस्मिन्परिकल्पितनानाव्यक्त्यनुगमवशात्सत्तेत्युच्यते न तु पराभिमता जातिरित्यर्थः । एतच्च पञ्चदशेऽध्याये–'सत्ता या भासते सैका' इत्यादिना प्राक्प्रपञ्चितम् । **नास्ति मायेति** । जडप्रपञ्चकारणभूता सद्ब्रह्मातिरिक्ता माया परमार्थतो नास्ति । अवस्तुभूतेन कार्यप्रपञ्चेन स्वानुरूपस्यैव कारणस्य कल्पनात्तदाह–**अविचारितेति** । सत्त्वासत्त्वादिविचारासहरूपा सर्वजनसंमोहनशक्तिर्हि माया तथाविधाया एवैन्द्रजालिकादौ दर्शनादित्यर्थः ॥ १७–१८ ॥

भी आत्ममात्र ही हैं । (सौषुप्त वेला में सब को स्वयं में लीन कर लेता है का सरलार्थ यह समझना चाहिये कि स्वयं बना रहता है और बाकी सब नहीं रह जाते । अन्यों को प्रतीत होने पर भी उसे प्रतीत न होने से और अप्रतीयमान का सद्भाव दुःसाध्य होने से बाकी सब नहीं है यह ठीक है । एकजीववाद

---

१ किंचिदित्याकारः, संस्थानमुच्यते । न चैवं घटत्वहीनस्य घटस्यापि सिद्धिरिति शंकनीयम्, घटत्वादेरप्यजातित्वस्य ममेष्टत्वात् ।

योगिनामात्मनिष्ठानां माया साक्षिणि कल्पिता ।
साक्षिरूपतया भाति शिवज्ञानेन बाधिता ॥ १९ ॥
बाधिताऽपि पुनर्माया भाति दिङ्मोहभानुवत्[1] । प्रारब्धकर्मपर्यन्तं ब्रह्मविज्ञानिनामपि ॥ २० ॥
ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥ २१ ॥
तस्मादभक्ष्यं नैवास्ति विदुषः परयोगिणः । आत्मविज्ञानहीनानां खल्वेवाभक्ष्यमास्तिकाः ॥ २२ ॥
द्विजानामात्मविज्ञानविहीनानामियं बुधाः । व्यवस्था शंकरेणैव निर्मिताऽभक्ष्यगामिनी ॥ २३ ॥
लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं ग्रामकुक्कुटम् । छत्राकं विड्वराहं च मतिमान्नैव भक्षयेत् ॥ २४ ॥

शिवज्ञानेन बाधितेति । यस्मादवस्तुभूततयैव साक्षिणि माया परिकल्पिता तस्मात्तस्य साक्षिणः परशिवात्मसाक्षात्कारेण बाधिता भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु ज्ञानिनः परतत्त्वसाक्षात्कारेण मायाया निवर्तितत्वात्पुनः सा भातीति न युक्ता । न तु रज्जुयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तितसर्पस्य पुनस्तत्प्रतीतिः[2] संभवतीत्यत आह—**बाधिताऽपीति** । ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारेण हि प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तं कर्मजातं[3] निवर्त्यते, प्रारब्धफलं तु कर्म भोगेनैव क्षपयितव्यम् । अतस्तावत्पर्यन्तं ज्ञानिनोऽपि संसारप्रतिभासावश्यंभावात्तदुपादानभूता माया तत्त्वसाक्षात्कारेण बाधिताऽपि पुनस्तस्य भाति पर्वतान्तादिदेशविशेषेषूपसंजातदिग्भ्रमस्य पुरुषस्य सूर्योदयादिकारणेन निर्णीतप्राच्यादिदिक्तत्त्वस्यापि पुनर्यथा दिङ्मोहानुवृत्तिस्तद्वत् ॥ २० ॥ **पश्यन्नपीति** । घटपटाद्यात्मकं सर्वं जगच्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्जानन्नपि सच्चिदानन्दरूपाधिष्ठानब्रह्मात्मनैव पश्यति । नतु तत्स्वरूपात्पृथग्भूतं पश्यति । आरोप्यस्य स्वाधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः ॥ २१–५१ ॥

के ढंग से यह प्रसंग अधिक स्पष्ट होता है यह जानना चाहिये ।) ॥ १३–१४ ॥ विद्वान् अपने स्वरूप का स्वयं ही भोग करता है क्योंकि उससे पृथक् कोई भोज्य है नहीं । जो कुछ प्रतीयमान भोज्यजात है भी वह भी नियमतः सदभेदेन उपलभ्यमान होने से सद्रूप ब्रह्म ही है । अस्तिता–होना, हैपना–ही सत्ता है और वह ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं । सत्ता से अन्वित ही सब उपलब्ध होने से उससे अतिरिक्त कुछ वस्तुतः है ही नहीं ॥ १५–१६ ॥ सत्ता से अतिरिक्त कुछ हो तो वह शून्य की तरह होने से शून्य ही होगा अर्थात् नहीं ही होगा (जो है वह सब तो सद्रूप है, जो है ही नहीं उसका विचार क्या किया जाये ? होने व न होने से अतिरिक्त अनिर्वाच्य ही संभव है । उससे भी भिन्न की दृष्टान्तादि के अभाव में कोई संकल्पना नहीं बन सकती । शिव तो सद्रूप हैं ।) सद्रूप ब्रह्म से भेदेन प्रतीत होने वाली माया है जो वास्तविक नहीं । सब को मुग्ध करने वाली उस माया का रूप ही है विचारसिद्ध न होना । शिवयाथार्थ्य न जानने वालों को ही उसका भान होता है, शिवयोगियों को नहीं ॥ १७–१८ ॥ योगियों अर्थात् आत्मनिष्ठों को शिवज्ञान से बाधित तथा साक्षी में कल्पित माया साक्षीरूप से ही प्रतीत होती है (अर्थात् साक्षी ही वास्तविक है यह बोध बना रहते हुए कल्पित–बाधित–रूप से माया भी दीख जाती है जैसे देवदत्तादि नामक नट ही है ऐसा निश्चय रहते ही वह नल, सत्यवान् आदि रूप से प्रेक्षकों को दीखता रहता है ।) ॥ १९ ॥ जैसे जिसे दिशाओं का सही ज्ञान हो चुका है उसे भी कदाचित् पूर्ववासनावश लगता है–अब सूर्य उत्तर में है इत्यादि । (अथवा, जिसे निश्चित मालूम है कि सूर्य में ऊँचा-नीचापन नहीं, पृथ्वी की ही ये स्थितियाँ हैं, उसे भी प्रतीति होती है–अब सूर्य ऊँचा चढ़ गया, अब नीचे डूब रहा है, इत्यादि ।) ऐसे ही प्रारब्ध कर्म के रहते ब्रह्म का अनुभव कर चुके महात्माओं को भी मायाविलास प्रतीत हो जाता है ॥ २० ॥ ब्रह्मज्ञानी सारे जगत् को देखते हुए भी उसे अपने से पृथक् नहीं देखता–मैं ही इस सब रूप से भास रहा हूँ ऐसा ही समझता है ॥ २१ ॥ अतः परमयोगी विद्वान् के लिये कुछ अभक्ष्य नहीं है । जिन्हें आत्मज्ञान नहीं, उन्हीं के लिये भक्ष्याभक्ष्य विवेक है ॥ २२ ॥

आत्मज्ञानरहित ब्राह्मणों के लिये यह अभक्ष्यविषयक व्यवस्था भगवान् शंकर ने ही बनायी है ॥ २३ ॥ बुद्धिमान् को चाहिये कि लहसन, गृंजन (लाल लहसन, गाँजा या विषाक्त बाण से मारा पशु), प्याज,

---

१ कार्यात्मनैव भाति न त्वावरणरूपकारणात्मनेति विशेषः । प्रारब्धभोगदशायामपि नात्मयाथात्म्यावरणं कदाचिज्जायते विदुषः । अस्मान्प्रति सूर्य उत्तरदिशीत्यादिरीत्या दिङ्मोहेन भानोर्भानमुन्नेयम् । दिङ्मोहभानवदिति चेत्पाठः, सरलोऽर्थः । २ ख. "तीतिप्रथनं सं" । ३ घ. ङ. च. कर्मकाण्डं ।

पलाण्डुसदृशं सर्वं गन्धवर्णरसादिभिः । कामतोऽकामतश्चैव ब्राह्मणो नैव भक्षयेत्[१] ॥ २५ ॥

व्रश्चनप्रभवं सर्वं हिङ्गुद्रव्यं विनैव तु । भूस्तृणं शिग्रुकं चैव ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ २६ ॥

खट्वासंज्ञं च वार्ताकं तथैवोखरजं तृणम् ।
लवणं भूमिजं विप्रो मोहेनापि न भक्षयेत् ॥ २७ ॥

नखविष्किरसंज्ञं च तथा कोयष्टिसंज्ञितम् ।
[२]सौलं वल्लूरसंज्ञं च मत्स्यादो नैव भक्षयेत् ॥ २८ ॥

बकं चैव बलाकं च खञ्जरीटकसंज्ञितम् ।
कोकिलं च द्विजश्रेष्ठाः प्रमादाच्च न भक्षयेत् ॥ २९ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवान्सिंहतुण्डांश्च शशकान्नैव भक्षयेत् ॥ ३० ॥

केवलानि च शुष्काणि तथा पर्युषितानि च ।
ऋजीषपक्वं विप्रेन्द्राः कदाचिन्नैव भक्षयेत् ॥ ३१ ॥

विण्मूत्रं च सुरास्पृष्टं सर्वं द्रव्यं तथैव च ।
सुरास्पृष्टस्य च स्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

रेतो देहमलं चैव श्वकाकोच्छिष्टमेव च ।
विड्वराहखरोष्ट्राणां मूत्रं विप्रो न भक्षयेत् ॥ ३३ ॥

विडालकाकाद्युच्छिष्टं नकुलोच्छिष्टमेव च । वेदबाह्येन संस्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३४ ॥

मुर्गा-मुर्गी, कुकुरमुत्ता (खुम्भी) और सुअर न खावे ॥ २४ ॥ हींग से अतिरिक्त वे वस्तुएँ जो पेड़ों में छिद्रादि कर निकाली जाती हैं, भूस्तृण तथा शिग्रुक (दोनों क्रमशः वालव देश में और वाहीकों में प्रसिद्ध शाक हैं) ब्राह्मण को नहीं खाने चाहिये ॥ २६ ॥ खट्वा नामक बैंगन, ऊपर भूमि में उत्पन्न घास और ज़मीन से निकले नमक को भ्रम से भी ब्राह्मण न खाये ॥ २७ ॥ अपने पंजों से फाड़ने वाले शिकारी पक्षी को, टिटहरी को, सौल को, जंगली सुअर को तथा मछली खाने वाले प्राणियों को नहीं खाना चाहिये ॥ २८ ॥ बक, बलाक (दोनों बगुले की जातियाँ हैं), खंजन पक्षी, सुअर तथा कोयल को प्रमाद से भी नहीं खाना चाहिये ॥ २९ ॥ पाठीन और रोहित मछलियाँ देवताओं व पितरों को समर्पणीय हैं । सारस, सिंहतुण्ड मछली और खरगोश को नहीं खाना चाहिये ॥ ३० ॥ कच्चे, सूखे, बासी तथा कड़ाही में पके (मांस) को नहीं खाना चाहिये ॥३१ ॥ विष्ठाको, मूत्रको, सुरा से स्पृष्ट किसी चीज़ को व उस चीज़ से स्पृष्ट किसी चीज को ब्राह्मण न खाये ॥ ३२ ॥ रेतस् को, देह के मैलको, कुत्ते व कौए के

---

१ घ. "त् ॥ २॰ ॥ छेदनोत्पन्ननिर्यासं हि" । २ तुलय–सौनं वल्लूरमेव चेति याज्ञवल्क्यस्मृतिः (आचार-१७४) । सौनं सूनारूढदुर्ष्टामिति वालक्रीडायां तत्र ।

शकुनीसंज्ञितान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः । अनिर्दिष्टांश्चैकशफान्क्रव्यादांश्च न भक्षयेत् ॥ ३५ ॥

कलविङ्कसमाख्यं च टिट्टिभं प्लवमेव च । हंसं चक्रसमाख्यं च सारसं नैव भक्षयेत् ॥ ३६ ॥

रज्जुवालं च दात्यूहं शुकं सारिकसंज्ञितम् । प्रतुदाञ्जालपादांश्च ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३७ ॥

तुरङ्गस्य गजस्यापि मण्डूकस्य तथैव च । पुरीषं च तथा मूत्रं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३८ ॥

नराणां च गजानां च मांसमश्वस्य सत्तमाः । महिषस्य च मांसं च ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३९ ॥

अजाविमांसं रक्तं च गोमांसं च तथैव च । मृगाणां च तथा मांसं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४० ॥

मांसं पञ्चनखानां च विनैव सकलानि तु । कामतोऽकामतो वाऽपि ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४१ ॥

मत्स्यं कृत्स्नं दृतिस्पृष्टमाज्यं कीलालमेव च । रसं तालफलस्यापि ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४२ ॥

ओदनं तु पुनःपक्वं नारिकेलरसं तथा । पक्वं तोयमभूमिस्थं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४३ ॥

अनिर्दशाहगोक्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ४४ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । स्त्रीक्षीरं च प्रमादाद्वाऽपि ब्राह्मणो न पिबेत्सदा ॥ ४५ ॥

गोगजाश्वादिभिर्घ्रातं पादस्पृष्टं च कामतः । अनुलोमादिभिः स्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४६ ॥

उक्तान्येतानि सर्वाणि ब्राह्मणानां विशेषतः । अभक्ष्याणि मयोक्तानि भक्षकाश्च पतन्त्यधः ॥ ४७ ॥

जूठे को, गधे और ऊँट के मूत्र को कभी न खाये ॥ ३३ ॥ बिलार, कऊआ आदि के जूठे को, नेवले के जूठे को, तथा वैदिक मर्यादा से वहिर्भूत (म्लेच्छादि) व्यक्ति के छुए को ब्राह्मण न खाये ॥ ३४ ॥ शकुनी नाम वाले सब खेचरों को, गाँव में रहने वाले पशु-पक्षियों को जिन्हें यहाँ नहीं भी गिनाया है, एक शफ पशुओं को और मांस खाने वाले पशुओं को नहीं खाना चाहिये ॥ ३५ ॥ गौरय्या कहाने वाला टिट्टिभ (टिटिहिरी), प्लव (काण्डव, एक प्रकार की बत्तख), हंस, चकवा और सारस खाने योग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥ रज्जुवाल (एक तरह का जंगली मुर्गा), जल-कौवा, सुग्गा, सारिका, प्रतुद (बाज आदि जाति वाले पक्षी) और कलहंस– इन्हे भी ब्राह्मण न खाये ॥ ३७ ॥ घोड़े, हाथी और मण्डूक का मल-मूत्र ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिये ॥ ३८ ॥ मनुष्य, हाथी, घोड़े और भैंस का मांस ब्राह्मण के लिय अभक्ष्य है ॥ ३९ ॥ बकरी, भेड़, गाय और मृग का मांस व रक्त ब्राह्मण को नहीं खाना उचित है ॥ ४० ॥ पंचनखों से अतिरिक्त किसी का मांस चाहकर या बिन चाहे ब्राह्मण न खाये । (श्वाविध अर्थात् साही, शल्यक अर्थात् साही की ही तरह का स्थूल लोम वाला एक और प्राणी, गोधा अर्थात् घड़ियाल, गैंडा, कछुआ और खरगोश–ये छः जानवर ही पंचनखों में भी भक्ष्य हैं ऐसी मनूक्ति है (५.१८) श्वाविध व शल्यक एक मानकर इन्हें पाँच भी कहा जाता है । याज्ञवल्क्यस्मृति में (आचार.१७६) सेधा, गोधा (घड़ियाल), कच्छप (कछुआ), शल्यक (साही) और खरगोश–ये गिनाये गये हैं । किन्तु स्मृतिकारों का तात्पर्य मांस न खाने में ही है । मनुस्मृति में ही पहले (५.१५) तथा बाद में (५.४८ आदि) मांसभक्षण की निंदा की है । ऐसे ही याज्ञवल्क्य महर्षि

तस्मादभक्ष्यं संत्यज्य ब्राह्मणो मतिमत्तमः ।
चित्तस्य परिशुद्ध्यर्थं भक्ष्यमेव तु भक्षयेत् ॥ ४८ ॥
क्षत्रियाणां च वैश्यानां भक्ष्यमेष्वपि विद्यते । तथाऽपि भक्षणाभावस्तेषामत्यन्तशोभनः ॥ ४९ ॥
शूद्रादीनां च सर्वेषामभक्ष्यं नैव विद्यते । तथाऽप्यभक्षणं तेषां फलाय महते भवेत् ॥ ५० ॥
भक्ष्यस्य भक्षणादेव विशुद्धहृदयः पुमान् । पारमेश्वरविज्ञानान्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५१ ॥
परमेश्वरविज्ञानं वेदादेव न चान्यतः । आगमान्तरजन्यं तु ज्ञानं न ज्ञानमास्तिकाः ॥ ५२ ॥

परमेश्वरविज्ञानमिति । प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपत्वगोचरं विशिष्टं ज्ञानं साक्षात्कारात्मकं वेदान्तवाक्यादेव नान्यस्मादित्यर्थः । **आगमान्तरेति** । वेदविरुद्धागमवाक्याद्यत्पारमेश्वरं ज्ञानं तद्विकल्पज्ञानमेव स्वतःप्रमाणेन वेदवाक्येन बाधितविषयत्वादित्यर्थः ॥ ५२ ॥ **अष्टादशानामिति** । 'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥' इति चतुर्दशविद्याः । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं नीतिशास्त्रं चेति चतस्रः । तासामष्टादशानां मध्ये वेदव्यतिरिक्ता या विद्यास्ताः सर्वा वेदप्रतिपादितार्थानुसारेण प्रवृत्ताः प्रमाणत्वेन ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ **तास्विति** । वेदव्यतिरिक्तास्वित्यर्थः ॥ ५४–५९ ॥

ने मांसवर्जन की प्रशंसा की है (आचार.१८०) । उन्होंने जो मांस की अनुमति दी है वह इस दृष्टि से कि यदि खाना ही हो तो इनसे अतिरिक्त मांसों को तो नहीं ही खाना चाहिये, कर्माद्यंगभूत भक्षण तो सर्वथा निर्दुष्ट है । पुराण का भी यही अभिप्राय है कि मांस न खाये किंतु यदि स्वाद के लोभ से अपने को रोक न सके तो उक्त मांसों का तो परित्याग करे ही ।) ॥ ४१ ॥ सभी मछलियाँ, चर्म से छुआ घी, खून और ताड़फल का रस—इन्हें ब्राह्मण न खाये ॥ ४२ ॥ दुबारा पकाया चावल, दुबारा पकाया नारियल का रस और पृथ्वी पर न पड़ा पानी (अर्थात् बरसता हुआ पानी)—इनका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ४३ ॥ गाय के बछड़ा होने पर प्रथम दस दिन उसका दूध नहीं पीना चाहिये । ऊटनी (सांडनी) का, एक शफ वालों का, भेड़ का, गर्माई गाय का और बिना बछड़े की गाय का दूध नहीं पीना चाहिये ॥ ४४ ॥ भैंस को छोड़ किसी जंगली पशु का दूध नहीं पीना चाहिये । ब्राह्मण को भ्रम से भी किसी स्त्री का दूध नहीं पीना चाहिये । (यहाँ स्त्रीपद औचित्य से माता आदि से भिन्न के विषय में है ।) ॥ ४५॥ गाय, हाथी, घोड़ आदि द्वारा सूंघा, जानबूझकर पैर से छुआ हुआ, तथा अनुलोमादि द्वारा छुआ भोजन ब्राह्मण को नहीं करना चाहिये ॥ ४६ ॥ ये जितने अभक्ष्य मेरे द्वारा बताये गये हैं वे विशेषतः ब्राक्षणों के लिये है । इन्हें खाने वाले नरकगामी होते हैं ॥ ४७ ॥ अतः बुद्धिमान् ब्राह्मण को अभक्ष्य छोड़कर शास्त्र-अभ्यनुज्ञात का ही भक्षण चित्त की शुद्धि के लिये करना चाहिये ॥ ४८ ॥ पूर्वोक्त अभक्ष्यों में कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो क्षत्रिय व वैश्य खा सकते हैं, किन्तु अच्छा यही है कि वे भी इन निषिद्ध वस्तुओं को न हीं खायें ॥ ४९ ॥ शूद्रादि सभी के लिये यद्यपि कुछ अभक्ष्य नहीं, तथापि यदि वे उक्त अभक्ष्यों का परित्याग करें तो उन्हें महान् फल मिलता है ॥ ५० ॥ खाने योग्य वस्तुओं को ही खाने से शुद्ध हृदय वाला हुआ व्यक्ति परमेश्वर ज्ञान द्वारा भवबंधन से मुक्त

अष्टादशानां विद्यानां वेदादन्याश्च सत्तमाः । विद्यावेदानुसारेण प्रवृत्ताः सर्वशोभनाः ॥ ५३ ॥

तथाऽपि तासु सर्वासु कश्चिदंशः क्वचित्क्वचित् । शिवागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः ॥ ५४ ॥

विष्ण्वागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः । ब्रह्मागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः ॥ ५५ ॥

अधिकारिविशेषेण क्रमेणैव विमुक्तये । प्रवर्तन्ते मुनश्रेष्ठाः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ५६ ॥

तत्तत्तन्त्रेषु ये मर्त्या दीक्षिता मुनिसत्तमाः ।

सोंऽशस्तैरेव संग्राह्यः सर्वथा नैव वैदिकैः ॥ ५७ ॥

मदुक्ता संहिता साध्वी वेदमानानुसारिणी । वेदेतरागमाधीनः कश्चिदंशो न विद्यते ॥ ५८ ॥

प्रसादादेव रुद्रस्य संहितेयं मयोदिता । प्रसादः शांकरः सम्यग्ज्ञानस्य खलु साधनम् ॥ ५९ ॥

अतो वेदानुसारेण द्विजानामात्मशुद्धये । अभक्ष्यमादरेणोक्तं मया वेदार्थवित्तमाः ॥ ६० ॥

सर्वमुक्तं समासेन केवलं करुणाबलात् । श्रद्दधानस्त्वभक्ष्याणि भ्रमाद्वाऽपि न भक्षयेत् ॥ ६१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽभक्ष्यनिवृत्तिकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायामभक्ष्यनिवृत्तिकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

होता है ॥ ५१ ॥ परमेश्वर का ज्ञान वेद से ही होता है । अन्य आगमों के हुआ ज्ञान वस्तुतः ज्ञान नहीं है ॥ ५२ ॥ अठारह विद्याओं में वेद से अतिरिक्त जितनी विद्यायें हैं वे सब वेद के अनुसार हैं, उससे विरुद्ध नहीं । (चार वेद, छह वेदांग, चार उपवेद, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र– ये अठारह विद्यायें हैं ।) ॥ ५३ ॥ फिर भी वेदेतरविद्याओं में कहीं-कहीं कोई अंश शैवागम के या उनके किसी प्रभेद के अनुसार अथवा वैष्णवागम या उनके किसी प्रभेद के अनुसार, ब्राह्मागम या उनके किसी भेद के अनुसार भी आ जाता है ॥ ५४–५५ ॥ सब आगम तथा वेदभिन्न विद्यायें अधिकारियों के वैचित्र्य से उपयुक्त हैं और क्रमशः मोक्ष के लिये उपोयगी हैं ॥ ५६ ॥ जो व्यक्ति किसी आगम संप्रदाय में दीक्षित हो वही वेदेतर विद्याओं में आये आगमानुसारी अंश का ग्रहण करे, वैदिक व्यक्ति को उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ५७ ॥ मैंने जो (प्रकृत) संहिता सुनाई है यह बहुत शुद्ध है क्योंकि प्रमाणभूत वेद का पूर्णतः अनुसरण करती है । वेदभिन्न किसी आगम के अनुसार इसमें कुछ वर्णित नहीं किया गया है ॥ ५८ ॥ रुद्र की कृपा से ही यह संहिता मैं सुना पाया हूँ । शिवकृपा ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है ॥ ५९ ॥ अतः द्विजों की चित्तशुद्धि के लिये मैंने वेदानुारी अभक्ष्यनिर्णय बता दिया है ॥ ६० ॥ भक्ष्याभक्ष्य विषयक सभी ज्ञेय विषय मैंने करुणा कर बता दिया है । इस पर श्रद्धा कर भ्रम से भी अभक्ष्य का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ६१ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
येन ज्ञानविशेषेण मृत्युं पश्यन्ति देहिनः ॥ १ ॥
सोमच्छायां ध्रुवं चैव महापथमरुन्धतीम् ।
अपश्यन्वत्सरादूर्ध्वं न जीवति न संशयः ॥ २ ॥
अरश्मिमन्तमादित्यं रश्मिमन्तं च पावकम् ।
पश्यन्नेकादशान्मासादूर्ध्वं मर्त्यो न जीवति ॥ ३ ॥
रजतं वा सुवर्णं वा विण्मूत्रं वा वमेन्नरः ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने दश मासान्न जीवति ॥ ४ ॥
भूतप्रेतपिशाचांश्च गन्धर्वनगराणि च ।
रुक्मवर्णान्द्रुमान्पश्यन्नव मासान्न जीवति ॥ ५ ॥

आसन्नमरणः पुरुषो वाराणस्यादिस्थानविशेषमाश्रित्य संसारनिवृत्त्युपायं शीघ्रमनुतिष्ठेदित्यभिप्रेत्य मरणसूचकान्यरिष्टानि वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥ **सोमच्छायामिति** । शुद्धद्वितीयादितिथिषु कतिपयकलात्मकस्य तेजसोऽशो दृश्यते सा सोमच्छाया । **महापथमिति** । प्रवाहरूपेणावस्थितो नक्षत्रश्रेणिस्तारापथपर्यायो महापथः ॥ २ ॥ **अरश्मिमन्तमादित्यमिति** । उष्णकिरणरहितं[1] चन्द्रमण्डलवदवस्थितं सूर्यमण्डलमित्यर्थः । ऐतरेयारण्यकेऽपि—'चन्द्रमा इवाऽऽदित्यो दृश्यते न रश्मयः प्रादुर्भवन्ति' इत्यादिना । प्रत्यक्षं स्वप्ने चैवमादीनि बहून्यरिष्टानि तानि सर्वाण्यत्र मूलप्रमाणत्वेनानुसंधेयानि ॥ ३–६६ ॥

मृत्युसूचकों का विवरण नामक छियालीसवाँ अध्याय

(पता चल जाये कि मौत आने ही वाली है तो व्यक्ति काशी आदि मुक्तिक्षेत्रों में पहुँचकर यथानियम वास आदि कर सकता है, इस अभिप्राय से) सूत जी बोले—अब मैं बिना अधिक विस्तार किये वे विशेष ज्ञान बताऊँगा जिनसे लोगों को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है ॥ १ ॥ सोम-छाया, ध्रुव, महापथ या अरुन्धती

---

१ ख. ग. "रणाद्रहि" ।

स्थूलो वाऽपि कृशोऽकस्माद्भवेन्मर्त्यः स्वयं यदि । कृष्णवर्णोऽथवा मासानष्टौ जीवति मानवः ॥ ६ ॥

स्वपादं खण्डितं पश्यन्नग्रतः पृष्टतोऽपि वा । पङ्के वा पांसुके वाऽपि सप्त मासान्न जीवति ॥ ७ ॥

कपोतो वाऽथ गृध्रो वा काको वा यदि मूर्धनि । स्थितः क्रव्यादसंज्ञो वा षण्मासेन विनश्यति ॥ ८ ॥

गच्छन्ती वायसी पङ्क्तिः पांसुवर्षं विमुञ्चति । गच्छेद्वायसपङ्क्तीभिः पांसुवर्षेण वा नरः ।[1]

स्वच्छायां विकृतां पश्येच्चतुर्वा पञ्च जीवति ॥ ९ ॥

विद्युतं दक्षिणे भागे पश्यन्मेघविवर्जिते ।

उदके चापमैन्द्रं वा त्रीणि द्वौ वा स जीवति ॥ १० ॥

दर्पणे वा जले वाऽपि परेषां वाऽथ चक्षुषि । अशिरस्कं तथाऽत्मानं पश्यन्मासेन नश्यति ॥ ११ ॥

वस्तगन्धस्तु वा देहः शवगन्धस्तु वा भवेत् । निम्बगन्धस्तु वाऽतीव मासार्धेन विनश्यति ॥ १२ ॥

शुष्यते हृदयं यस्य मस्तकं धूमसंवृतम् । सदा कम्पो भवेद्यस्य दशाहं नैव जीवति ॥ १३ ॥

संभिन्नो मारुतो यस्य मर्मस्थानानि कृन्तति । अद्भिः स्पृष्टो न हृष्येच्च मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ १४ ॥

ऋक्षवानरसंयुक्तरथेनैव तु दक्षिणाम् । दिशं गच्छति यो मर्त्यो मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ १५ ॥

जिसे न दीखे वह एक साल से अधिक नहीं जीता । (शुक्लपक्ष की द्वितीया आदि को तेज का अंश दीखता है वह सोम-छाया है । तारापथ को महापथ कहते हैं ।) ॥ २ ॥ जिसे सूर्य विना किरणों वाला दीखे और आग किरणों वाली दीखे, वह ग्यारह महीने से अधिक नहीं जीता ॥ ३ ॥ जाग्रत् या स्वप्न अवस्थाओं में जो चाँदी, सोना, विष्ठा या मूत्र की पल्टी करे (वमन करे) वह दस महीने नहीं जीता ॥ ४ ॥ भूत, प्रेत, पिशाच, गंधर्वनगर तथा सुनहरे रंग के वृक्ष जिसे दीखें वह नौ महीने नहीं जीता ॥ ५ ॥ जो व्यक्ति स्वयं ही अकस्मात् अति मोटा या अति पतला या काले रंग का हो जाये, वह आठ ही महीने जीता है ॥ ६ ॥ यदि कोई व्यक्ति कीचड़ या धूल में अपने पैर को आगे या पीछे से खण्डित देखे ले तो सात महीने नहीं जीता ॥ ७ ॥ कबूतर, गीध, कौवा या क्रव्याद (शेर, चीता या राक्षसादि) यदि सिर पर बैठ जाये तो व्यक्ति छह महाने में मर जाता है ॥ ८ ॥ यदि उड़ती हुई कौवों की पंक्ति धूल बरसाये, या कौवों की पंक्ति सहित कोई जाये, या धूल बरसने के साथ जाये, या अपनी छाया को विकृत देखे तो वह चार-पाँच महीने ही जीता है ॥ ९ ॥ मेघ के बिना ही दायीं ओर बिजली दीखे या जल में इन्द्रधनुष दीखे तो समझना चाहिये कि वह दो-तीन महीने ही जियेगा ॥ १० ॥ जो दर्पण, जल या दूसरे की आँख में अपने को विना सिर वाला देखता है वह महीने भर में ही मर जाता है ॥ ११ ॥ जिसका शरीर बकरे की, शव की या नीव की गंध वाला हो जाये वह आधे महीने में ही मर जाता है ॥ १२ ॥ जिसका हृदय सूख जाये, माथे में धुआँ भर जाये, जो सदा काँपता रहे, वह दस दिन भी नहीं जी पाता ॥ १३ ॥ नाना प्रकार की वायुएँ जिसके मर्मस्थानों को काटती हैं, पानी से छुए जाने पर जो प्रसन्न नहीं होता, उसकी मौत उसके घर आ ही चुकी समझनी चाहिये ॥ १४ ॥ रीछ और वानर से जुते रथ से जो दक्षिण दिशा को जाता है (स्वप्न में), उसकी मौत उपस्थित ही है ॥ १५ ॥ स्वप्न

१ कुत्रचित्कोशेषु प्रथमापंक्तिः क्वचिच्च द्वितीया नास्ति ।

कृष्णाः कृष्णाम्बराः स्वप्ने श्यामवस्त्रधराः स्त्रियः । येनैव सह गच्छन्ति दक्षिणां न स जीवति ॥ १६ ॥
छिन्नं कृष्णं स्वकं वासः स्वप्ने पश्यति यः पुमान् । नग्नं वा [1]श्रमणं तस्य गृहे मृत्युरुपस्थितः ॥ १७ ॥
नक्षत्राणि दिवा पश्यन्रात्रौ चेन्द्रधनुस्तथा । चन्द्रं रक्तं तु वा कृष्णं भानुं पश्यति मानवः ॥ १८ ॥
आदित्यमण्डले पश्येत्सुषिरं चन्द्रमण्डले । आकाशे रक्तमालां वा सद्य एव विनश्यति ॥ १९ ॥
श्मशानं भस्म केशांश्च नदीं शुष्कां भुजंगमान् । पश्येत्स्वप्नदशायां यस्तस्य मृत्युर्गृहं गतः ॥ २० ॥
कृष्णैर्विकेशैः पुरुषैः स्वप्ने यः पीडितः पुमान् । पाषाणैस्ताड्यते यस्तु मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २१ ॥
आदित्योदयवेलायां प्रत्यक्षं यस्य वै शिवाः । क्रोशन्त्यभिमुखा ह्येत्य मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २२
भयकम्पादयो यस्य भूयो भूयो भवन्ति च । शोकमोहौ सदा यस्य मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २३ ॥
निर्जला यस्य जिह्वा तु दन्तघर्षस्तु यस्य च । हृदये यस्य वै वह्निर्मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २४ ॥
चक्षुरेकं स्रवेद्यस्य कर्णौ स्थानाच्च भ्रश्यतः । यस्य नासा च वक्रा स्यान्मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २५ ॥
यस्य जिह्वा च कृष्णा स्यात्सुमुखं दुर्मुखं भवेत् । गण्डे च कृष्णे रक्ते वा मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २६ ॥
मुक्तकेशो हसन्गायन्नृत्यन्गच्छति दक्षिणाम् । दिशं स्वप्नेऽस्य मृत्युः स्यादीदृशस्वप्नदर्शिनः ॥ २७ ॥
श्वेतभूतास्तथा श्वेता अश्वाः श्वेततरा अपि । वहन्ति याम्यदेशे यं तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २८ ॥
उष्ट्ररासभसंयुक्तं रथमारुह्य दक्षिणे । स्वप्ने गच्छति यो मर्त्यस्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २९ ॥
घोषं न शृणुयात्कर्णे ज्योतिर्नेत्रे न पश्यति । श्वभ्रे यो निपतेत्स्वप्ने तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वदृष्टिस्तथा रक्तकृष्णदृष्टिश्च यः पुमान् । ऊष्माविहीनदेहश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
नाभौ वा हृदये वाऽपि सुषिरं यस्य भासते । यस्यात्युष्णं भवेन्मूत्रं तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३२ ॥

में जिसके साथ दक्षिण की ओर काले कपड़े पहने हुए तथा श्याम वस्त्र लिए हुए काली स्त्रियाँ जाती हैं, वह अधिक नहीं जीता ॥ १६ ॥ जो स्वप्न में अपना काला कपड़ा फटा देखता है या नंगे श्रमण को (बौद्ध साधु) स्वप्न में देखता है, मौत उसके घर में आ चुकी जाननी चाहिये ॥ १७ ॥ दिन में नक्षत्र और रात में इंद्रधनुष, चाँद को लाल या सूर्य को काला देखने वाला जल्दी ही मरता है ॥ १८ ॥ सूर्यमंडल या चंद्रमंडल में छेद दीखे, अथवा आकाश में लाल माला दीखे तो जल्दी ही मौत आती है ॥ १९ ॥ जो सपने में श्मशान, राख, केश, सूखी नदी, या साँप देखे वह जल्दी ही मर जाता है ॥ २० ॥ बिगड़े बालों वाले काले लोगों द्वारा जो स्वप्न में पत्थरों से पीटा जाता है वह अधिक नहीं जीता ॥ २१ ॥ सूर्योदय के समय जिसके सामने सियार रोते हैं वह अधिक जीवित नहीं रहता ॥ २२ ॥ जिसे बार-बार डर लगता है और कँपकँपी छूटती है तथा जिसे हमेशा शोक-मोह बना रहता है, उसकी मृत्यु निकट ही है ॥ २३ ॥ जिसकी जीभ सूखी हो, दाँतों का घर्षण होता रहे और हृदय में आग जैसी गर्मी हो, वह अधिक नहीं जीता ॥ २४ ॥ जिसकी एक आँख बहती हो, कान अपनी जगह से हिल जायें और नाक टेढ़ी हो जाये वह शीघ्र मर जाता है ॥ २५ ॥ जिसकी जीभ काली हो जाये, पूर्व में अच्छा भी चेहरा विकराल हो जाये तथा कपोल काले या लाल हो जायें, समझना चाहिये मौत उसके घर आ चुकी है ॥ २६ ॥ जो ऐसा स्वप्न देखे कि मैं विना शिखा आदि बाल बाँधे हँसते, गाते, नाचते हुए दक्षिण दिशा को जा रहा हूँ, वह अधिक नहीं जीता ॥ २६ ॥ (स्वप्न में) जिसे अति सफेद घोड़े दक्षिण की ओर ले जायें, उसकी मृत्यु उपस्थित ही है ॥ २८ ॥ स्वप्न में जो व्यक्ति ऊँट और गधे से जुते रथ पर दक्षिण को जाता है, उसकी मौत निकट है ॥ २९ ॥ जो कान से हल्ला न सुने

---

१ ख. ङ. भ्रमणं ।

जाग्रत्कालेऽथवा स्वप्ने योऽदृष्टेन निहन्यते ।
जीवनं तस्य नास्त्येव मृत्युरग्र इति स्थितः ॥ ३३ ॥
याम्यशब्दं च यो ब्रूयात्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३४ ॥
शुक्लं प्रावरणं रक्तं कृष्णं वा यस्य भासते ।
स्वप्ने नीलं पटं यस्य तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३५ ॥
एवमादीन्यरिष्टानि भासन्ते यस्य दुःस्थितम्[१] ।
स भयं शोकमोहौ च त्यक्त्वैकाग्रमना दृढम् ॥ ३६ ॥
श्रीमद्वाराणसीं गत्वा स्नात्वा गङ्गाजले नरः ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं जपेत्पञ्चाक्षरं सदा ॥ ३७ ॥
सोमनाथेऽथवा स्नात्वा सोमतीर्थे महोदधौ ।
सोमनाथं महादेवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३८ ॥
श्रीपर्वतेऽथवा देवं दृष्ट्वा [२]श्रीमल्लिकेश्वरम् ।
भस्मनोद्धूल्य मन्त्रेण सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३९ ॥
श्रीकालहस्तिनाथं वा सुवर्णमुखरीजले ।
स्नात्वा दृष्टा महादेवं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४० ॥

और आँख से ज्योति न देख पाये तथा सपने में किसी दरार में (गड्ढे में) गिर पड़े, वह जल्दी मरता है ॥ ३० ॥ जिसकी आँखें ऊपर चढ़ जायें या लाल अथवा काली हो जायें, जिसका गात्र गर्मी-रहित हो वह मरने ही वाला होता है ॥ ३१ ॥ जिसे नाभि या हृदय में छेद की प्रतीति हो व जिसका मूत्र असाधारण गर्म हो, वह जल्दी मर जाता है ॥ ३२ ॥ जाग्रत् या स्वप्न में जो किसी अदृष्ट वस्तु या व्यक्ति द्वारा मारा जाये, उसकी मौत उसके सामने ही खड़ी है यह समझ लेना चाहिये ॥ ३३ ॥ जो सपने में आग में गिर पड़े, जो हमेशा हर चीज़ भूल जाये तथा जो यमसम्बन्धी शब्द बोलने लगे वह मरा ही चाहता है ॥ ३४ ॥ सफेद कपड़ा जिसे लाल या काला दीखे या स्वप्न में जिसे अपने कपड़े नीले दीखें, वह शीघ्र मरता है ॥ ३५ ॥

ये तथा ऐसे अन्य अरिष्ट (मृत्युसूचक) जिसे प्रतीत हों उसे भय, शोक व मोह छोड़कर पक्का निश्चय कर एकाग्र मनसे वाराणसी जाना चाहिये । वहाँ पहुँचकर गंगाजी में स्नान करे और विश्वनाथ का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जप करता रहे ॥ ३६–३७ ॥ अथवा वह सोमनाथ जाये । सोमतीर्थ में स्नानकर सोमनाथ का दर्शन करे और सदा पंचाक्षर जपे ॥ ३८ ॥ अथवा श्रीशैल जाकर मल्लिकार्जुन का दर्शन कर, समंत्र

१ ख. घ. सुस्थितम् । ग. सुस्थिरम् । २ श्रीमल्लिकार्जुनम् ।

गोपर्वते तथा देवं दृष्ट्वा शक्तीश्वराभिधम् ।
भस्मनोद्धूत्य मन्त्रेण सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४१ ॥
श्रीमद्वृद्धाचले वाऽपि स्नात्वा मुक्ताजले नरः ।
दृष्ट्वा वृद्धाचलेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४२ ॥
श्रीमद्रामेश्वरे वाऽपि स्नात्वा तत्र महोदधौ ।
दृष्ट्वा रामेश्वरं देवं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४३ ॥
श्रीहालास्येऽथवा देवं दृष्ट्वा हालास्यनायकम् ।
यथाशक्ति धनं दत्त्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४४ ॥
वेदारण्येऽथवा स्नात्वा वेदतीर्थे महोदधौ ।
वेदारण्याधिपं दृष्ट्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत ॥ ४५ ॥
श्रीमद्वल्मीकसंज्ञे वा क्षीरकुण्डजले नरः ।
स्नात्वा दृष्ट्वा महेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४६ ॥
गजारण्येऽथवा स्नात्वा कावेर्यामेव मानवः ।
गजारण्याधिपं दृष्ट्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४७ ॥
जप्येश्वरं तु वा गत्वा स्नात्वा कावेरिकाजले ।
दृष्ट्वा जप्येश्वरेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४८ ॥
अथवा दक्षिणावर्ते स्नात्वा कावेरिकाजले । दक्षिणावर्तनाथेशं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४९ ॥
कुम्भकोणेऽथवा स्नात्वा कावेर्यामेव मानवः ।
कुम्भकोणाधिपं देवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५० ॥
मध्यार्जुने वा कावेर्यां स्नात्वा मर्त्यः समाहितः ।
मध्यार्जुनाधिपं देवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५१ ॥
श्रीमद्गोपुटतीर्थे वा तथा मङ्गलवंशके । श्रीमदग्नीश्वराख्ये वा कोटिहास्येऽथवा नरः ॥ ५२ ॥

भस्म से उद्धूलन कर सदा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ३९ ॥ या सुवर्णमुखरी में स्नान कर श्रीकालहस्तीश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपते हुए वहाँ रहे ॥ ४० ॥ अथवा गोपर्वत जाकर शक्तीश्वर का दर्शन कर, समंत्र भस्मोद्धूलन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४१ ॥ अथवा वृद्धाचल जाये । मुक्ता में स्नान कर, वृद्धाचलेश्वर का दर्शन कर हमेशा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ४२ ॥ अथवा रामेश्वर जाकर, समुद्र में स्नान कर, रामेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपना चाहिये ॥ ४३ ॥ अथवा हालास्य जाकर महादेव का दर्शन कर, यथाशक्ति धनदान देकर सदा पंचाक्षर जपना चाहिये ॥ ४४ ॥ या वेदारण्य जाये और समुद्र में वेदतीर्थ में स्नान कर महादेव का दर्शन कर सदा पंचाक्षर मंत्र का जप करते हुए वहाँ रहे ॥ ४५ ॥ अथवा वल्मीक जाना चाहिये । वहाँ क्षीरकुण्ड में स्नान कर महादेव का दर्शन कर हमेशा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ४६ ॥ या गजारण्य में जाकर कावेरी में स्नान करे और गजारण्येश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४७ ॥ अथवा जप्येश्वर जाकर कावेरी में स्नान कर, जप्येश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४८ ॥

आम्रतीर्थे दृतिस्थाने श्वेतारण्यसमाह्वये । श्रीमद्ब्रह्मपुरे वाऽपि कावेर्युदधिसंगमे ॥ ५३ ॥

स्नात्वा दत्त्वा यथाशक्ति धनं धान्यं तिलं तु वा ।

दृष्ट्वा महेश्वरं भक्त्या सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५४ ॥

अथवा मानवः शीघ्रं गत्वा व्याघ्रपुरं मुदा ।

शिवगङ्गाभिधे तीर्थे स्नात्वा दत्त्वा यथाबलम् ॥ ५५ ॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा श्रीमद्दभ्रसभापतिम् ।

दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं मन्त्रं सतारं सर्वदा जपेत् ॥ ५६ ॥

अस्मिन्व्याघ्रपुरे पुण्ये यो वा को वा तु मानवः ।

ममार परमा मुक्तिः सिद्धा तस्य न संशयः ॥ ५७ ॥

अथवा दक्षिणावर्त में जाये तथा कावेरी में स्नान कर दक्षिणावर्तेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४९ ॥ या कुम्भकोण जाकर, कावेरी में स्नान कर कुम्भेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ५० ॥ अथवा मध्यार्जुन जायें । वहाँ भी कावेरी में नहा कर मध्यार्जुनेश्वर का दर्शन कर पंचाक्षर जपे ॥ ५१ ॥ अथवा गोपटुतीर्थ, मंगलवंशक, अग्नीश्वर, कोटिहास्य, आम्रतीर्थ, दृतिस्थान, श्वेतारण्य, ब्रह्मपुर–इनमें से किसी तीर्थ में जाये और स्नान, दान, शिवदर्शन कर निरंतर पंचाक्षर जपता रहे । अथवा कावेरी और समुद्र के संगम पर जाकर स्नान करे, धन, धान्य या तिल का यथाशक्ति दान करे, महादेव का दर्शन करे और पंचाक्षर जपने लगे ॥ ५२–५४ ॥

अथवा जिस मानव ने अपनी मृत्यु के सूचक देख लिये हैं वह शीघ्र व्याघ्रपुर चला जाये । वहाँ शिवगंगा में स्नान कर यथाशक्ति दान दे ॥ ५५ ॥ मंदिर की तीन परिक्रमायें कर दभ्रसभापति का दर्शन करे । तदनन्तर षडक्षर मंत्र का जप करने लगे ॥ ५६ ॥ इस पवित्र स्थान पर जो मरता है उसकी मुक्ति निःसंदिग्ध है ॥ ५७ ॥ इस स्थान में प्रवेश मात्र से महापापों का समूह निवृत्त हो जाता है । दभ्रसभापति का दर्शन होने पर मोक्ष निश्चित हो जाता है ॥ ५८ ॥ परमकरुणामय महान् आनंद व्यक्त करने वाले महादेव जहाँ नृत्य करते हैं वहाँ उनका दर्शन कर मनुष्य भवबंधन से मुक्त हो जाता है । ॥ ५९ ॥ बहुतेरे लोग उस देश के दर्शन से ही मुक्त हो गये हैं । अतः साक्षात् नटराज का दर्शन कर मुक्ति होती

महापातकसंघाश्च स्थानस्यास्य [1] प्रवेशनात् ।
नश्यन्ति दर्शनादेव मुक्तिः सिद्धा सभापतेः ॥ ५८ ॥
महाकारुणिको देवो महानन्दपरायणः । यत्र नृत्यति तं दृष्ट्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५९ ॥
देशदर्शनमात्रेण विमुक्ता बहवो जनाः । किं पुनर्देवदेवस्य दर्शनेन सभापतेः ॥ ६० ॥
अविमुक्तादपि श्रेष्ठमिदं स्थानं न संशयः [2] ।
अत्र नृत्यति देवेशस्तत्र देवो न नृत्यति ॥ ६१ ॥
अत्र दर्शनमात्रेण मुक्तिः सिद्धा हि देहिनाम् ।
तत्र नष्टस्य मर्त्यस्य ततः श्रेष्ठमिदं पुरम् ॥ ६२ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरं मुक्त्वा यो वा वाराणसीं गतः ।
तत्र नष्टोऽपि कैवल्यं प्राप्नुयान्नैव मानवः ॥ ६३ ॥
पार्वती परमा शक्तिः श्रीमद्व्याघ्रपुरे सदा ।
प्रकाशते हि विद्याभिः संवृता करुणावलात् ॥ ६४ ॥
सर्वविद्यालया देवी यत्रातीव प्रकाशते । खलु तत्र परा मुक्तिरतः श्रेष्ठमिदं पुरम् ॥ ६५ ॥
अतः समस्तं परिवर्ज्य सत्वरं समस्तदोषस्य निवृत्तिसिद्धये ।
इदं तु मुख्यं पुरमाप्नुयान्नरः शिवप्रसादेन हि तत्र मुच्यते ॥ ६६ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मृत्यसूचकविवरणं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इति श्रीस्कंन्दपुराणे सूतसंहितटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मृत्युसूचकविवरणं
नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

है इस में कहना ही क्या ? ॥ ६० ॥ यह स्थान अविमुक्त से भी श्रेष्ठ है । यहाँ परमशिव प्रसन्नता से नाचते हैं जबकि वहाँ वे नाचते नहीं ॥ ६१ ॥ अविमुक्त में तो मरने पर मोक्ष मिलता है और व्याघ्रपुर में शिव का दर्शन कर लेने से ही मोक्ष मिल जाता है । अतः यही स्थान उससे श्रेष्ठ है ॥ ६२ ॥ जो व्यक्ति व्याघ्रपुर छोड़ कर वाराणसी जाता है वह वहाँ मर कर भी मुक्त नहीं होता ॥ ६३ ॥ परा शक्ति पार्वती व्याघ्रपुर में करुणावश विद्याओं से घिरी हुई सदा प्रकाशित होती हैं ॥ ६४ ॥ सब विद्याओं की निधिरूप देवी जहाँ अत्यधिक प्रकाशित होती हैं वहाँ परम मोक्ष निश्चित है । अतः यह श्रेष्ठ पुर है ॥ ६५ ॥ अतः मनुष्य को बाकी सब छोड़ कर अतिशीघ्र सारे दोषों से निवृत्ति पाने के लिये इस मुख्य शिवपुर का सेवन करना चाहिये । यहाँ शिवकृपा से सव मुक्त हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ (वाराणसी को न्यून वताने में नहीं वरन् चिदम्बर की प्रशंसा में तात्पर्य है ।)

---

१ ग. प्रशासनात् । २ व्याघ्रपुरप्रशंसायां तात्पर्यात्सर्वमुपपादनीयम् । काशीमरणान्मोक्ष इति स्मृत्यादिसिद्धः पक्षः । स्थानान्तरेषु मृतो मोक्षान्तराण्याप्नोति जन्मान्तरे वा काशीमरणं प्राप्नोतीति साम्प्रदायिकानां मर्यादा । ततइह न हि निन्देति न्यायो वोध्यः ।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि पापस्याकरणाय तु ।
भोगावशिष्टपापानां लक्षणं मुनिसत्तमाः ॥ १ ॥
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः । स्वर्णापहरी कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ २ ॥
परिवादरतः पङ्गुरन्धश्च बधिरस्तथा । अनुकीर्तनकृन्मर्त्यः खरस्वामी भवेत्सदा ॥ ३ ॥
गुरुनिन्दापरो नित्यमपस्मारी निरन्तरम् । भगंदरी गुरोराज्ञाभङ्गकारी न संशयः ॥ ४ ॥
गुरुमात्सर्यकृन्मर्त्यो विट्क्रिमिः स्यान्न संशयः । गुर्ववज्ञापरस्तद्वच्छिवद्रोही तथा भवेत् ॥ ५ ॥
गुरोःशुश्रूषणेऽसक्तो दुष्प्रज्ञः स्यात्तु मानवः ।
विष्णुद्रोही नरः साक्षात्कृकलासत्वमाप्नुयात् ॥ ६ ॥
यो वेददूषको मर्त्यः स चण्डालो भवेत्तथा ।
वेदान्तदूषकः साक्षात्पुल्कसः स्यान्न संशयः ॥ ७ ॥
उन्मत्तो वेदविज्ञानदूषकः पुरुषाधमः । रजस्वलाभिगन्ता स्यादन्त्यजातिस्तु मानवः ॥ ८ ॥
अग्निदो मनुजः कुष्ठी गरदश्च तथैव च । शस्त्रपाणिस्तथा मर्त्यो रूप्यचोरस्तु दर्दुरः ॥ ९ ॥

ब्रह्महत्यादिपापपरिणामरूपं क्षयरोगादिकमप्यज्ञानिनः कर्त्रात्मन एव नाकर्तुर्ब्रह्मात्मन इति दर्शयितुमारभते–अथात इति ॥ १–२८ ॥

बचे पापों के स्वरूप का कथन नामक सैंतालीसवा अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं उन पापों के फलों का वर्णन करता हूँ (जिनका प्रायश्चित्त न किया होने से) जो भोगने के लिये बचे रहते हैं । इसे समझ कर इन कष्टों से जो बचना चाहे वह इन पापों को न करे, यह मेरे कथन का प्रयोजन है ॥ १ ॥

ब्रह्महत्यारे को क्षयरोग होता है । सुरा पीने वाले के दाँत काले होते हैं । सोना चुराने वाला कुरूप नाखूनों वाला होता है । गुरुपत्नी से संभोग करने वाले की त्वचा सदोष होती है ॥ २ ॥ अनावश्यक निंदा करने वाला (या सदा गाली देने वाला) लंगड़ा, अन्धा और बहिरा होता है । अनुकीर्तन करने वाला (अपने किये का बखान करते रहने वाला) गधे का मालिक बनता है ॥ ३ ॥ जो सदा गुरुनिंदा करता है उसे अपस्मार रोग हो जाता है । (भूलने का रोग या मिरगी आने का रोग अपस्मार कहलाता है ।) जो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह भगंदररोग से पीडित होता है ॥ ४ ॥ जो गुरु से मात्सर्य रखता है वह टट्टी का कीड़ा बनता है । जो गुरु का अनादर करता रहता है वह शिवद्रोही हो जाता है ॥ ५ ॥ जो मानव गुरु की सेवा में सद्भाव नहीं रखता वह निर्बुद्धि हो जाता है । विष्णुद्रोही व्यक्ति गिरगिट बन जाता है ॥ ६ ॥ वेद को दूषित करने वाला व्यक्ति चाण्डाल बनता है । (वेदाक्षरों में हेर-फेर या वेदार्थ को ग़लत ढंग से निष्पन्न करना या उसे ग़लत बताना या अनधिकारी को उसका उपदेश देना आदि वेद को दूषित करना है ।) वेदान्तों को दूषित करने वाला पुल्कस बनता है ॥ ७ ॥

कूटकृन्मुखरोगी स्यात्कूटसाक्षी तथैव च । कूटकृत्यसहायश्च तदुपायप्रदोऽपि च ॥ १० ॥

पितृमातृपरित्यागी बालत्यागी तथैव च ।

अक्षिरोगी भवेन्नित्यं भार्यात्यागी तु मानवः ॥ ११ ॥

अल्पायुश्चाप्रदानेन प्रतिज्ञातस्य मानवः । पत्नीबहुत्वे त्वेकस्यां रमते षण्ढ एव सः ॥ १२ ॥

अन्नापहारी मन्दाग्निर्जिह्वारोगी भवेत्तथा । [1]अग्रभुग्गलरोगी स्यान्मिष्टभुक्च तथैव च ॥ १३ ॥

पञ्चयज्ञविनिर्मुक्तो विड्वराहो भवेन्नरः । पर्वमैथुनकृन्मर्त्यः प्रमेही स्यान्न संशयः ॥ १४ ॥

अभ्यागतपरित्यागी कपोलपिण्डको भवेत् । तथाऽतिथिपरित्यागी भवेन्नात्र विचारणा ॥ १५ ॥

स्वात्मोत्कर्षपरो नित्यं वामनः पङ्गुरेव च ।

गोघ्नश्चैव कृतघ्नश्च जात्यन्धः स्यान्न न संशयः ॥ १६ ॥

निःस्नेहकः स्वभार्यायां गलगण्डी भवेन्नरः ।

वेश्यासेवापरो मर्त्यश्छिन्नलिङ्गो न संशयः ॥ १७ ॥

पिशुनः पूतिवक्त्रः स्यान्नरस्ताम्रादिविक्रयी । [2]एडकाजगजाश्वादिविक्रेता व्याध एव हि ॥ १८ ॥

जो नीच व्यक्ति वेदसिद्ध विज्ञान (धर्मज्ञान) को दूषित करता है वह पागल हो जाता है । रजस्वला से संभोग करने वाला अन्त्यज होता है ॥ ८ ॥ किसी को जलाने वाला कोढ़ी होता है । जहर देने वाला भी कोढ़ी होता है । शस्त्र से किसी निरपराध को मारने वाला भी कोढ़ी होता है । चाँदी चुराने वाला मेंढक बनता है ॥ ९ ॥ छल करने वाले के मुँह में रोग होता है । झूठा गवाह, छल में सहायक और उसके उपाय देने वाले के भी मुँह में रोग होता है ॥ १० ॥ पिता, माता, बालक या भार्या को अवैध ढंग से त्यागने वाला नेत्ररोगी होता है ॥ ११ ॥ प्रतिज्ञा कर न देने वाला अल्पायु होता है । जिसकी अनेक पत्नियाँ हों पर एक से ही रमण करता रहे वह हिजड़ा होता है ॥ १२ ॥ अन्न चुराने वाले को भूख कम लगती है । उसकी जीभ में भी रोग होता है । जो (देवतादि को समर्पण करने के) पहले ही खा लेता है तथा जो (उसी तरह) मिठाई खा जाता है उसके गले में रोग होता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य पंचयज्ञ नहीं करता वह सुअर बनता है । जो व्यक्ति पर्वों के अवसर पर (पूर्णिमा और अमावस्या को) मैथुन करता है उसे प्रमेह हो जाता है ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति अभ्यागत व अतिथि का यथाशक्ति यथोचित सत्कार नहीं करता उसके गाल में गूमड़ हो जाते हैं । (चाहे जो अन्न या आश्रय चाह कर आया अभ्यागत होता है । अतिथि के लिये वर्णादिकृत विशेष है ।) ॥ १५ ॥ जो सदा अपनी ही बड़ाई पाने की कोशिश करता है वह बौना और लंगड़ा होता है । गाय मारने वाला और कृतघ्न व्यक्ति जन्म से ही अंधा होता है ॥ १६ ॥ जो अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता उसके गले में गाँठ हो जाती है । जो पुरुष वेश्या सेवन में तत्पर रहता है उसका शिश्न कटा होता है ॥ १७ ॥ चुगलखोर व्यक्ति ऐसे

१ ख. घ. "भुग्भाळरो" । २ घं. "कादिग" ।

ज्ञानापहारी मूकः स्यान्मन्त्रचोरस्तथैव च ।
अभक्ष्यभक्षको मर्त्यो गण्डमाली भवेत्सदा ॥ १९ ॥
रङ्गोपजीवी कुमतिर्भवेन्नात्र विचारणा । अन्धः पुस्तकचोरः स्यात्तथा स्याल्लेखनीहरः ॥ २० ॥
सदा पुण्यकथाक्षेपी वक्रनासो भवेन्नरः ।
शिष्टाचारस्य धर्मस्य दूषको राक्षसो भवेत् ॥ २१ ॥
ज्ञानयोगगुरुद्वेष्टा वक्रास्यो[1] देवदूषकः । पुण्यकर्मप्रवृत्तस्य प्रतिषेधी क्रिमिर्भवेत् ॥ २२ ॥
देवद्रव्यापहारी स्यान्मनुष्यो वायुभक्षकः । तटाकारामभेत्ता स्यादङ्गहीनस्तु मानवः ॥ २३ ॥
मर्यादाभेदको दासो भवेन्नात्र विचारणा । परदाराभिगामी तु वातरोगी भवेन्नरः ॥ २४ ॥
मधुप्रमेही चोष्ट्रा(ष्ट्र्या)दिगन्ता नात्र विचारणा ।
पतिव्रताभिगन्ता तु सूकरः स्यात्तु मानवः ॥ २५ ॥
परापवादनिरतो व्यसनी चालसः सदा । अतिपातकदोषेण भवेयुः क्रिमयो नराः ॥ २६ ॥
तथा पातकदोषेण विड्वराहो न संशयः ।
उपपातकदोषेण तथा श्वानः सदा नरः ॥ २७ ॥
पातकैरपरैः क्षुद्रैर्जायन्ते क्षुद्रयोनिषु । महापातकपूर्वैश्च पातकैरखिलैः सदा ॥ २८ ॥

मुँह वाला होता है जिससे वदवू आये । ताँवा आदि वेचने वाला, भेड़, वकरी, हाथी, घोड़ा आदि वेचने वाला व्याधा हो जाता है ॥ १८ ॥ ज्ञान चुराने वाला गूंगा होता है । ऐसे ही मंत्र चुराने वाला भी गूंगा होता है (अनुचित ढंग से, छिपकर या धोखे से विद्या या मंत्र ग्रहण करना उनकी चोरी है ।) अभक्ष्य खाने वाला गण्डमाला रोग से पीडित रहता है । (इसमें गले की गिल्टियाँ सूज जाती हैं ।) ॥ १९ ॥ चित्रकार दुष्ट वुद्धि वाला हो जाता है । पुस्तक व लेखनी चुराने वाला अंधा हो जाता है ॥ २० ॥ जो व्यक्ति सदा पुण्यकथाओं पर आक्षेप करता रहे वह टेढ़ी नाक वाला होता है । शिष्टाचार धर्म को दूषित करने वाला राक्षस वन जाता है ॥ २१ ॥ ज्ञानयोग के गुरु से या देवता से द्वेष करने वाला टेढ़े मुँह वाला होता है । पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करने वालों को वैसा करने से जो मना करता है वह क्रिमि बन जाता है । ॥ २२ ॥ देवता के धन को चुराने वाला व्यक्ति साँप बनता है । तालाव या वगीचे को नष्ट करने वाला अंगहीन होता है ॥ २३ ॥ मर्यादा तोड़ने वाला दास वनता है । दूसरे की पत्नी से संभोग करने वाला वातरोग से पीडित रहता है ॥ २४ ॥ ऊँटनी (साँडनी) आदि से मैथुन करने वाला मधुमेह रोग वाला होता है । पराई पतिव्रता नारी से संभोग करने वाला सुअर होता है ॥ २५ ॥ दूसरों की निंदा करने वाला व्यसनी और आलसी होता है । अतिपातकों से व्यक्ति क्रिमियोनि पाता है ॥ २६ ॥ पातकवशात् मनुष्य सुअर

१ ध. च. छ. ज. "स्यो वेददू" ।

स्वस्वरूपापरिज्ञानाद् बध्यते खलु मानवः ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २९ ॥
स्वस्वरूपं तु शुद्धं हि सततं सर्वदेहिनाम् ।
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ॥ ३० ॥
नैव देहादिसंघातः[1] पटवद्दृशिगोचरः ।
दृश्यरूपेण यद्रूपं दृश्यते देहपूर्वकम् ॥ ३१ ॥
तदनात्मैव दृश्यत्वाद्यदित्थं तत्तथा खलु ।
दृश्यत्वं देहपूर्वस्य संमतं सर्वदेहिनाम् ॥ ३२ ॥

स्वस्वरूपापरिज्ञानादिति । कर्तृत्वभोक्तृत्वादिचञ्चलसंसारधर्मरहितं सच्चिदानन्दाखण्डैकरसं स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परब्रह्म हि स्वात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपं तस्यापरिज्ञानादन्तःकरणादिधर्मितादात्म्याध्यासेन तद्धर्माणां कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनामप्यात्मनि संसर्गाध्यासात्तत्कृतैः पातकैरपि बद्धो भवतीत्यर्थः । **स्वस्वरूपपरिज्ञानादिति** । स्वस्वरूपयाथात्म्यज्ञानिनस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मवदन्तःकरणतादात्म्याध्यासस्य निवृत्तेस्तत्कृतैः पापैरपि न संश्लेष इत्यर्थः ॥ २९ ॥ **शुद्धं हीति** । 'आत्मद्रव्यं स्वयं शुद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणम्' इत्यादिना स्वतःशुद्धेः प्राक्प्रतिपादितत्वात् । 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इत्यादिश्रुतेः स्वात्मनः शुद्धत्वम् । **चिन्मात्रमिति** । देहेन्द्रियादिसंघातस्य जाग्रदादिसकलव्यवहारस्य यद्यत्प्रकाशकं साक्षिभूतं चैतन्यं तदेवाऽऽत्मनः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ३० ॥ मात्रचो व्यावृत्तिं दर्शयति–**नैवेति** । **दृशिगोचर** इति । हेतुगर्भविशेषणमेतत्[2] । दृशिः प्रागुक्तं चैतन्यं यतस्तद्गोचरो देहादिरतः पटवदनात्मेत्यर्थः । ननु दृशिगोचरत्ववद्द्रष्टृत्वमपि देहादिसंघातस्य परिदृश्यमानं कथमपलपितुं शक्यत इत्याशङ्क्याऽऽह–**दृश्येति** । अहं मनुष्यः कृशोऽहं स्थूलोऽहमहं कर्ता भोक्तेत्येवं द्रष्टृरूपतया देहादेर्योऽनुभवः सोऽपि तत्संसारादिविभ्रमवन्मिथ्यानुभवो दृश्यत्वहेतुना देहादेरनात्मत्वस्य घटादेरिव सिद्धत्वादित्यर्थः । हेत्वसिद्धिं परिहरति–**दृश्यत्वमिति** । अज्ञाः स्त्रीबालादयोऽपि मम देहो मम चक्षुर्ममान्तःकरणमिति द्रष्टुरात्मन सकाशाद्भेदेनैव ज्ञेयतया देहादिकं व्यवहरन्ति । तत्सर्वेषामपि तत्र[3] दृश्यत्वं संमतमित्यर्थः ॥ ३१–३२ ॥

बनता है और उपपातक से कुत्ता । अन्य क्षुद्र पापों से अन्य नीच योनियों में जन्म होता है ॥ २७–½ ॥

निज स्वरूप का सही ज्ञान न होने से ही मानव महापाप आदि द्वारा बँधता है । अपने स्वरूप का प्रामाणिक ज्ञान हो जाये तो किसी कर्म से वह बँधता नहीं ॥ २८–२९ ॥ सब देहधारियों का अपना स्वरूप चेतनमात्र है जो निरंतर शुद्ध ही है ॥ ३० ॥ कपड़ों की तरह दृश्य शरीरादि जीव का स्वरूप नहीं है । देहादि जो कुछ भी दृश्यरूप से उपलब्ध होता है वह अनात्मा ही है क्योंकि जो वस्त्रादि दृश्य हैं वे निश्चित ही अनात्मा हैं । देहादि दृश्य हैं इसमें किसी को सन्देह नहीं । (मेरा–ऐसा जिसका व्यवहार हो वह दृश्य हुआ करता है यह वस्त्रादि में निश्चित किया गया है । देह, इंद्रिय, मन आदि का 'मेरा'

---

१ ख. घ. "घातो घट" । २ ग. घ. "णतो दृ" । ३ ख. सर्वत्र ।

दृश्यत्वं द्रष्टृपूर्वं तु लोके दृष्टं हि चेतनैः ।
द्रष्टुर्नास्ति हि[1] दृश्यत्वं दृश्यत्वे द्रष्टृता न हि ।
दृश्यरूपस्य कुड्यादेर्द्रष्टृता न हि दृश्यते ॥ ३३ ॥
अंशभेदेन दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चेति चेन्मतम् ।
अंशभेदे तु सांशत्वात्कुड्यवत्तदनात्मकम् ॥ ३४ ॥
अंशभेदेऽपि दृश्यांशः समानः कुड्यवस्तुना ।
द्रष्ट्रंशः केवलः साक्षादात्मैव स्यान्न संशयः ॥ ३५ ॥
द्रष्ट्रंशेऽपि च कर्तृत्वमुपाधिजनितं सदा ।
दृश्याभिव्यक्त्यपेक्षं वा न स्वतः पण्डितोत्तमाः ॥ ३६ ॥

एवं दृश्यत्वहेतुना देहादेरनात्मत्वं प्रतिपाद्य द्रष्टुरात्मनस्तद्व्यतिरिक्तत्वं प्रतिपादयति–**दृश्यत्वं द्रष्टृपूर्वं** त्विति । द्रष्टृसमवेतया दृशिक्रियया व्याप्यं हि दृश्यं घटादिकं तच्च स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृपूर्वकं दृष्टं लोके । अतो देहादेरपि स्वातिरिक्तेन केनचिद् द्रष्ट्रा भवितव्यमित्यर्थः । ननु देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽप्यहंप्रत्ययवेद्यत्वाद् दृश्यत्वमस्ति । अतो दृश्यस्य सर्वस्य स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृपूर्वकत्वनियमो नास्तीत्यत आह–**द्रष्टुरिति** । द्रष्टुरात्मनो दृश्यत्वे द्रष्टृत्वं न स्याद् द्रष्टृत्वे न दृश्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात् । न ह्येकस्यैव स्वसमवेतक्रियाश्रयत्वं तद्विषयत्वं च युगपत्संभवति । अतो द्रष्टुरात्मनो दृश्यत्वं न युक्तमित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह–**दृश्येति** । यद्यात्माऽपि दृश्यः स्यात्कुड्यादेरिव तस्य द्रष्टृत्वमपि न स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥ उक्तं कर्मकर्तृभावविरोधं परिहर्तुं शङ्कते–**अंशभेदेनेति** । द्रव्यबोधस्वरूपो हि देहातिरिक्त आत्मा तत्र द्रव्यांशेन तस्य दृश्यत्वं बोधांशेन च द्रष्टृत्वं चेति कर्तृत्वकर्मत्वयोर्व्यवस्थितत्वाद्विरोधो नास्तीत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति–**अंशभेद** इति । आत्मनो निरवयवद्रव्यत्वाभ्युपगमादंशभेदकल्पने च सावयवत्वप्रसङ्गात्कुड्यादिवदनात्मत्वमेव तस्य भवेदित्यर्थः । अङ्गीकृत्यापि दूषयति–**अंशभेद** इति । दृग्विषयो द्रव्यात्मकस्तस्याऽऽत्मनो योंऽशः सोऽयं दृश्यत्वात्कुड्यादिसदृशोऽनात्मा । दृशिधात्वर्थाश्रयभूतो योंऽशश्चिदात्मकः स एवाऽऽत्मा । अतो द्रष्टुर्दृश्यत्वं कदाचिन्न संभवतीत्यर्थः । नन्वन्तःकरणादेर्विविक्तं चिन्मात्रमेव ह्यन्तरात्मेति मतम् । तस्य च दृशिधात्वर्थरूपत्वेन तदाश्रयत्वानुपपत्तेर्द्रष्टृत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह–**द्रष्ट्रंशेऽपीति** । कर्तृत्वं नाम क्रियाश्रयत्वम् । क्रिया नाम हस्तपादादिचलनानुगुणप्रयत्नविशेषः[2] स चान्तःकरणधर्मस्तद्विशिष्टान्तःपाकरणोधिसंबन्धवशाद्द्रष्ट्रंशे चिन्मात्रस्वरूप आत्मन्यपि स्फटिके लौहित्यवत्कर्तृत्वावभासो निगद्यते । अतस्तद्विषयात्मकं तद्द्रष्टृत्वमपि तस्मिन्नौपाधिकमित्यर्थः । पक्षान्तरमाह–**दृश्याभिव्यक्तीति** । दर्शनमात्ररूपस्यापि साक्षिचिदात्मनः क्रियानाश्रयत्वेऽपि दृश्याभिव्यक्तिहेतुत्वेनौपचारिकमेवद्रष्टृत्वं न तु स्वाभाविकमित्यर्थः ॥ ३४–३६ ॥

ऐसा व्यवहार होता है । अतः वे दृश्य हैं ।) ॥ ३१–३२ ॥ द्रष्टा होने पर ही कुछ दृश्य होता है यह अनुभवसिद्ध है । (द्रष्टा के बिना स्वरूपतः रहने पर भी वस्तु दृश्य नहीं कही जा सकती, यह त्रिविधसत्तावाद

---

१ अतोऽत्र प्रकटार्थकृतः 'अस्मच्छब्दोल्लिखितः प्रत्ययो नाम जीवाऽहंकारवृत्तिः ।.....तस्याः स्वरूपेणाविषयोऽपि अध्यस्ताहंकर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण विषयो भवति इत्यधिष्ठानत्वयोग्योभवतीत्यर्थ' इत्युक्तवन्तः ॥(पृ. १३) । २ इच्छाक्रिययोर्मध्ये व्यापारभूतः प्रयत्नः स्वीक्रियते । न च जीवनयोनाविच्छापूर्वकत्वाभावादव्याप्ति र्जिजीविषायास्तस्यापि हेतुत्वांगीकारादविद्याकामकर्मेति क्रमस्वीकारात् । स चात्मधर्म इति तार्किकाः क्षेत्रधर्म इति सिद्धान्तः ।

स्वतः कर्तृत्वमस्यापि विद्यते यदि चाऽऽत्मनः ।
तर्हि दर्शनरूपेण परिणामी भवेद्धि सः ॥ ३७ ॥
परिणामी न चाऽऽत्मा स्यात्सर्वथा मृत्तिकादिवत् ।
अचित्त्वं च प्रसज्येत ततश्चिन्न हि विद्यते ॥ ३८ ॥
चिद्विहीनं जडं नैव विभाति मुनिपुंगवाः । स्वतः प्रकाशहीनस्य प्रकाशो नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

विपक्षे बाधकमाह–**स्वत** इत्यादिना । यद्यात्मनः स्वाभाविकं द्रष्टृत्वं स्यात्तर्हि तद्दर्शनक्रियासंबन्धेन तस्य परिणामित्वं स्यात् 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायत् । परिणामिनश्च मृदादिवदनात्मत्वं स्यात् । अनात्मत्वे च घटादिवदेवाचिद्रूपत्वमपि स्यात् । तथा च न किंचिदपि प्रतीयेतेत्यर्थः । प्रतीयते च । विपर्यये पर्यवसानमाह–**चिन्न हीति** । कोऽप्यर्थो न विद्यते न ज्ञायत इति न हि । अपि तु चिता सर्वमपि ज्ञायते । अतश्चिन्मात्रस्याऽऽत्मनः स्वाभाविककर्तृत्वं न युक्तमित्यर्थः ॥ ३७–३८ ॥ अथ तस्याऽऽश्रितप्रतीयमानभेदस्यौपाधिकत्वप्रतिपादनेनैक्यमुपपादयति–**चिद्विहीनमित्यादिना** । जडं जगत्तावच्चिद्रहितत्वान्नैव भाति । ननु यथा चिच्चिदन्तराभावेऽपि तन्निरपेक्षं भासते तद्वज्जडस्याप्यवभासः किं न स्यादित्यत आह–**स्वत** इति । स्वभावतः प्रकाशानात्मकस्य जडस्य चिन्नैरपेक्ष्येण प्रकाशो न युक्त[1] इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

में उपपत्ति जाननी चाहिये ।) द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता क्योंकि तब (वह या कोई भी) द्रष्टा नहीं रह जायेगा । दीवाल आदि जो दृश्य वस्तुएँ हैं वे द्रष्टा हों ऐसा कभी नहीं देखा गया है । (इसलिये भी द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता ।) ॥ ३३ ॥ यदि कहो कि आत्मा एक हिस्से से द्रष्टा और दूसरे से दृश्य हो जायेगा तो उसे सांश मानने से दीवालादि की तरह अनात्मा ही मानने की स्थिति हो जायेगी ॥ ३४ ॥ और कथंचित् अंशभेद मानें तो भी दृश्य होने वाला अंश अनात्मा और द्रष्टा रहने वाला अंश ही आत्मा होगा । (वह अंश पुनः दृश्य नहीं हो पायेगा । फलतः अंशकल्पना व्यर्थ हो जायेगी ।) ॥ ३५ ॥ आत्मा की जो द्रष्टारूपता है वह भी उपाधि से है । दृश्य की उपलब्धि की अपेक्षा से ही आत्मा द्रष्टा कहा जाता है । (स्वरूपतः तो वह दृङ्मात्र है । विषय के बिना ही अनुभवरूपता उसकी वास्तविक है । विषयसम्बन्ध काल्पनिक है ।) ॥ ३६ ॥ यदि आत्मा में उपाधि के विना स्वतः ही दृष्टिकर्तृत्व हो तो कादाचित्क दर्शनक्रिया से वह बदलने वाला हो जायेगा और जो बदलने वाला होता है वह मिट्टी आदि की तरह कभी आत्मा नहीं हो सकता । एवं च दृष्टिकर्ता मानने पर आत्मा जड हो जायेगा जिसका फल होगा कि कोई ज्ञान उपपन्न न होगा । ज्ञानरूप चेतन के संबंध से ही सब वस्तुएँ ज्ञात होती हैं । चेतन वैसा न रह जाने पर वस्तुओं के ज्ञान की क्या उपपत्ति दी जा सकेगी ? ॥ ३८ ॥ चेतन से रहित जड वस्तु कभी भासती नहीं है । जो वस्तु जड होने से स्वयं ज्ञानप्रकाश वाली नहीं, उसका विना ज्ञानसम्बन्ध के प्रतीत हो जाना असंभव है ॥ ३९ ॥ दृश्य वस्तु चेतन के ज्ञान-प्रकाश से सम्बद्ध होने पर भासती है–यह भी कथन अनुचित ही है क्योंकि चेतन और जड का कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं है । चेतन में अध्यस्त होने से ही जड ज्ञात होता है । अतः दृश्यज्ञानात्मक वृत्तिरूप उपाधि से ही चेतन में दृष्टिकर्तृता आदि भेद आते हैं, स्वयं नहीं । (चेतन में परिणाम व दृश्य से वास्तविक

---

१ तथात्वे चित्त्वप्रसंगादिति भावः ।

चित्प्रकाशात्मसंबन्धादपि चेत्यं न भासते ।
तस्याभावात्ततश्चेत्यप्रतीत्या [1]भिद्यते हि चित् ॥ ४० ॥
चिच्चिदेव सदा विप्रा न दृश्यैव हि केनचित् ।
या दृग् दृश्यत्वहीना सा सर्वदा भासते खलु ॥ ४१ ॥
सा कदाचिन्न भातीति यदि स्यान्मुनिपुंगवाः ।
तर्हि नैव विभातीति विभानं केन सिध्यति ॥ ४२ ॥

अथ चित्संबन्धवशाच्चेत्यप्रतीतिमाशङ्क्य निरस्यति–**चिदिति** । चित्प्रकाशस्य च स्वस्यार्थस्य च विषयविषयिभावादिलक्षणो यः संबन्धस्तस्मादपि चेत्यप्रपञ्चस्यावभासो न युक्तः । तत्र हेतुमाह–**तस्याभावादिति** । तादृशस्य संबन्धस्यैवानिरूपणाद्विषयविषयिभावलक्षणसंबन्धस्य संबन्धान्तरमूलत्वात्तदनङ्गीकारेऽस्य ज्ञानस्यायमेव विषय इति नियमानुपपत्तेरवश्यं मूलभूतः संबन्धो वक्तव्यः । स च संयोगसमवायतादात्म्यादिलक्षणः । तथा च ज्ञानार्थयोस्तादृशः संबन्धो दुर्निरूप इति विषयविषयिभावोऽपि न युक्त इत्यर्थः । एवं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेस्त्वनाद्यनन्ता ब्रह्मस्वरूपभूता स्वप्रकाशा या चित्तस्यामनाद्यविद्यावशाच्चेत्यप्रपञ्चोऽध्यस्तत्तयैव प्रतीयत इत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । ततश्चौपाधिक एव चितो नानात्वावभास इत्याह–**तत इति** । यत एवं ज्ञानार्थयोः परमार्थतः संबन्धाभावस्ततश्चेत्यप्रपञ्चस्य चिद्रूपेऽध्यस्तत्तयैव प्रतीतिर्वक्तव्या । तथाच जलतरङ्गबुद्बुदादिनानाविधोपाधिसंबन्धवशादेकमेव चन्द्रस्वरूपं यथा भिन्नं प्रतीयते तथा स्वात्मन्यध्यस्तनानाविधचेत्योपाधिसंबन्धवशादधिष्ठानभूता चिदपि भिद्यते । अतश्चितो भेदप्रतीतिश्चेत्यघटपटादिभेदनिबन्धनैव न तु पारमार्थिकीत्यर्थः ॥ ४० ॥ नन्वयं घट इत्यादिज्ञानस्यापि ज्ञातो घट इत्याद्यनुव्यवसायज्ञानवेद्यत्वाच्चेत्यप्रपञ्चवदध्यस्तता किं न स्यादित्यत आह–**चिच्चिदेवेति** । चेत्यप्रपञ्चस्याधिष्ठानभूता या चित्सा चिदेव सर्वदा प्रकाशमानैव न तु स्वप्रतिबद्धव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षते । अतः सा केनचिदपि द्रष्ट्रा न दृश्या यतश्चेत्यप्रपञ्चस्येवाध्यस्तत्वमाशङ्क्येतेत्यर्थः । तदेतदुपपादयति–**या दृगिति** । दृग्रूपा या चित्साऽवश्यं दृश्यत्वहीना । दृश्यत्वे हि [2]यावत्स्वगोचरज्ञानं नोदेति तावत्पर्यन्तं न प्रतिभासते तदप्रतिभासेन विषयप्रतीतिरपि न स्यादतः सा सर्वदा ज्ञानान्तरनैरपेक्ष्येण भासत इत्यङ्गीकरणीयम् । तथा सति यतः सर्वदा भासतेऽतो दृश्यत्वहीनेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ननु दृग्रूपस्य ज्ञानस्य चक्षुरादिसंप्रयुक्तघटादिविषयवैशिष्ट्येन भासमानस्याऽऽशुतरविनाशित्वेन क्षणान्तरेऽनवस्थानात्तस्य सर्वदा भासनमसिद्धमित्यत आह–**सेति** । सा दृक्कदाचिद्विषयप्रतीतिदशायां न भातीति यदि स्यात्तर्हि न भातीत्येतदपि केन साधनेन सिध्येत् । न हि चित्प्रकाशमन्तरेण कस्यचित्प्रकाशः संभवति । अतश्चाभावगोचरं[3] स्फुरणं तत्राप्यङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

सम्बन्ध असंभव होना 'अतः' शव्द का अर्थ है ।) ॥ ४० ॥ चित् हमेशा चित् ही है, कभी किसी की दृश्य नहीं वनती । जो दृग्रप चित् दृश्यत्व से सर्वथा रहित है वह सर्वदा भासती ज़रूर रहती है । (अदृश्य चेतन अप्रमाणिक होने से अस्वीकार्य है–ऐसी शंका का यहाँ समाधान है । अदृश्य, अतएव प्रमाण का अविषय होने पर भी चेतन स्वयं प्रकाश होने से स्वीकारना आवश्यक है ।) ॥ ४१ ॥ हे मुनियों ! यदि कभी ऐसा हो कि वह न भासे, तो (उसका) न भासना जाना कैसे जाये ? (चित् नहीं भास रही ऐसा भान होगा, तव तो जो चित् के न भासने के भानरूप से स्फुट है वह चित् भास ही रही है, नहीं भास

१ ग. घ. विद्यते । २ ध. °वत्सत्वज्ञा° । ३ ख. ङ. °भानगो° ।

न भातीति विभानं तु न भातमिति चेन्मतम् ।
तर्हि भानं हि नाभातं तज्ज्ञानं[1] भानमेव हि ॥ ४३ ॥
भानं भानान्तरेणैव न भाति द्विजपुंगवाः ।
भानरूपेण भानं तु सदैकं न हि तद्द्वयम् ॥ ४४ ॥
भातं भानं सदा स्वेन भासा भाति न चान्यतः ।
यत्स्वयं भाति तद्भानं खलु भास्यस्य भासकम् ॥ ४५ ॥

ननु तदानीं न भातीति स्फुरणाभावः प्रतीयते कथं तदा स्फुरणस्य सद्भावो, भावाभावयोर्विरोधादिति शङ्कते–**न भातीति** । घटादिकं वस्तु न भातीत्यज्ञानविषयतयैव ज्ञातं, न तु भातमिति ज्ञानविषयतया । अतस्तस्मिन्समये निषेध्यमानस्य भानस्य कथमवस्थितिरित्यर्थः । परिहरति–**तर्हीति** । न भातीत्यज्ञानविषयतया भातमपि भातमेव न त्वभातम् । तत्र ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणव्युत्पत्त्या सत्त्वपरिणामरूपचक्षुरादिसंप्रयुक्तविषयाकारान्तःकरणवृत्तिर्वृत्तिज्ञानम् । सविषयस्य तस्य साक्षाद्भासकं स्वरूपज्ञानं च वृत्तिज्ञानेनाविषयीकृतमज्ञाततया । अतस्तस्याज्ञातस्य भानमपि भानमेव । ज्ञाताज्ञातयोरुभयोरपि स्फुरणसाक्षिकत्वादित्यर्थः । अत एवोच्यते सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवेति ॥ ४३ ॥ अस्य च साक्षिचैतन्यस्फुरणस्य वृत्तिज्ञानतो विशेषमाह–**भानमिति** । वृत्तिज्ञानं हि जडत्वात्साक्षिचैतन्यरूपेण भानान्तरेणैव भाति । साक्षिरूपं भानं तु नैव भानान्तरेणापि तु स्वयमेव प्रकाशते । प्रकाशमानं हि ज्ञानमर्थस्य भासकं तत्प्रकाशनं च ज्ञानान्तरायत्तं चेत्तत्राप्येवमित्यनवस्था स्यात्ततो ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं न संभवतीत्यर्थः । सति हि ज्ञानान्तरे तद्वेद्यत्वं ज्ञानस्याऽऽशङ्क्येत, तदेव नास्तीत्याह–**भानरूपेणेति** । घटपटादिदृश्यभेदोपाधिना या(यद्) दृग्रूपं ज्ञानं विभिन्नं प्रतीयते तद् दृश्यसंबन्धं परित्यज्य केवलं स्फुरणरूपेण सर्वदैकमेव न तु भिन्नम् । घटपटादिज्ञानेषु स्फुरणमात्रस्याविशेषेण प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यर्थः ॥ ४४ ॥ एवं भानस्यैकत्वेन तद्गोचरं स्फुरणान्तरं नास्ति चेत्कथं तर्हि तस्य प्रतीतिरित्यत आह–**भातमिति** । प्रतीयमानं स्फुरणरूपं साक्षिचैतन्यं स्वेनैव भासा भाति न चान्यस्मात्प्रकाशान्तरात् । श्रूयते हि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति । स्वयंप्रकाशमानस्यैव प्रकाशकत्वं लोके प्रसिद्धमिति दर्शयति–**यत्स्वयमिति** । यत्प्रभादीपादिकं सजातीयप्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण भासते तस्य खलु लोके प्रकाशकत्वं दृष्टम् । अतो ज्ञानं ज्ञानान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानमेव सद्भास्यं विषयं प्रकाशयेत् । तस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽनवस्थाप्रसक्तेः ।[2] ये तु चक्षुरादिवन्निर्लीनमेव विज्ञानं विषये ज्ञाततारूपं फलं जनयतीतिवर्णयन्ति तैरपि विषयस्फुरणरूपा ज्ञातता स्वप्रकाशत्वेनैष्टव्या । तथा सति सैव चक्षुरादिकरणजन्याऽस्तु कृतमन्तर्गडुना ज्ञानेन ॥ ४५ ॥

रही यह कहना ही वदतोव्याघात होगा ।) ॥ ४२ ॥ यदि कहो कि 'चित् नहीं भास रही'–ऐसा भान कभी भास नहीं सकता (अन्यथा पूर्वोक्त दोष होगा, अतः चित् के न भासने को कैसे जाना जाये इत्यादि प्रश्न असंगत है) ? तो यह समझ लो कि (जब वैसा भान भासता नहीं तो अननुभूत व अप्रामाणिक होने से चित् का न भासना असंगत है, चिद् भासती ही है । किंच) 'चिद् नहीं भास रही' यह एक भान ही है । अतः सदा भान का सद्भाव ही है । कभी भी अभान नहीं होता । (तात्पर्य है कि भानमात्र का अभाव न स्वप्रकाश और न प्रमाणसिद्ध है अतः अमान्य है । स्वप्रकाश भान सदा रहता है अतः भान का अभाव बाधित भी है ।) ॥ ४३ ॥ भान किसी अन्य भान से भासित नहीं होता । भानरूप से वह एक ही है । भान विभिन्न

---

१ न भातीति ज्ञानम् । २ मीमांसकान्प्रत्याह–य इत्यादिना । न चैवं 'प्रमाणानां ज्ञातताजनकत्वान्न वैयर्थ्यमि'ति तत्त्वदीपनविरोधः (पृ १०० कल.), तत्र ज्ञाततापदस्य अज्ञाननिवृत्तिपरत्वात् ।

अतः सर्वस्य साक्ष्यस्य साक्षिभूतः स्वयंप्रभः ।
आत्मा साक्ष्यगतैर्धर्मैः कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४६ ॥
दृग्रूपं दृश्यसंबद्धमिति वक्तुं न शक्यते ॥ ४७ ॥
संबन्धस्यापि साक्ष्यत्वात्संबन्धो दृश्यवस्तुगः ।
दृश्यभूतस्य रज्ज्वादेः खलु दृष्टस्तु संगमः ॥ ४८ ॥
असङ्गो ह्ययमित्येवं ब्रवीति च परा श्रुतिः ।
तस्मादात्मा तु चिद्रूपः कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४९ ॥

एवमद्वितीयस्वप्रकाशचिन्मात्ररूपत्वमात्मनः प्रसाध्य सर्वसाक्षितया साक्ष्याननुप्रविष्टस्य प्रतिज्ञातं साक्ष्यगतकर्मसंबन्धाभावं निगमयति–**अत** इति ॥ ४६ ॥ दृग्रूपस्य तस्य पुनरपि कर्मसंबन्धमाशङ्क्य निरस्यति–**दृगिति** । दृश्यसंबन्धापेक्षो हि तथाविधस्याऽऽत्मनो दृग्व्यपदेशः । तथा तत्कर्मापि हि दृश्यमिति तेन सह दृग्रूपस्य संबन्धोऽवश्यं भावीति न शक्यते वक्तुम् । संबन्धिद्वयघटितो हि धर्मः संबन्धस्तस्य च दृग्रूपत्वे दृग्रूपसंबन्धिनाऽनतिरिक्तत्वात्संबन्धत्वमेव हीयते । दृश्यरूपत्वेऽपि दृश्यलक्षणसंबन्धिकोटिनिक्षिप्तत्वात्संबन्धित्वमेव न तु संबन्धरूपतेत्यर्थः । दृश्यस्य च दृशा सह संबन्धाभावः सुप्रसिद्ध इति दर्शयति–**दृश्यभूतस्येति** । यथा रज्ज्वादेर्दृश्यस्य दृशा सह परमार्थतः संबन्धो नास्ति । अध्यस्ततयैव प्रतीतिरिति प्राक्प्रतिपादितत्वात् ॥ ४७–४८ ॥ उक्तेऽर्थे श्रुतिं संवादयति–**असङ्ग** इति । सा च श्रुतिः–'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'असङ्गो न हि सज्जते' इत्यादिका । **तस्मादिति** । [1]दृग्दृश्ययोर्वास्तवसंबन्धाभावादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

तो हैं नहीं जो एक से दूसरा भासित हो । (भानों का भेद औपाधिक है यह पूर्वत्र कह चुके हैं ।) ॥ ४४ ॥ प्रतीयमान भान अर्थात् स्फुरणरूप साक्षीचैतन्य सदा अपने स्वरूपभूत भान से ही भासता है, अन्य किसी (भान या अभान से नहीं) । भास्य का भासक भान होता ही वह है जो स्वयं भासता है । (जो स्वयं न भासे वह अन्य का भासक क्योंकर होगा ? जहाँ भास्य भी भासक दीखता है वहाँ भी भासकता मुख्य भासक में ही है, भास्य तो द्वारमात्र बना है ।) ॥ ४५ ॥ अतः समस्त साक्ष्य वस्तुओं का साक्षी स्वप्रकाश आत्मा है जो साक्ष्य के धर्मभूत कर्मों से कभी संश्लिष्ट नहीं होता ॥ ४६ ॥ दृग्रूप आत्मा दृश्य से सम्बद्ध होता है यह नहीं कह सकते क्योंकि सम्बन्ध भी साक्ष्य होने से दृश्य का ही धर्म हो सकता है दृक् का नहीं । जितना भी संबंध देखा गया है दृश्यों में ही देखा गया है । अतः दृक् आत्मा का सम्बन्ध होना असंभव है ॥ ४७–४८ ॥ किंच श्रुति स्पष्ट कहती है कि यह आत्मा असंग है–सम्बन्ध वाला नहीं । अतः चिद्रूप–ज्ञानरूप–आत्मा कर्मों से बँधता नहीं ॥ ४९ ॥ चेतनरूप आत्मा ब्रह्म है यह श्रुति की घोषणा है और अन्यत्र श्रुति ने यह भी कहा है कि ब्रह्म का कर्म से कोई सम्बन्ध

---

१ घ. दृग्रूपयो" ।

चिद्रूपस्याऽऽत्मनः साक्षाद्ब्रह्मतामाह हि श्रुतिः ।
ब्रह्मणः कर्मसंबन्धाभावं चाऽऽह परा श्रुतिः ॥ ५० ॥
तथा सति कथं सोऽयं कर्मभिर्बध्यते बुधाः ।
तस्मादात्मा स्वमोहेन संसारीव प्रकाशितः ॥ ५१ ॥
वर्णाश्रमवयोवस्थाविशेषानात्मविभ्रमात् । अध्यस्याशेषवेदानां नियोज्यः स्यान्न च स्वतः ॥ ५२ ॥
अज्ञानादन्यथा ज्ञानं मनुष्यत्वादिमानयम् ।
आत्मा तु परमात्माऽपि कर्मभिर्बध्यतेऽवशः ॥ ५३ ॥
कर्मभिर्व्यवहारे तु बद्धोऽपि स्वीयमायया । वस्तुतः परमात्माऽयं खलु तैर्न निबध्यते ॥ ५४ ॥
स्वात्मनः सर्वसाक्षित्वं देहादेर्व्यतिरिक्तताम् ।
ब्रह्मत्वं च श्रुतेर्ज्ञात्वा कर्मभिर्न हि बध्यते ॥ ५५ ॥

एवं प्रत्यगात्मनः साक्षिचिन्मात्ररूपतया कर्मसंवन्धाभावमभिधाय ब्रह्माभिन्नतयाऽपि तत्प्रतिपादयितुं ब्रह्मणः कर्मसंबन्धराहित्यं श्रुतिप्रसिद्धमिति दर्शयति–**ब्रह्मण** इति । श्रूयते हि–'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति ॥ ५० ॥ **सोऽयमिति** । पुण्यपापसंस्पर्शवैधुर्येण श्रुत्या प्रतिपादितो यः परमात्मा स एवायं साक्षिरूपेणावस्थित आत्मेति तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तत्तादात्म्येन प्रतिपादित इत्यर्थः । यद्येवमात्मनः कर्मसंबन्धो नास्ति तर्हि कथं तस्य संसारित्वप्रतीतिरित्यत आह–**तस्मादिति** । **स्वमोहेनेति** । स्वस्याऽऽत्मनः पारमार्थिकाद्वितीयस्वप्रकाश-चिन्मात्ररूपत्वापरिज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ **वर्णाश्रमेति** । स्थूलदेहादितादात्म्याध्यासनिवन्धन एवाऽऽत्मनि ब्राह्मणत्वगृहस्थत्वलक्षणवर्णाश्रमादिसकलविशेषावभासः । **अध्यस्येति** ब्राह्मणत्वाद्यध्यासादित्यर्थः । **अशेषवेदानामिति** । 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत राजा राजसूयेन यजेत' इत्यादीनामित्यर्थः ॥ ५२ ॥ **अज्ञानादन्यथा ज्ञानमिति** । अविद्या हि द्विविधा । विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्चेति । तत्राऽऽवरणशक्त्या नीलपृष्ठत्रिकोणत्वादिवदात्मनो विशेषरूपस्य ब्रह्मात्मत्वस्याऽऽवरणात् । विक्षेपशक्त्या रजतादिवन्मिथ्याभूतस्य मनुष्यत्वादेरुपस्थापनाच्चेत्यर्थः । **अवश** इति । देहादितादात्म्याभिमानवतस्तत्कृतपुण्यपापपारवश्यमेव न तु स्वातन्त्र्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ परमात्मनोऽपि जीवभावापन्नस्योक्तरीत्या कर्मपारवश्यं चेत्कृतमात्मनः परमात्मत्वज्ञानेनेत्यत आह–**कर्मभिरिति** । व्यवहारदशायां स्वात्मनः कर्मसंवन्धं मायामयत्वेन साक्षात्कुर्वतः परमात्मनो वास्तवो बन्धलेशोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥ कथं तर्ह्यज्ञानाज्जीवभावमापन्नस्य तस्य कर्मपारवश्यनिरास इति तत्राऽऽह–**स्वात्मन** इति । प्रत्यगात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वं साक्षिचिन्मात्ररूपत्वमुक्तयुक्तिभिर्निश्चित्य तस्य ब्रह्मरूपत्वमहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुतिमुखाद्गुरूपदेशेन ज्ञात्वेत्यर्थः । परोक्षस्य ब्रह्मात्मज्ञानस्यापरोक्षसंसारभ्रमनिवर्तकत्वाभावेऽपि कर्मबन्धनिवर्तकत्वं प्राक्प्रतिपादितम्–'परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्' इत्यादिना ॥ ५५ ॥

नहीं । तब आत्मा कर्म से क्योंकर बँध सकेगा ? अतः अपने अज्ञान से ही आत्मा संसरण करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ५०–५१ ॥ वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि अनात्मविशेषों को अपना रूप समझकर ही आत्मा स्वयं को सारे वेद का नियोज्य समझता है–यह समझता है कि वेद के अमुक वाक्य द्वारा बताया कार्य मेरा कर्तव्य है । इन अनात्मविशेषों के तादात्म्यके बिना स्वयं अकेला आत्मा कभी नियोज्य नहीं होता–उसका कोई कर्तव्य नहीं होता ॥ ५२ ॥ आत्मा स्वयं परमात्मा होते हुए भी अज्ञानवश अन्यथाज्ञान वाला होकर मनुष्यत्वादि अपने में मानने लगता है, फलतः कर्मों से अपने को बँधा प्रतीत करता है ॥ ५३ ॥ अपने ही अज्ञान से व्यवहारदृष्टि से कर्मों से बँधा होने पर भी वस्तुतः क्योंकि यह परमात्मा है इसलिये निश्चित है कि उनसे नहीं बँधता ॥ ५४ ॥ श्रुतिपूर्वक यह निश्चय कर कि 'देहादि से अतिरिक्त, सबका साक्षी मैं ब्रह्म हूँ,' कर्मबन्धन से आत्मा छूट जाता है–पुनः यह भ्रम नहीं होता कि मैं कर्म से

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविवर्जितम् । ब्रह्मरूपतया पश्यन्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५६ ॥

अतः स्वात्मापरिज्ञानाद्देहेऽहंभावमाश्रितः[1] ।

करोति सर्वशास्त्रोक्तं न ज्ञानी न हि संशयः ॥ ५७ ॥

ईदृशी परमा विद्या शांकरी भवनाशिनी । प्रसादादेव जन्तूनां शक्तेरेव हि जायते ॥ ५८ ॥

[2]वागुद्भूता परा शक्तिर्या चिद्रूपा पराभिधा ।

वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्धशरीरिणीम् ॥ ५९ ॥

इच्छासंज्ञा च या शक्तिः परिपूर्णशिवोदरा । वन्दे ताम दरेणैव ममेष्टफलदायिनीम् ॥ ६० ॥

पश्यन्निति । यस्तूदीरितं ब्रह्मात्मत्वं मननिदिध्यासनाभ्यामसंभावनाविपरीतभावनानिरासेन साक्षात्करोति स तु साक्षात्काररमय एव कारणभूतस्याज्ञानस्य निवृत्तेस्तत्कार्यभूतात्संसारबन्धादपि तदैव मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ एवं ब्रह्मात्मत्वज्ञानवतः कर्मसंबन्धाभावात्कर्मकाण्डविहितमग्निहोत्रादिकं सर्वं देहादितादात्म्याध्यासवतएवेत्युपसंहरति–**अत** इति ॥ ५७ ॥ **शक्तेरेव** **हीति** । एवकारोऽन्ययोगव्यावृत्त्यर्थः । संविद्रूपिण्याः परशक्तेरेव, नान्यस्या देवताया इत्यर्थः । प्रसादे सत्येव परविद्योत्पत्तिर्नासतीत्यर्थः । शक्तिप्रसादाद्ब्रह्मत्वलाभश्च तलवकारोपनिषद्याम्नायते–'तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ब्रह्मेति होवाच' इति ॥ ५८ ॥ अतस्तत्प्रसादहेतुभूतं स्तोत्रमारभते–**वागित्यादिना** । या संविद्रूपिणी परमा शक्तिः सैव शब्दरूपेण विवर्तमाना प्रथमं पराख्याऽऽविर्भूता विन्दुस्फोटनोद्भूतात्सर्वत्रासावनुस्यूतशब्दः[3] प्राणिनामर्थविवक्षाहेतुकप्रयत्नजनितपवनसंबन्धहेतूनां मूलाधारेऽभिव्यक्तो निस्पन्दः परा वागित्युच्यते । उक्तं ह्याचार्यैः–'मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः' इति । तां विशिनष्टि–**श्रीकण्ठेति** । श्रीकण्ठादिन्यासे ह्यकारमूर्तिः श्रीकण्ठः । अकारस्य सर्ववागात्मकत्वम् । 'आकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इत्यादिश्रुतेः । परा वाग्रूपा या शक्तिः सा वैखरीरूपतया सकलफलात्मिकाऽतः सा सर्ववागात्मकत्वसाम्याच्छ्रीकण्ठस्य शक्तिभूतेत्यर्थः ॥ ५९ ॥ **इच्छासंज्ञेति** । सैव परा शक्तिरिष्यमाणसकलजगल्लक्षणशक्त्या विशेषनिरूपिता सतीच्छाशक्तिरित्युच्यते । सा विशेष्यते–**परिपूर्णेति** । परिपूर्णेनाप्यनन्तशिवसत्यज्ञानादिलक्षणेन तेन सहितमुदरं यस्याः सा तथोक्ता । जपाकुसुमरागेण स्फटिकवत्स्वप्रकाशपरशिवचैतन्येन व्याप्तेत्यर्थः । एवं ह्यकारस्य श्रीकण्ठादिन्यासे शक्तिमूर्तिः 'पूर्णोदरी च विरजा तृतीया शाल्मली तथा' इति आचार्यैरुक्तत्वात् । यत इयमिच्छाशक्तिरतः स्तोतुरिष्टं फलं दातुं शक्तेत्यर्थः ॥ ६० ॥

बँधा हूँ ॥ ५५ ॥ सबके साक्षिभूत आत्मा को वर्णाश्रम रहित ब्रह्मरूप समझता आत्मा भवबंध से मुक्त हो जाता है ॥ ५६ ॥ अतः सब शास्त्रों में बताये कर्म वे ही करते हैं जो अपने स्वरूप को जाने बिना देहादि को अपना स्वरूप समझे बैठे हैं । ज्ञानी कुछ नहीं करता इसमें कोई संशय नहीं ॥ ५७ ॥ कल्याण करने वाली, संसार निवृत्त करने वाली ऐसी परा विद्या, शक्ति की कृपा से ही लोगों को होती है ॥ ५८ ॥ परा नामक जो चिद्रूपिणी शक्ति है वही परा वाक् रूप से विवर्तित हुई है । श्रीकण्ठ की अर्धांगिनी

---

१ ख. ग. ङ. °हंमानमा° । २ तत्पदार्थएवेह शक्तिर्न देवतान्तरमिति स्पष्टयितुं स्तौति–वागित्यादिना । ३ घ. °शब्दात्प्राणि° ।

शक्तिर्या परमा साक्षाद्बीजभूताऽखिलस्य च ।
वन्दे तामनिशं भक्त्या नकुलीशशिवान्विताम् ॥ ६१ ॥
ऊर्ध्वरूपाऽप्यधोरूपा तथाऽधस्थाऽपि मध्यगा ।
मध्यरूपाऽपि चान्तःस्था या तां वन्दे वरप्रदाम् ॥ ६२ ॥
विन्यासैर्वर्णसंक्लृप्तैर्विश्वविद्यालयात्मना । विद्योतमाना या वाचि वन्दे तामादरेण तु ॥ ६३ ॥
एकधा च द्विधा चैव तथा षोडशधा स्थिता ।
द्वात्रिंशद्भेदभिन्ना च या तां वन्दे परात्मदाम् ॥ ६४ ॥
अकारादिक्षकारान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलैः । अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदां नुमः ॥ ६५ ॥

बीजभूतेति । ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चा पुनरुत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः साक्षाद्बीजतया परमा चिच्छक्तिस्तामिति संबन्धः **नकुलीशशिवान्वितामिति** । श्रीकण्ठादिन्यासे नकुलीशो नाम हकारमूर्त्याकारात्मनाऽवस्थितेन नकुलीशाख्येन शिवेन सहिता विश्वजननसमर्था बीजात्मिका संविद्रूपिणी शक्तिर्हकारवाच्या प्रकृतिः 'अथ संज्ञा भवेद्व्याप्य विश्वम्' इत्याचार्यैरुक्तत्वात् । अतो हकाररूपेण नकुलीशशिवेन वाच्यवाचकभावेन संबद्धामित्यर्थः ॥ ६१ ॥ **ऊर्ध्वरूपेति** । ऊर्ध्वं कार्यप्रपञ्चस्योपरि प्रध्वंसस्योत्तरकाले वर्तमानं ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चात्मनो रूपं यस्याः सा तथोक्ता । एवमूर्ध्वरूपाऽप्यधोरूपा कार्यप्रपञ्चस्याधस्तादुत्पत्तिकाले वर्तमानं तज्जननसमर्थकारणात्मकं रूपं यस्याः सा तथोक्ता । एवं कारणतया तथाऽधःस्थाऽपि कार्यप्रपंचस्य अधस्थाद् वर्तमानाऽपि सैव **मध्यगा**; प्रपंचस्य प्रागभावप्रध्वंसयोर्मध्यकालेऽपि व्याप्य वर्तमानाया एव चिच्छक्तेः कालत्रयव्याप्तिर्दर्शिता । अन्तस्थेति कालव्याप्त्या मध्यरूपाऽपि कार्यप्रपंचस्य **अन्तस्था** उपादानकारणरूपेण अन्तर्वर्तमाना । यद्वा, स्थावरजङ्गमात्मके स्वसृष्टे जगति स्वात्मकत्वतयाऽन्तरनुप्रविश्य स्थिता । श्रूयते हि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति ॥ ६२ ॥ अत्र चोर्ध्वरूपाया अधोरूपत्वमधोरूपायास्तु मध्यरूपत्वं मध्यमाया अन्तरवस्थानं च प्रतीत्यैतद्विरुद्धं तादृशविरोधाभावं दर्शयति-**विन्यासैरिति** । अकारादिहकारान्तवर्णपरिकल्पितैर्विन्यासैर्गद्यपद्यादिसंस्थानविशेषैः सकलविद्याश्रयतया शब्दे या विद्योतमाना तामित्यर्थः ॥ ६३ ॥ **एकधा चेति** । एकेनैव प्रकारेण ताल्वोष्ठपुटाभिव्यक्तवैखरीवागात्मना प्रथममवस्थिता । पुनः स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विप्रकारं विभज्य स्थिता । पुनश्च षोडशधाऽकारादिविसर्गान्तषोडशस्वररूपेण विभज्य स्थिता । पुनरपि द्वात्रिंशद्भेदभिन्ना काद्याः पञ्चविंशतिर्यादयोऽष्टौ रलयोरभेदाल्लकारो न पृथग्गणनीयः । क्षकारश्च संयुक्ताक्षरतया न पृथग्भूतः । हकारोऽपि मूलप्रकृतिवाचकतया सकलजगन्मूलत्वेनावस्थितो व्यष्टिरूपेण गणनां नार्हति । अत एवोक्तं 'नकुलीशशिवान्विताम्'ति (श्लो. ६१) । अतो यादयः सप्तावशिष्यन्ते । तथा चायमर्थः— ककारादिसकारान्तद्वात्रिंशद्व्यञ्जनात्मना विभज्यावस्थिता । इत्थं मातृकारूपेणावस्थिता या परमा शक्तिस्तामित्यर्थः ॥ ६४ ॥ **अकारादीति** । उक्तभेदेन भिन्नायाः शक्तेरवयवभूता अकारादिक्षकारान्तवर्णास्ते चात्यन्तनिर्मलाः अमृतमयत्वात् । आधारादिषट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्रमण्डलात्सृता अमृतबिन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणताः । उक्तं ह्याचार्यैः । 'मूलाधारात् स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता । सौषुम्नाध्वाचरणनिपुणा सा सवित्राऽनुबद्धा ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत्सार्धसोमात्' ॥ 'शिरसि निपतिता या बिन्दुधारा सुधारा भवति लिपिमयी सा[1] ताभिरङ्गं मुखाद्यम्' ॥ इति । तथाविधैर्निर्मलैर्वर्णैस्तत्संस्थानभेदपदवाक्यात्मनाऽवस्थितैः शब्दैर्या शक्तिर्मातृकात्मिका भाति तामित्यर्थः ॥ ६५ ॥

उस उमा की मैं अहर्निश वन्दना करता हूँ ॥ ५९ ॥ इच्छा नामक जो शक्ति परिपूर्ण शिव से व्याप्त है, मुझे इष्ट फल देने वाली उस माहेश्वरी की मैं भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ ॥ ६० ॥ जो परम शक्ति समस्त जगत् की बीज है, नकुलीश नामक शिव सहित उस शक्ति की मैं प्रेम से वन्दना करता हूँ ॥ ६१ ॥ पहले, पीछे, कार्यकाल में और कार्य में उपादान रूप से स्थित वरदायिनी परदेवता की मैं वंदना करता हूँ ॥ ६२ ॥ वर्णघटित गद्य आदि आकारों में जो समस्त विद्याओं की आश्रय बनी शब्द रूप से प्रकाशित होती है उसकी मैं आदरपूर्वक वंदना करता हूँ ॥ ६३ ॥ जो एक वैखरी रूप से स्थित है,

---

१ ज. "सा नाभि" ।

लक्ष्मीवागादिरूपेण नर्तकीव विभाति या । तामाद्यन्तविनिर्मुक्तामहं वन्दे वराननाम् ॥ ६६ ॥

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च यस्या एव समुद्गताः ।
यस्यामेव विलीयन्ते तस्यै नित्यं नमो नमः ॥ ६७ ॥

महदादिविशेषान्तं जगद्यस्याः समुद्गतम् । यस्यामेव लयं याति वन्दे तामम्बिकामहम् ॥ ६८ ॥

गुरुमूर्तिधरां गुह्यां गुह्यविज्ञानदायिनीम् । गुह्यभक्तजनप्रीतां गुहायां निहितां नुमः ॥ ६९ ॥

य इदं पठते स्तोत्रं सन्ध्ययोरुभयोरपि । सर्वविद्यालयो भूत्वा स याति परमां गतिम् ॥ ७० ॥

इति जनहितमेतत् प्रोच्य देव्याः प्रसादाद् गुरुगुरुमखिलेशं भक्तिपूर्वं प्रणम्य ।
मुनिगणमवलोक्य स्वानुभूत्यैव सूतः स्वकपरशिवरूपे लीनबुद्धिर्बभूव ॥ ७१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽवशिष्टपापस्वरूपकथनं नाम सप्तचत्त्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

नर्तकीवेति । यथा नर्तकी स्वयमेकैव सत्याहार्यनानाविधरूपेण नानाविधा भात्येवमेकैव परा शक्तिः परिकल्पितभेदाल्लक्ष्मीवागादिनानाशक्त्यात्मना भातीत्यर्थः । **आद्यन्तविनिर्मुक्तामिति** । आदिरुत्पत्तिरन्तो विनाशस्तदुभयनिर्मुक्तां सर्वदा वर्तमानामित्यर्थः ॥ ६६ ॥ **ब्रह्माद्या** इति । ब्रह्मादिस्तम्बान्तो यो भोक्तृप्रपञ्चस्तस्य सर्वस्योत्पत्तिस्थितिलया यस्याः स्वरूपे परिकल्प्यन्ते तस्या इत्यर्थः । श्रूयते हि–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति ॥ ६७ ॥ न केवलमेव भोक्तृप्रपञ्चस्याधिष्ठानं भोग्यप्रपञ्चपरिकल्पनस्यापि सैवाधिष्ठानमित्याह–**महदादीति** । मूलप्रकृतेरत्यन्तनिर्विकल्पकतया चिच्छक्तितादात्म्येन क्षीरनीरवदविभागापन्नत्वान्महत्तत्त्वस्य च प्रथमकार्यत्वात्तदेवाऽऽदित्वेनोपादीयते । महदहंकारादिघटपटादिविशेषान्तं भोग्यरूपं जगदस्याः परशक्तेः समुद्गतं समुद्भूयावस्थितमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ **गुरुमूर्तिधरामिति** । शमदमादिसाधनसम्पन्नविरक्तजनाननुग्रहीतुं गुरुमूर्तिरूपेणावस्थिताम् । गुह्यां रहस्यां दुरधिगमामित्यर्थः । गुह्यं रहस्यम् द्वितीयब्रह्मात्मैकत्वविषयं वेदान्तश्रवणमननादिसाधनजनितं यत्सम्यग्ज्ञानं तद्दातुं शीलमस्याः सा तथोक्ता । **गुहायां निहितामिति** । देहमध्येऽवस्थितहृदयकमलमध्यं गुहा, तस्यां निहिताम्, तत्र विशेषतोऽभिव्यक्तामित्यर्थः । श्रूयते हि 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इति ॥ ६९–७१ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽवशिष्टपापस्वरूपकथनं नाम सप्तचत्त्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

स्वर और व्यंजन–यों दो तरह से स्थित है, अ-आ इत्यादि सोलह प्रकारों से स्थित है तथा क से स तक बत्तीस तरह से स्थित है, उस परात्मबोधिका शिवा की मैं वन्दना करता हूँ । (बत्तीस की गिनती समझने के लिये लकार को अलग से नहीं गिनना चाहिये । ज्ञ को लेकर संख्या पूरी होती है ।) ॥ ६४ ॥ अ से क्ष तक के अत्यंत निर्मल वर्णों के रूप में व सब शब्दों के रूप में जो प्रतीत होती है उस आनन्दप्रद शांभवी को हम प्रणाम करते हैं ॥ ६५ ॥ जो नर्तकी की तरह एक रहती हुई लक्ष्मी, सरस्वती आदि नाना प्रतीत होती है उस आद्यन्तरहित स्मितमुखी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६६ ॥ ब्रह्मा से स्थावर पर्यंत जो कुछ है वह जिससे ही निकला है और जिसमें ही विलीन होता है उसे सदा प्रणाम है ॥ ६७ ॥ उस अम्बिका की वंदना करता हूँ जिससे महान् आदि सारा जड प्रपंच निकला है और जिसमें ही विलीन होता है ॥ ६८ ॥ गुरुमूर्ति धारण करने वाली, गोपनीय, रहस्यभूत विज्ञान का उपदेश देने वाली, गुप्त भक्तजनों पर प्रसन्न होने वाली, हृदय-गुहा में स्थित महादेवी को नमस्कार करते हैं । (ख्याति, लाभ आदि के लिये स्वयं या प्रेरणा द्वारा प्रयास न करने वाले गुप्त भक्त कहे जाते हैं । 'अव्यक्ताचाराः' इत्यादि श्रुतियाँ इस विषय में समझनी चाहिये ।) ॥ ६९ ॥ जो व्यक्ति प्रातः-सायम् इस स्तोत्र का पाठ करता है वह सब विद्याओं की निधि बन जाता है और परम गति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ देवी की कृपा से जनहित की इन सब बातों को बताकर, परमगुरु अखिलेश्वर शंकर को प्रणाम कर, मुनिगणों पर कृपादृष्टि डाल श्री सूत जी ने अपनी अनुभूतिरूप से स्थित अपने परमशिवस्वरूप में अपनी बुद्धि लीन कर ली । (अर्थात् उनकी बुद्धि सर्वथा अचंचल हो गयी, वे समाधिस्थ हो गये) ॥ ७१ ॥

समाप्तोऽयं पूर्वो भागः

---

१ ज. "सा नाभि" ।